प्रथम खण्ड

श्रीभिक्षुमहाकाव्यम्

(१ से १० सर्ग)

काव्यकार

शासनस्तम्भ मुनि नत्थमल

अनुवादक

मुनि नगराज

सम्पादक

मुनि दुलहराज

प्रथम खण्ड

श्रीभिक्षु महाकाव्यम्

(१ से १० सर्ग)

काव्यकार

शासनस्तम्भ मुनि नत्थमल

अनुवादक

मुनि नगराज (सरदारशहर)

सम्पादक

मुनि दुलहराज

प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनूं

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

आर्थिक सौजन्य : श्री फतहचैन भंसाली
श्रीमती झमकूदेवी मेमोरियल ट्रस्ट,
सुजानगढ़-कलकत्ता
सी. आर. बी. कैपिटल मार्केट्स लि०,
३१ मर्जबान रोड, बम्बई के सौजन्य से ।

प्रथम संस्करण : १९९७

मूल्य : ६०/- (साठ रुपये)

मुद्रक : मित्र परिषद् कलकत्ता के आर्थिक सौजन्य से स्थापित
जैन विश्व भारती प्रेस लाडनूं (राज०)

आशीर्वचन

'श्रीभिक्षुमहाकाव्य' काव्य की सारी विधाओं से सम्पन्न महाकाव्य है। वस्तुतः महाकाव्य है। बीसवीं शताब्दी, संस्कृत भाषा और इतना गंभीर काव्य! एक सुखद आश्चर्य है। मध्ययुग में संस्कृत के उत्कृष्ट काव्यों की रचना हुई। उन्हें आश्चर्य के साथ नहीं देखा जा सकता। उस समय संस्कृत भाषा का महत्त्व था, वातावरण था और सम्मान के स्वर मुखर थे। आज बीसवीं शताब्दी में संस्कृत उपेक्षित है। उसका वातावरण भी नहीं है। गंभीर अध्येताओं की भारी कमी है। इस स्थिति में इस प्रकार के प्रौढ़ काव्य की रचना सचमुच आश्चयपूर्ण घटना है। इस आश्चर्य की पृष्ठभूमि में एक महान् प्रेरणास्रोत हैं—पूज्य कालूगणी, जिन्होंने मृत कही जाने वाली भाषा की पुनः प्राण-प्रतिष्ठा की। तेरापंथ धर्मसंघ में उसे नवजीवन प्रदान किया। प्रेरणा का दूसरा स्रोत हैं—गुरुदेव श्री तुलसी का कर्तृत्व। आपने पूज्य कालूगणी की परंपरा को आगे बढ़ाया, तेरापंथ धर्मसंघ में प्राकृत और संस्कृत की नीहारिका की नक्षत्र-माला को सदा गतिशील बनाए रखा। उन नक्षत्रों की विशाल पंक्ति में शासनस्तंभ मुनि नत्थमलजी स्वामी (बागोर) एक उज्ज्वल नक्षत्र के रूप में गतिशील रहे हैं। उन्होंने संस्कृत भाषा में अनेक रचनाएं की हैं। उन सब रचनाओं में 'श्रीभिक्षुमहाकाव्य' एक विशिष्ट रचना है। शब्द-विचार, अर्थ-गांभीर्य, उपमा, अलंकार आदि सभी लाक्षणिक विधाओं से सम्पन्न है यह महाकाव्य।

प्रस्तुत महाकाव्य की रचना में मुनि डूंगरमलजी स्वामी, मुनि सोहनलालजी, मुनि चंपालालजी, मुनि नगराजजी आदि संतों की भावना का विशिष्ट योग रहा है। यह महाकाव्य बहुत समय से अनुवाद की प्रतीक्षा में झूल रहा था। मुनि दुलहराजजी ने साहस किया और इस गुरुतर कार्य को अपने हाथ में लिया। काव्य की गंभीरता को देखते हुए कार्य जटिल था फिर भी निष्ठा के साथ उन्होंने इसे सम्पन्न किया है। अब यह कार्य विद्वद् जगत् के सामने आ रहा है। विश्वास है, पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी के शासन-काल में अनेक संस्कृत ग्रन्थों की रचना हुई है, उनमें यह महाकाव्य विशिष्ट स्थान बनाएगा। इससे आचार्य भिक्षु के जीवन-दर्शन को काव्य की भाषा में समझने का अवसर मिलेगा।

आचार्य महाप्रज्ञ

१३ अप्रैल, ९७
कालू

पुरोवाक्

विक्रम संवत् २०१४। आचार्य तुलसी ने मुनिश्री नत्थमलजी (बागोर) से कहा—'वि. सं. २०१७ में 'तेरापंथ द्विशताब्दी' का प्रसंग सामने है। आप उस अवसर पर आचार्य भिक्षु के जीवन-दर्शन पर संस्कृत भाषा में एक महाकाव्य की रचना करें। यह आपकी उनके प्रति अपूर्व श्रद्धांजलि होगी।'

उन्हीं दिनों डूंगर कालेज (बीकानेर) के संस्कृत विभागाध्यक्ष डा. विद्याधर शास्त्री ने मुनिश्री के दर्शन किए। उन्हें मुनिश्री द्वारा रचित 'अन्यापदेश' ग्रन्थ के कुछ श्लोक दिखाये। शिखरिणी छंद में निबद्ध ग्रंथ की पेन्सिल से लिखी गई प्रारंभिक प्रति में कहीं काट-छांट न देखकर विस्मित होते हुए उन्होंने मुनिश्री से कहा—'महाराज ! आप सरस्वती पुत्र हैं। आप पर सरस्वती का वरदहस्त है। अन्यथा इतने बडे छंद की रचना में कहीं काट-छांट न होना असंभव है। आप किसी महाकाव्य की रचना करें।'

हम सहगामी संतों ने भी आपसे महाकाव्य के निर्माण की प्रार्थना की।

आचार्य प्रवर की प्रेरणा, विद्याधर शास्त्री का अनुरोध और संतों की विनम्र प्रार्थना—ये तीनों इस महाकाव्य की निर्मिति के निमित्त बने।

वि. सं. २०१५ के मृगशिर में काव्यरचना प्रारम्भ हुई और वैशाख मास में कार्य संपन्न हो गया। उस समय आप बीकानेर के निकटवर्ती 'उदासर' गांव में थे। प्रतिदिन प्रातः ८ बजे से १२ बजे तक आप काव्य-रचना करते और शेष समय स्वाध्याय में बिताते। छह महीनों के अन्तराल में काव्य की परिसम्पन्नता पर आचार्यश्री ने पूछा—'आप प्रतिदिन कितने श्लोक बना लेते थे ?' मुनिश्री ने कहा—'कभी ५०-६० और कभी ५-६।' महाकाव्य पूरा हुआ। संशोधन, परिवर्धन, परिवर्तन चलता रहा। अन्त में आचार्यप्रवर के निर्देश पर दृष्टान्तों के एक सर्ग की रचना कर विक्रमाब्द २०१७ तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के मर्यादा महोत्सव के अवसर पर आमेट नगर में मुनिश्री ने इसे गुरुदेव के श्रीचरणों में समर्पित कर दिया।

श्रीभिक्षुमहाकाव्य के निर्माण की यह लघु कहानी है। महाकाव्य की महानदी का विषम यात्रापथ बहुत दीर्घ है, परंतु इसका कालपथ अत्यन्त ह्रस्व है। यह मुनिश्री के कर्तृत्व का अनुपम उदाहरण है।

इस महाकाव्य में अठारह सर्ग हैं। सभी सर्ग विभिन्न छंदों में निबद्ध हैं। आचार्य भिक्षु की अथ-इति का विवरण देने वाले इस काव्यग्रंथ में लगभग २६०० श्लोक हैं। उनमें प्रकृति-वर्णन, अरावली पर्वतमाला का विस्तृत

विवेचन, मेवाड़ के राणाओं का परिचय, उस समय की सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का आकलन बहुत ही सजीव रूप से हुआ है। आचार्य भिक्षु इस काव्य के मुख्य पात्र हैं। उनका बाल्यकाल, बालक के शरीर के अंग-उपांगों के आधार पर उनके भविष्य के जीवन का रेखाचित्र, यौवन, परिणय, पत्नी-वियोग, आचार्य रघुनाथजी के पास भागवती दीक्षा-ग्रहण आदि-आदि का विवरण प्राप्त है। तेरापंथ धर्मसंघ का सूत्रपात, तेरापंथ की सैद्धांतिक और पारम्परिक मान्यताएं आदि से संबंधित श्लोक बहुत ही सटीक हैं और वे सजीव चित्र प्रस्तुत करते हैं। विभिन्न अलंकारों, सूक्तियों तथा उपमाओं से संकुल यह महाकाव्य विद्यार्थी के भाषाई दृष्टिकोण को परिष्कृत और सुसंस्कृत बनाता है तथा इसमें प्रयुक्त नवीन शब्द-प्रयोग और व्याकरण विमर्श भी ज्ञानवृद्धि में सहायक बनते हैं।

एक बार महाकाव्य को देखकर आशुकवि आयुर्वेदाचार्य पंडित रघुनन्दनजी ने आचार्य तुलसी से कहा—'महाराज! इस काव्य का प्रणयन अत्यन्त प्रशस्त, श्रुतिमधुर तथा आनन्ददायी है। मुझे प्रसन्नता इस बात की है कि मेरे पास अध्ययनरत एक मेधावी मुनि ने इसका निर्माण किया है। यदि आप मुझे ऐसे महाकाव्य के निर्माण की आज्ञा देते तो मैं भी ऐसा ललित शब्दावलि में गुंफित महाकाव्य बना पाता या नहीं, यह सन्देहास्पद है।'

मेवाड़ प्रदेश की सुरम्य स्थली में बागोर गांव है। पुरातत्त्वविदों ने इस गांव के परिपार्श्ववर्ती थडों की खुदाई में मिले अवशेषों के आधार पर इसे पांच हजार वर्ष से भी अधिक प्राचीन माना है। गांव के संलग्न ही किलोलें भरती 'कोठारी' नदी, चारों ओर लहलहाते खेत, आम और इमली के खड़े सैकड़ों-सैकड़ों पुरातन वृक्ष, दो-तीन किलोमीटर पर स्थित छोटी-बडी पहाडियां, यत्र-तत्र अभ्रक की खदानें और प्रदूषण मुक्त वायुमण्डल आदि बागोर की प्राकृतिक सुषमा को शतगुणित बना देते हैं। उस बागोर का अपना इतिहास है। बागोर के शासक तथा उदयपुर के महाराणा—दोनों एक ही वंश के वंशज हैं। जब कभी उदयपुर के महाराणा को गोद लेने की आवश्यकता होती तब बागोर के राजकुमार को राजगद्दी पर अभिषिक्त किया जाता था।

इसी गांव में काव्यकार मुनि नत्थमलजी का जन्म वि. सं. १९५९ वैशाख शुक्ला त्रयोदशी के दिन हुआ। आपके पिताश्री का नाम हमीरमलजी और मातुश्री का नाम 'चाही' देवी था। ये गोत्र से ओसवंशीय चपलोत थे। जब आपकी आयु ग्यारह वर्ष की थी, तब कुछेक पारिवारिक लोग अकाल-मृत्यु से दिवंगत हो गए। इस हृदयद्रावक घटना ने बालक नत्थमल के दिल-दिमाग को झकझोर डाला। उसे संसार की यथार्थता का अवबोध हुआ और

बालक के कोमल हृदय में वैराग्य का बीज-वपन हो गया। उस समय तेरापंथ धर्मसंघ के मुनिश्री छबीलजी स्वामी का संपर्क हुआ, वैराग्य के बीजों को सिंचन मिल गया। जब तेरापंथ के अष्टमाचार्य कालूगणी वहां समवसृत हुए तब वे बीज अंकुरित हो गए और बालक नत्थमल ने तेरह वर्ष की लघु अवस्था में पाली नगर में प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। बालक की बुद्धि तीव्र थी, समझने की क्षमता थी। बालमुनि ने कुछ ही वर्षों में व्याकरण, न्याय, साहित्य आदि का गंभीर अध्ययन कर लिया। अवस्था के साथ-साथ अध्ययन का क्रम भी बढता गया। आपने जैनागमों की टीकाओं का पारायण किया और सैद्धांतिक निष्णातता प्राप्त कर ली। प्रारम्भ से ही आप कविहृदय थे। राजस्थानी अथवा संस्कृत में काव्य-रचना करने में आपकी अनिरुद्ध गति थी। संस्कृत भाषा के प्रति अत्यधिक रति होने के कारण आपका संस्कृत ज्ञान वृद्धिगत होता गया और शनैः शनैः आप उसमें निष्णात हो गए। आपकी अनेक संस्कृत रचनाएं हैं, जिनके अध्ययन से आपके भावगांभीर्य, शब्दलालित्य तथा वर्णन कौशल का सहज आभास हो जाता है।

मुनिश्री की प्रमुख संस्कृत रचनाएं ये हैं—

कृति-विवरण	**रचनास्थल**	**रचनाकाल विक्रम संवत्**
१. **श्रीकालूकल्याणमन्दिरम्**	आडसर	१९९० दीपावली
२. **श्रीकालूकल्याणमन्दिरम्** दोनों में आचार्य सिद्धसेन कृत कल्याण-मन्दिरम् स्तोत्र की पादपूर्ति के रूप में श्रीमद् कालूगणी का गुणोत्कीर्तन।	तालछापर	१९९० मृगशिर
३. **शान्तसुधारस वृत्ति** उपाध्याय श्रीविनयविजयजी द्वारा रचित शान्तसुधारस ग्रंथ की सुबोधिनी टीका। ग्रंथाग्र—१४०० श्लोक प्रमाण।	गोगुन्दा	१९९४
४. **युक्तिवाद** अहिंसा का सूक्ष्म एवं युक्तिपूर्ण विवेचन। ग्रन्थप्रमाण ५०० श्लोक।	बलून्दा	१९९८
५. **अन्यापदेश** छायावादी पद्धति से चन्द्रमा, फूल, नवनीत आदि को संबोधित कर मानव मात्र को दी गई शिक्षाएं। शिखरिणी छन्द में १०८ श्लोक।	बलून्दा	२०१०

कृति विवरण	रचनास्थल	रचनाकाल विक्रम संवत्
६. व्याख्यान पञ्चकम्	सरदारगढ	२०२०
प्राचीन जैन आख्यानक । श्लोक ११५४ ।		
७. अर्हत् स्तुतिस्तबकम्	बलून्दा	१९९८
० चतुर्विशतिस्तवनम्		
० जिनेन्द्रस्तोत्रम्		
० जिनस्तुतिः		
[शिखरिणी छन्द में ७७ श्लोक]		
८. विवेकमहोदधिः	खींवाडा	२०२२
जीवनोपयोगी शिक्षाएं ।		
[द्रुयविलंबित छन्द में ४१ श्लोक]		
९. गुरुगुणोत्कीर्तनम्		
१०. विविधम्		
० सत्संगमाहात्म्यम् ० सरस्वतीसाहित्यसंवाद		
० समयवैचित्र्यम् ० ध्यानाष्टकम्		
० योगाष्टकम् ० साधकनवकम्		
० दीक्षामहोत्सवाष्टकम् ० तेरापन्थस्तोत्रम्		
० मर्यादास्वरूपनिदर्शनम् ० तुलसीव्याख्यानामृतम्		
० पट्टोत्सवसप्तकम् ० पादपूर्तिश्लोकाः		

काव्यकार मुनि नत्थमलजी ने भारत के अनेक प्रदेशों की पद-यात्राएं कीं । सामान्य जन-जीवन को उन्नत करने का उपक्रम किया और सर्वत्र यशः प्राप्त किया । आप वाद-कला में भी निपुण थे । आपका जैन तत्त्वज्ञान प्रौढ और तलस्पर्शी था । आप जैन आगमों का बार-बार पारायण करते रहते थे ।

आपने अपना अंतिम जीवन सुजानगढ में बिताया । आपके साथ छाया की भांति रहने वाले हम दो मुनि थे—मुनि सोहनलाल (खाटू) और मैं मुनि नगराज (सरदारशहर) । आपने हम दोनों को सुसंस्कृत किया, शिक्षा-दीक्षा दी और हमें संस्कृत भाषा लिखने-बोलने में सक्षम बनाया । इस महाकाव्य की प्रतिलिपि मुनि सोहनलालजी ने सुघड लिपि में की और मैंने उनके सहयोग से संपूर्ण महाकाव्य का हिन्दी भाषा में अनुवाद कर दिया । मैंने संपूर्ण अनुवाद काव्यकार मुनिश्री को सुनाया, यत्र-तत्र संशोधन किया और उसकी प्रतिलिपि तैयार कर ली ।

मैं आज अपने सहयात्री, सहयोगी स्वर्गीय मुनिश्री सोहनलालजी की स्मृति करता हूं । यह औपचारिक स्मृति है । उन्हें भुलाया नहीं जा सकता ।

बचपन से ही मैं शासनस्तंभ मुनिश्री नत्थमलजी के साथ रहा। उन्हीं के साथ थे मुनि सोहनलालजी। दोनों का मुझे संरक्षण, संवर्धन और संपोषण मिला। वे काव्य के अथ-इति से जुड़े रहे। काव्य की लिपि तथा कुछ सर्गों का अनुवाद कर उन्होंने मुझे उपकृत किया। आज मैं उनके प्रति हृदय की समस्त भावनाओं से श्रद्धानत हूं। काश ! आज वे होते !!

मुनि दुलहराजजी प्रारम्भ से ही मुनिश्री नत्थमलजी के प्रति श्रद्धा-सिक्त रहे हैं। मुनिश्री के मन में इनके प्रति समादर भाव था, वात्सल्य था और जब कभी ये मिलते तब मुनिश्री इनके विनीत व्यवहार से बहुत प्रसन्न होते। मुनि दुलहराजजी ने महाकाव्य के संपादन का कार्य हाथ में लिया और मुझे प्रसन्नता है कि उस महाकाव्य के दस सर्ग पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत हो रहे हैं। यह प्रथम खंड है। मुझे ज्ञात है कि उन्हें इस संपादन और अनुवाद में यत्र-तत्र परिवर्तन, परिवर्द्धन करने में कितना क्या आयास करना पड़ा। अनेक बाधाओं के बावजूद भी इन्होंने अपने व्यस्त कार्यक्रम को एक बार विराम देकर इस कार्य को प्राथमिकता दी, मैं इस उपक्रम के लिए इनको शत-शत साधुवाद देता हूं, आभार प्रदर्शित करता हूं। मूल काव्यकार के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर इन्होंने मुनिश्री के प्रति अपनी श्रद्धा को अभिव्यक्त किया है। काव्य के अनुवाद को संवारने-सजाने तथा उसे जनभोग्य बनाने का सारा श्रेय इन्हीं को है।

मैं गणाधिपति तुलसी तथा आचार्य महाप्रज्ञ के प्रति अपनी शत-शत वंदना प्रेषित करता हूं और यह कामना करता हूं कि उनकी छत्रछाया में मैं अपनी संयम-यात्रा का निर्बाधरूप से वहन करता रहूं, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की अभिवृद्धि करता रहूं।

स्वर्गीय मुनिश्री डूंगरमलजी तथा साथी मुनिश्री चंपालालजी के प्रति मैं अत्यन्त कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं, जिन्होंने पग-पग पर प्रोत्साहित कर मुझे आगे बढ़ाया है।

अंत में धर्मसंघ के सभी सदस्यों के प्रति मंगलभावना के साथ मैं इस 'पुरोवाक्' को विराम देता हूं।

छापर, सेवाकेन्द्र
१-४-९७

मुनि नगराज (सरदारशहर)

संपादकीय

आचार्य भिक्षु तेरापंथ के अधिष्ठाता थे। वे वि. सं. १८०८ में स्थानकवासी संप्रदाय के आचार्य रघुनाथजी के पास दीक्षित हुए। सैद्धांतिक मतभेद के कारण वे उनसे पृथक् होकर वि. सं. १८१८ में केलवा (मेवाड) में नई दीक्षा ग्रहण की। वे शुद्ध चारित्र-पालन की इच्छा से प्रेरित थे। उनका एकमात्र लक्ष्य था अर्हत् वाणी के आधार पर साधना करना। वे साधना करने लगे। उन्होंने आतापना और तपस्या से अपने आपको भावित किया। उनके चारों ओर अनुयायियों का घेरा जमने लगा। उनके द्वारा अनुसृत मार्ग का नामकरण 'तेरापंथ' हो गया। उनका उद्देश्य नए पंथ की स्थापना करना नहीं था। परन्तु जब नामकरण हो ही गया तब उन्होंने उसे सहजता से स्वीकार कर लिया।

वे तेरापंथ के प्रथम आचार्य थे। उन्होंने जैन आगम ग्रंथों का मंथन किया। सारभूत तथ्यों के आधार पर तेरापंथ दर्शन को विकसित किया, अनेक गंभीर ग्रंथों का प्रणयन कर जैन दर्शन के विशुद्ध रूप को अभिव्यक्ति दी। उन्होंने लगभग ३६ हजार ग्रंथाग्र परिमाण के राजस्थानी भाषा में गद्य-पद्य लिखे। संघर्षमय जीवन के ७२ वर्ष पूरे कर वे सिरियारी में दिवंगत हुए। आज उनका धर्म-परिवार शतशाखी की भांति विस्तृत होकर गतिशील है। काव्यकार उन्हीं की परम्परा के एक मुनि हैं। उन्होंने उनके जीवन-दर्शन को संस्कृत काव्य में निबद्ध कर अपने शिष्यत्व को कृतार्थ किया है। इस महाकाव्य के निर्माण की प्रेरणा आचार्य तुलसी ने दी। इसे शिरोधार्य कर संस्कृत भाषा में निष्णात मुनि नत्थमलजी ने विभिन्न छन्दों में काव्य-रचना कर इस महाकाव्य को तेरापंथ संघ को समर्पित कर दिया। आचार्य भिक्षु के जीवन और तेरापंथ दर्शन पर लिखा गया यह पहला महाकाव्य है।

वि. सं. २०४६ योगक्षेम वर्ष का विराट् आयोजन। सैकड़ों साधु-साध्वियों का जैन विश्व भारती, लाडनूं में एकत्र अवस्थान। गणाधिपति तुलसी तथा आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा वर्षभर निरन्तर प्रशिक्षण का उपक्रम।

उस समय 'श्रीभिक्षुमहाकाव्यम्' के संपादन की योजना बनी और मुझे निर्देश प्राप्त हुआ कि मैं इस कार्य में संलग्न हो जाऊं। पूरे महाकाव्य का अनुवाद स्वर्गस्थ मुनिश्री सोहनलालजी (खाटू) तथा मुनि नगराजजी (सरदारशहर) ने कर लिया था। पाली चातुर्मास में मैंने उसे पुनः देखना

प्रारम्भ किया और चार सर्गों तक उसका पुनरावलोकन कर दिया। फिर अन्यान्य कार्यों में व्यस्त रहने के कारण मैं इस कार्य को कर न सका। इस वर्ष जब अन्यान्य कार्य सम्पन्न हुए तब लाडनूं चातुर्मास में यह कार्य चालू हुआ। अनुवाद में यत्र-तत्र परिवर्तन-परिवर्धन किया।

इस महाकाव्य के १८ सर्ग हैं और लगभग २६०० श्लोक हैं। हमने इसको दो भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग में प्रथम दस सर्ग तथा द्वितीय भाग में शेष आठ सर्ग समाहित होंगे। प्रथम भाग में कोई परिशिष्ट नहीं रहेगा। जो परिशिष्ट देने हैं वे सारे द्वितीय भाग में देने का निर्णय किया है।

महाकाव्य के १८ सर्गों का श्लोक-परिमाण तथा छंद-विवरण इस प्रकार है—

सर्ग-संख्या	श्लोक-परिमाण	छन्द
१.	१२५	वसन्ततिलका
२.	१४६	उपजाति
३.	१२६	उपेन्द्रवज्रा
४.	१२६	इन्द्रवज्रा
५.	१६३	वसन्ततिलका
६.	१३४	तोटक
७.	१०९	पज्झटिका
८.	८१	वंशस्थ
९.	१९८	मन्दाक्रान्ता
१०.	६०	शार्दूलविक्रीडित
११.	१५५	उपजाति
१२.	५२	भुजंगप्रयात
१३.	१०८	द्रुतविलंबित
१४.	७१	शिखरिणी
१५.	२१५	शार्दूलविक्रीडित
१६.	४५९	अनुष्टुभ्
१७.	२०९	उपजाति
१८.	५१	दोधक

महाकाव्य के लेखक शासनस्तंभ मुनिश्री नत्थमलजी बागोर (मेवाड) गांव के निवासी थे। उनका संस्कृत भाषा का ज्ञान अनुपम था। आज वे विद्यमान नहीं हैं। मुझे उनकी कृति का संपादन कर परम हर्ष का अनुभव होता है और यही मेरे द्वारा उनको दी गई भावाञ्जलि है।

इस संपादन कार्य में मुझे मुनि राजेन्द्रकुमारजी तथा पंडित विश्वनाथजी का सहयोग मिला, इसके लिए मैं उनको हार्दिक धन्यवाद देता हूं।

१ अप्रैल, १९९७

मुनि दुलहराज

प्रकाशकीय

"श्रीभिक्षुमहाकाव्यम्" एक ऐसे कालजयी प्रज्ञापुरुष का जीवन दर्शन है जो सत्य के लिए जीया और सत्य की साधना करते-करते मरकर अमर बन गया। तेरापंथ धर्मसंघ के आद्य प्रणेता आचार्य भिक्षु इस महाकाव्य के मुख्य नायक हैं। इसमें उनका सम्पूर्ण जीवनवृत्त, सिद्धांत, मर्यादा, अनुशासना, आचार-संहिता, एकतंत्र में लोकतंत्र की प्रतिष्ठापना तथा वीतरागता की ओर प्रस्थित मुमुक्षु आत्माओं का प्रेरणा पाथेय हिन्दी अनुवाद सहित संस्कृत भाषा में गुंफित है। यह महाकाव्य उनके कर्त्तव्य पथ की कीर्तिगाथा है।

शासन स्तम्भ मुनि नत्थमलजी (बागोर) द्वारा रचित इस महाकाव्य को प्रकाशित करने का सुअवसर पाकर जैन विश्व भारती प्रसन्नता का अनुभव कर रही है। इस महाकाव्य के अठारह सर्ग हैं। प्रथम दस सर्गों से समन्वित यह प्रथम खंड पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। शीघ्र ही दूसरा भाग प्रकाशित होकर आप तक पहुंचेगा। आशा है श्रद्धा और निष्ठा के केन्द्र आचार्य भिक्षु का यह जीवनवृत्त तथा दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण सुधी पाठकों के लिए स्वाध्याय के साथ आत्मविकास का प्रेरक बनेगा।

महावीर जयन्ती, १९९७

हनुमानमल चिण्डालिया
मंत्री
जैन विश्व भारती, लाडनूं

विषयसूची

पहला सर्ग

१-१०	मंगलाचरण।
११-२५	काव्यकार का आत्म-निवेदन।
२६-२७	मरुधर देश और जोधपुर का वर्णन।
२८	जोधपुरनरेश।
२९-३०	कंटालिया ग्राम।
३१-३२	भिक्षु के माता-पिता।
३३-३६	माता दीपां द्वारा स्वप्न-दर्शन, गर्भधारण और गर्भ-सुरक्षा।
३७	पुत्र-जन्म और ग्रहों की स्थिति।
३८-३९	मां दीपां का हर्ष और चिंतन।
४०-४१	दिशाओं और शासनश्री की हर्षोत्फुल्लता।
४२-४९	रात्री-वर्णन।
५०-५५	प्रभात-वर्णन।
५६-५७	सूर्योदय-वर्णन।
५८-६०	जन्मोत्सव और सुहृद्जनों का आह्लाद।
६१	बालक की आकृति और रूप।
६२	दर्शनार्थियों का सम्मान।
६३	बालक का 'भिक्षु' नामकरण।
६४	बालक के जन्म-मास और तिथि की सार्थकता।
६५-७४	बालक की शैशवकालीन प्रवृत्तियों का हार्द।
७५-७६	विद्या-अध्ययन और संस्कार-वपन।
७७-१२२	शरीर के विभिन्न अवयवों की अवस्थिति और उनकी फलश्रुति।
१२३-१२४	प्रत्यक्ष लक्षणों की परोक्ष फलश्रुति से संगति।
१२५-१२७	बालक्रीडाएं।

दूसरा सर्ग

१-११	बालक भिक्षु का यौवन में प्रवेश। यौवन और शैशव में नोक-झोंक।
१२	दीपानन्दन का मनमोहक रूप।

१३-१८ पिता का देहांत हो जाने पर परिवार के भरण-पोषण का भार-वहन और अपनी विलक्षणता से सामाजिक प्रतिष्ठा।
१९-२३ औदार्य आदि सद्गुणों से बहु व्यक्तियों द्वारा मान्यताप्राप्त।
२४-२६ गणमान्य व्यक्तियों द्वारा प्रेरित होने पर भी अत्यन्त विरक्ति के कारण परिणय की अस्वीकृति।
२७-३६ माता दीपां का अत्यन्त आग्रह और भिक्षु द्वारा विवाह की स्वीकृति।
३७-४४ कुलीन पुत्रवधू को पाकर माता का हर्ष।
४५-५४ भिक्षु का दाम्पत्य जीवन।
५५-६५ विरक्ति की उत्कटता और सद्गुरु की खोज का उपक्रम।
६६-६७ लूंका मेहता की अवस्थिति।
६८-८१ भस्मग्रह के प्रभाव से धर्म का ह्रास। हिंसा और आडंबरपूर्ण प्रवृत्तियों का प्रचलन आदि।
८२-९० पार्श्वस्थ मुनिजनों का यात्रा के लिए प्रस्थान। वर्षाऋतु का वर्णन।
९१ पार्श्वस्थ मुनियों का अहमदाबाद में पड़ाव।
९२-९३ यतियों द्वारा हस्तलिखित प्रतियों के पुनरुद्धार का चिंतन और लूंका मेहता का उसकी क्रियान्विति के लिए चुनाव।
९४-९७ लूंका मेहता द्वारा दो-दो प्रतिलिपियां—एक रात की और एक दिन की।
९८-१०२ इस उपक्रम से लूंका मेहता के शास्त्रीय ज्ञान का विकास और जनता को प्रतिबोध।
१०३-१०८ जनता का आकर्षण, यतिजनों का आक्रोश, पार्श्वस्थ मुनियों का प्रस्थान। जनता द्वारा यतिजनों का परिहार।
१०९ जैन शासन के अभ्युदय का कारण।
११०-११२ चवालीस व्यक्तियों द्वारा गृहस्थ लूंका मेहता से दीक्षा-ग्रहण और 'बाईस टोले' नाम की सार्थकता।
११३-११४ लूंका मेहता विषयक अनेक किंवदन्तियां। लोंकागच्छ का प्रवर्तन।
११५-११६ धूमकेतु के युवा होने पर प्रभाव।
११७-१२० आचार्य रघुनाथजी द्वारा जैन शासन की बागडोर संभालना। उनकी विशाल संपदा।
१२१-१२२ भिक्षु का रघुनाथजी से संपर्क और गुरुरूप में स्वीकरण।
१२३-१३६ संयम-ग्रहण के लिए पत्नी को प्रतिबोध।

१३७-१४० पति-पत्नी द्वारा ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार।
१४१-१४६ पत्नी की दीक्षा-ग्रहण के लिए स्वीकृति।

तीसरा सर्ग

१-२ पति-पत्नी द्वारा कठोर प्रतिज्ञा
३-७ पत्नी का रोगग्रस्त होना, उपचार और वियोग।
८-१५ काल—मृत्यु की करालता।
१६ संयम-ग्रहण के लिए तत्पर।
१७-२० नगर-जनों द्वारा पुनः विवाह की प्रेरणा। भिक्षु की अस्वीकृति।
२१ त्यागी का स्वरूप।
२२-२६ स्वदीक्षा की योग्यता का परीक्षण।
२७-३० मां दीपां से दीक्षा की आज्ञा मांगना।
३१-३८ मां का हृदय-द्रावक कथन।
३९-४४ मातृमोह के निवारण के लिए प्रयत्न।
४५-४७ मां से चार बातों की याचना।
४८ मां द्वारा चार असंभावित बातों पर आश्चर्याभिव्यक्ति।
४९-५१ भिक्षु द्वारा मां को पुनः समझाने का प्रयत्न।
५२-५३ आचार्य रघुनाथजी द्वारा मां दीपां को समझाने का प्रयत्न।
५४-६१ मां दीपां द्वारा सिंह स्वप्न का कथन और उसकी फलश्रुति-स्वरूप स्व अभिलाषा।
६२-७९ आचार्य रघुनाथजी द्वारा माता दीपां को सिंह स्वप्न के आधार पर समझाना।
८०-८९ मां दीपां द्वारा पुत्र भिक्षु की परीक्षा के लिए संयम की दुश्चरता बताना।
९०-१०६ भिक्षु का प्रत्युत्तर।
१०७-११४ सजल नेत्रों से जननी द्वारा चारों ऋतुओं में होने वाले मुनि-जीवन के कष्टों का वर्णन।
११५-१२ जननी द्वारा प्रव्रज्या की स्वीकृति और मोक्ष-संदेश।
१२४-१२६ दीक्षा की स्वीकृति से आनन्दित भिक्षु का कंटालिया से बगड़ी की ओर प्रस्थान।

चौथा सर्ग

१-४७ दीक्षार्थी भिक्षु का अभिनिष्क्रमण, शोभायात्रा और पौरवासी नर-नारियों की आनन्दाभिव्यक्ति।

४९-५३ बगडी नगर के बाह्यभाग में नदी के तट पर विशाल वटवृक्ष की छाया में आचार्य रघुनाथजी द्वारा विक्रम संवत् १८०८ मृगशिर कृष्णा १२ को भिक्षु को दीक्षा प्रदान।

५४-६६ शैक्ष शिष्य भिक्षु को पाकर आचार्य की मन:स्थिति, साथ में विहरण और शिक्षण।

६७-७५ मुनि भिक्षु की जिज्ञासाएं, गुरु-शिष्य संबंध आदि।

७६-८३ सिंघाडपति के रूप में अन्यत्र विहरण और अपार यश:प्राप्ति।

८४-८५ प्रथम चार चातुर्मास।

८६-१०० मेवाड देश का वर्णन।

१०१-१०६ बागोर नगर का वर्णन।

१०७-१२४ कृष्णोजी और भारमलजी—पिता-पुत्र के दीक्षा-स्थल 'वट-वृक्ष' का वर्णन और दीक्षा की संपन्नता।

१२५-१२६ पांचवां और छठा चातुर्मास।

पांचवां सर्ग

१-१९ राजनगर का प्राकृतिक सौन्दर्य।

२०-२४ राजनगर के वास्तव्य पौरवंशीय श्रद्धालुओं की स्थिति और धार्मिक श्रद्धा।

२५-४७ श्रद्धालुओं द्वारा शास्त्राभ्यास, उसके प्रतिबोध-प्राप्ति और तात्कालिक श्रमणसंघ के आचार के प्रति विप्रतिपत्ति।

४८ श्रावकों द्वारा संघ से संबंध-विच्छेद और वन्दन-परिहार।

४९-९३ राजनगर के श्रावकों की स्थिति से आचार्य रघुनाथजी की मनोव्यथा, स्थिति के निराकरण के उपायों की व्यर्थता। श्रावकों में विघटन और समस्या की भयंकरता।

९४-९७ मुनि भिक्षु को स्थिति के निराकरण के लिए राजनगर भेजा जाना।

९८-१०६ मुनि भिक्षु का प्रस्थान और जनता की वितर्कणा।

१०७-१११ अरावली पर्वतमाला का वर्णन।

११२-१४३ भिक्षु का राजनगर में आगमन, श्रावकों से विचार-विमर्श और वन्दन-परिहार की अशेष कथा का श्रवण।

१४४-१५३ श्रावक संबोध को सुनकर मुनि भिक्षु का मनश्चिन्तन और वाग्कौशल से समाधान निदर्शन।

१५३-१६३ गुरु-मोह से प्रतिबद्ध मुनि भिक्षु की विपरीत प्ररूपणा और श्रावकों द्वारा पुनश्चिन्तन की प्रेरणा।

छठा सर्ग

१-२ जिनेश्वरदेव की स्तुति और प्रस्तुत सर्ग का प्रतिपाद्य।

३-४ मिथ्या प्ररूपणा से भिक्षु की मनःस्थिति ।

५-१६ सूर्यास्त का वर्णन ।

१७-१९ अन्धकार का फैलना ।

२० ह्रास और विकास का क्रम ।

२१-२२ रात्री का वर्णन ।

२३-३६ शीतज्वर से आक्रांत भिक्षु, उसकी प्रचंडता और भिक्षु की सहनशीलता ।

३७-९१ शीतज्वर के प्रकोप की वास्तविकता, मुनि भिक्षु का उस समय आत्मविलोडन, नारकीय कष्टों की भयंकरता और सत्याभिव्यक्ति की प्रतिज्ञा ।

९२-११० प्रबुद्ध मन से मन को प्रतिबोध ।

१११-११७ मुनि भिक्षु की कल्याणमार्ग के उद्भावना की प्रतिज्ञा और उसकी फलश्रुति ।

११८-१२२ रोगों की भयंकरता और मनुष्यों की मनःस्थिति ।

१२३-१२६ असातवेदनीय को समभाव से सहने का निर्देश ।

१२७-१३२ आर्यपुरुष कौन ?

१३३-१३४ शुभ भावना से शीतज्वर का अपनयन ।

सातवां सर्ग

१-१६ सूर्योदय का वर्णन ।

१७-२१ सूर्यकिरणों द्वारा मुनि भिक्षु का चरणस्पर्श और सूर्य का आत्मचिंतन ।

२२-२५ महापुरुषों की कार्यपद्धति—पहले सोचें, फिर करें ।

२६-६५ ज्वरमुक्त अवस्था में मुनि भिक्षु का चिन्तन, शास्त्राध्ययन के लिए परम पुरुषार्थ और अन्तर् आलोक की उपलब्धि ।

६६-७६ राजनगरवासी शंकाशील श्रावकों के समक्ष सत्य का उद्घाटन ।

७७-९० श्रावकों द्वारा भिक्षु की मुक्तकंठ से प्रशंसा और उनमें पूर्ण विश्वास का प्रकटीकरण ।

९१ आग्रही श्रावकों की मनःस्थिति ।

९२-१०० मुनि भिक्षु द्वारा अपने सहगामी मुनियों को सत्योपलब्धि की अवगति ।

१०१-१०६ सहगामी मुनियों द्वारा सत्य-मार्ग की उद्भावना में विलम्ब न करने की भिक्षु से प्रार्थना ।

१०७ अवसर की प्रतीक्षा ।

१०८-१०९ राजनगर का आठवां सफल चातुर्मास ।

आठवां सर्ग

१-६ राजनगर का चातुर्मास संपन्न कर मुनि भिक्षु का प्रस्थान और श्रावकों की अभ्यर्थना।

७-११ राजनगर से सोजत जाते मार्गगत कठिनाइयों के कारण पांच मुनियों के दो दल और एक दलनेता वीरभाण को शिक्षा।

१२-३३ मुनि वीरभाण का सोजत में मुनि भिक्षु से पूर्व आगमन और गुरु रघुनाथजी को राजनगर की घटना की पूरी अवगति।

३४ घटनाक्रम के श्रवण से आचार्य की अपूर्व मनःस्थिति।

३५-४२ मुनि भिक्षु का आगमन और प्रारंभिक वार्तालाप।

४३-४७ अवसर की प्रतीक्षा में मुनि भिक्षु।

४८ जिज्ञासाओं के समाधान के लिए आचार्यश्री से निवेदन।

४९-५१ अवसर की प्रतीक्षा क्यों?

५२ गुरु को विनम्र व्यवहार से प्रतीति उत्पन्न कर साथ में रहना।

५३-५८ मुनि भिक्षु द्वारा ऐसा करने का औचित्य।

५९-८१ मुनि भिक्षु का रघुगण में असंभावित पुनः प्रवेश से राजनगर-वासी श्रावकों की मनःस्थिति और विचारों का उद्वेलन।

नौवां सर्ग

१-४ आचार्य रघुनाथजी के साथ मुनि भिक्षु का वार्तालाप प्रसंग।

५ शिवपथ के अनुसरण का निवेदन।

६ विद्वान् और धीधन कौन?

७-८ श्रद्धा का स्वरूप और उसकी प्राप्ति की दुर्लभता।

९ श्रद्धा के तीन प्रकार।

१०-१२ मिश्रधर्मश्रद्धा का खंडन।

१३-१६ आज्ञा ही धर्म है। उसकी अखंड आराधना करना ही अध्यात्म है।

१७-१९ एक साथ एक ही योग।

२० एक ही कार्य से पुण्य-पाप दोनों नहीं।

२१ एक समय (काल का न्यूनतम भाग) में कोई भी कृत्रिम कार्य नहीं होता।

२२-२३ अध्यवसाय, परिणाम, योग आदि एक कार्य में विषम नहीं होते। तब एक ही कार्य में पुण्य-पाप कैसे?

२४-४२ मिश्रधर्म की मान्यता की अतात्विकता और उससे होने वाले अन्यान्य दोष।

४३ प्रशस्त योग और अप्रशस्त योग।

४४ आगमवचन पर प्रतीति रखने का निर्देश।

४५ आज्ञा धर्म, अनाज्ञा अधर्म।

४६ आग्रहमुक्त होने की प्रार्थना।

४७ क्या हम रत्नत्रयी से भी वंचित नहीं हैं?

४८ श्रामण्य का स्वीकार क्यों?

४९ तिन्नाणं तारयाणं बनने की प्रार्थना।

५० आत्मकल्याण की भावना से ही निवेदन।

५१ हिंसा में निमित्त न बनना ही ध्येय।

५२ मनुष्यजन्म और चरित्र-प्राप्ति दुर्लभ।

५३ आग्रह-त्याग की प्रार्थना।

५४ आत्म-निवेदन पर ध्यान देने की प्रार्थना।

५५ भिक्षु के कथन से आचार्य रघुनाथजी का कोपारुण होना।

५६ रघु का कथन—'मेरे वचनों पर श्रद्धा रखो'। मुनि भिक्षु का प्रत्युत्तर।

५७ विश्वास की उत्पत्ति कैसे?

५८ द्रव्याचार्य की विपरीत अवस्था के कारण मुनिश्री द्वारा कालक्षेप का चिंतन।

५९-६० साथ में चातुर्मास कर आगमिक चर्चा द्वारा सत्य-असत्य के निर्णय का निवेदन।

६१ आचार्य रघुनाथजी को संघभेद की आशंका।

६२ गुरु की अनुमति से मेडता चातुर्मास के लिए प्रस्थान।

६३-६६ चातुर्मास संपन्न कर पुनः गुरुचरणों में आगमन, पुनः विचार करने का नम्र निवेदन, तत्त्वचर्चा आदि।

६७-७१ गुरु के विचार-परिवर्तन की असंभाव्यता पर मुनि भिक्षु का विचार-मंथन।

७२-८२ विचार-मंथन में सहयोगी बनने वाले वसंत ऋतु का वर्णन, उसका प्रेरक संबोध।

८३-८६ विक्रम संवत् १८१७ चैत्र शुक्ला नवमी बगडी नगर में संघ-विच्छेद कर मुनि भिक्षु का स्थानक से बहिर्गमन।

८७-९१ आचार्य द्वारा उत्पादित कष्ट तथा उनसे अस्पृष्ट मुनि भिक्षु।

९२-९३ मुनि भिक्षु का अपने सहयोगी संतों के साथ गांव बाहर आना, आंधी का प्रकोप, श्मशान की छतरी में ठहरना।

९४-१०६ आचार्य रघुनाथजी का अपने भक्तों के दलबल के साथ वहां आना और भिक्षु को समझाना। गुरु-शिष्य के प्रश्नोत्तर।

१०७-१०८ आचार्य रघु के आर्द्र नयनों को देख मुनि उदयभानजी का प्रश्न और गुरु का समाधान।

१०९-११४ आचार्य रघुनाथजी के हृदय-द्रावक उपक्रम से भी अविचलित मुनि भिक्षु के विचार।

११५ आचार्य द्वारा भावी आपदाओं की अवगति देना, भय दिखाना।

११६-११७ अभीत मुनि भिक्षु की दृढ़ता।

११८ आंधी के विरत होने पर भिक्षु का अन्यत्र विहार।

११९ बरलू नगर में चर्चा का उपक्रम।

१२०-१२७ श्रामण्य-पालन की दुरनुचरता के प्रसंग में मुनि भिक्षु का कथन और आचार्य को उद्‌बोधन देने का असफल प्रयास।

१२८-१८९ आचार्य जयमलजी से मिलन, उनके साथ आचार-विचार विषयक विस्तृत वार्तालाप। हिंसा-अहिंसा, दया-दान, सावद्य-निरवद्य, पुण्य-पाप, आदि तात्त्विक विषयों की चर्चा। सैद्धांतिक प्रमाणों की उन्हें जानकारी देना। आचार्य जयमलजी की सहयोग देने की मन:स्थिति और भिक्षु के साथ संघमुक्त होने की प्रबल मानसिकता बताना।

१९०-१९३ आचार्य रघुनाथजी को आचार्य जयमलजी की मन:स्थिति की जानकारी। उपायों से जयमलजी को अपनी ओर आकृष्ट करना।

१९४-१९६ आचार्य जयमलजी द्वारा मुनि भिक्षु के उपक्रम की सराहना करना, सत्य-क्रांति का अनुमोदन करना, पर सहयोगी बनने की अपनी असमर्थता प्रगट करना।

१९७ मुनि भिक्षु की कष्ट-सहिष्णुता।

१९८ काव्यकार का आत्म-निवेदन।

दसवां सर्ग

१-२ मुनि भारीमल की योग्यता का वर्णन।

१३-१३ मुनि भारीमल के पिता मुनि कृष्णोजी की समस्या और समाधान।

१४ बाल मुनि भारीमल।

१५-१७ मुनि भिक्षु के साथ अन्य बारह मुनियों के अभिधान और उनके गच्छों का निर्देश।

१८-२१ तत्त्वचर्चा, भिन्न-भिन्न स्थानों में चातुर्मासिक प्रवास बिताने का आदेश और कर्त्तव्य-निर्देश ।

२२-३० मुनि भिक्षु का मेवाड़ की ओर प्रस्थान । अरावलि पर्वत-माला का वर्णन । महाराणा प्रताप की तेजस्विता का निरूपण और मानसिंह का चरित्र ।

३१-४१ बादशाह अकबर द्वारा मेवाड़ पर आक्रमण । महाराणा वीर प्रतापसिंह द्वारा सामना करना, कठिनाइयों को सहना तथा बे-घर-बार होकर रानी और पुत्र के साथ अरावली के जंगल में भटकना, धर्म की रक्षा के लिए प्राणों को न्योछावर कर देना ।

४२-४४ महाराणा की पृष्ठभूमि में मुनि का साहसिक चिंतन, नूतन दीक्षा-ग्रहण का संकल्प ।

४५-४७ केलवा नगर का वर्णन ।

४८ अंधेरी ओरी में चातुर्मास के लिए अवस्थित होना ।

४९-५३ भस्मग्रह और धूमकेतु ग्रहों की अवस्थिति, काल-गणना, प्रभाव और तेरापंथ के उदय की प्रासंगिकता ।

५४ भस्मग्रह और धूमकेतु के प्रभाव की काल-गणना ।

५५ मुनि भिक्षु द्वारा नवीन दीक्षा-ग्रहण ।

५६-५९ मुनि भिक्षु के साथ वाले पांच संतों का गुण-वर्णन, नई दीक्षा की दीप्ति तथा हर्षोल्लास ।

६० मुनि भिक्षु के पुरुषार्थ की फलश्रुति ।

पहला सर्ग

प्रतिपाद्य : श्रीभिक्षु का जन्म, देहलक्षण और उनकी फलश्रुति ।

श्लोक : १२५

छन्द : वसन्ततिलका
(प्रथम सात श्लोक भिन्न-भिन्न छंदों में निबद्ध हैं ।)

वर्ण्यम्

प्रस्तुत सर्ग में मरुधर देश की प्राकृतिक संपदा, सौंदर्य तथा राजनयिक स्थिति का यथार्थ वर्णन है। भिक्षु इस काव्य के नायक हैं। उनके गांव 'कंटालिया', जन्म से पूर्व माता द्वारा देखा गया सिंह का स्वप्न तथा उसकी फलश्रुति के साथ-साथ बालक भिक्षु के शारीरिक लक्षणों का ४२ श्लोकों (७७-११८) में सुन्दर वर्णन प्राप्त है। शैशव तथा विद्याध्ययन का चित्रण भी हुआ है। काव्यकार ने आचार्य भिक्षु को साक्षात् नहीं देखा, परन्तु गुणों के आधार पर आकृति का आकलन करते हुए **'यत्राकृतिर्लसति तत्र गुणाः वसन्ति'** की युक्ति को सार्थक किया है।

वे कहते हैं—

रूपं स्वरूपमभिबोधयितुं प्रकामं,
कस्तार्किकोऽपि गमयेत् तदृते पदार्थान्।
उक्ताकृतिस्तत इयं शुभलक्षणाभि-
र्यत्राकृतिर्लसति तत्र गुणा वसन्ति ॥१२१॥
कार्यात् परोक्षमयकान्यपि लक्षणानि,
ज्ञायन्त एव मुनिपस्य मतस्य तस्य।
नद्यम्बुपूरमनुवीक्ष्य समीक्ष्य साक्षाद्,
वृष्टिर्गिरेः शिरसि केन न लक्ष्यते किम् ॥१२२॥

प्रथमः सर्गः

१. श्रेयःश्रीकमलं सदैव विमलं प्रत्यूह[1]दावानलं,
ज्ञानानन्त्यसमुज्ज्वलं बहुबलं सिद्धान्तसिद्धाचलम्[2] ।
पूज्यैः पूजितपत्तलं प्रतिपलं संकल्पकल्पस्थलं,
श्रीश्रीवीरजिनेश्वरं प्रणिदधे प्रोच्छृङ्खलं मंगलम् ॥

कल्याण रूपी लक्ष्मी के कमल, सदा विमल, विघ्न-बाधाओं के लिए दावानल, अनन्त चतुष्टयी से समुज्ज्वल, वीर्यवान्, सिद्धान्त के सुमेरु, देवों से सदा पूजित चरणवाले, संकल्प सिद्धि के लिए कल्पतरु, निर्बाध मंगलस्वरूप श्री वीर जिनेश्वर प्रभु को मैं नमस्कार करता हूं।

२. सिद्धाः सिद्धिकराः सदा सुखकराः क्षिप्तात्मकर्मोत्करा[3],
बुद्धा बोधिकरा विवेकनगराः सच्चिन्मयाः सर्वदा ।
मुक्ता मुक्तिकरा विमुक्तिशिखराः शान्ताः प्रशान्ता वरा-,
स्तीर्थस्तीर्थकरैर्नताः सुमहिताः स्तुत्या मया भक्तितः ॥

सिद्धि और शाश्वत सुख के प्रदाता, अपने समस्त कर्मों को क्षीण करने वाले, स्वयं सम्बुद्ध, दूसरों को बोधि देने वाले, विवेक से परिपूर्ण, सदा चिन्मय अवस्था में अवस्थित, स्वयं मुक्त, दूसरों को मुक्त करने वाले, विमुक्ति के शिखर पर स्थित, शांत, प्रशान्त, श्रेष्ठ, तीर्थ स्वरूप तथा तीर्थंकरों से प्रणत और स्तुत ऐसे सिद्ध भगवान् की मैं भक्तिपूर्वक स्तवना करता हूं।

३. या नित्यं प्रणिहन्ति विश्वतिमिरं यज्ज्योतिरुज्जृम्भते,
या मूकं वितनोति भाषणचणं[4] यापेक्षिकं भाषते ।
या मोहादिवियुक्तशुद्धकरुणा सिद्धा स्वयं सिद्धिदा,
सा जैनी जगदीश्वरी भगवती स्तात् सारदा शारदा[5] ॥

---

१. प्रत्यूहः—विघ्न, बाधा (विघ्नेन्तरायप्रत्यूह···· अभि० ६।१४५) ।

२. सिद्धाचलम्—सुमेरुम् ।

३. उत्करः—समूह ।

४. भाषणचणः—वाचाल ।

५. शारदः—शालीन (शालीनशारदौ—अभि० ३।९९) ।

जो विश्वव्यापी अज्ञान तिमिर का सदा नाश करती है, सत्य का प्रकाश फैलाती है, मूक को वाचाल करती है, सापेक्ष अर्थ का प्रतिपादन करती है, जो मोह आदि से वियुक्त शुद्ध करुणामय है, जो स्वयं सिद्ध है और दूसरों को सिद्धि प्रदान करती है, वह जगदीश्वरी जैनी वाणी मेरी वाणी को सारभूत—शक्तिशाली बनाए।

४. तीर्थंकरैर्निरुपमैर्वरवीतरागै-
र्भावोपकारकुशलैः सकलागमाब्धेः।
सारं सुधारसमिवोद्धृतमेतमादौ,
मन्त्राधिपं स्मृतिमये परमेष्ठिमन्त्रम्॥

निरुपम, वीतराग और यथार्थ उपकार करने में कुशल तीर्थंकरों ने समस्त आगम-समुद्र का मंथन कर साररूप सुधारस की भांति जिस पंच-परमेष्ठी महामंत्र का उद्धार किया था उसका ग्रन्थ-निर्माण के प्रारम्भ में मैं स्मरण करता हूं।

५. अर्हत्सिद्धमुनिवर्यजिनोक्तधर्म-
लोकोत्तमाग्रशरणाद्भुतमङ्गलानि।
चत्वारि विस्तृतचतुर्गतिदुःखदाहे,
प्रारभ्यमाणविषये हृदयं नयामि॥

अर्हत्, सिद्ध, मुनि और केवली प्ररूपित धर्म—ये चारों ही अद्भुत मंगल हैं, लोकोत्तम हैं और श्रेष्ठ शरणभूत हैं। मैं इस विस्तृत चातुर्गतिक संसार के दुःख-दाह का अन्त करने के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणयन की पुनीत वेला में इन चारों शरणभूत मंगलों को हृदय में स्थापित करता हूं, उनकी स्मृति करता हूं।

६. अनन्तानन्तैर्यज्ज्वलदमलभानुप्रभृतिभि-
र्न भास्यं नो शास्यं गहनगहनं प्राणिहृदयम्।
सहाऽऽलोकं लोक्यं विदधति मुदा ये प्रमुदिताः,
प्रणंणम्येऽतस्तान् सुगुरुचरणांश्चारुचरणान्॥

अनन्त अनन्त सूर्य आदि प्रकाशपुञ्जों से भी प्रकाशित नहीं होने वाला तथा किसी से भी अनुशासित नहीं होने वाला जो मानव मन है, उसको आलोकित और अनुशासित करने में सद्गुरु समर्थ होते हैं। मैं शुद्ध चारित्र का पालन करने वाले उन गुरुओं के पावन चरणों में वन्दन करता हूं।

७. सन्तः शान्तिकरा महाव्रतधरा मोक्षार्थिनो निःस्पृहा-
स्तत्त्वज्ञा जिनशासनोन्नतिकरा वैरङ्गिकास्तारकाः।
मानामानसमाः क्षमामृतभृता लोकप्रवाहेऽवहाः,
सन्तु क्वापि तथाविधा मुनिवराः सर्वेऽपि वन्द्या मया ॥

जो शान्ति करने वाले, महाव्रतधारी, मोक्षार्थी, निस्पृह, तत्त्वज्ञ, जिनशासन की प्रभावना करने वाले, विरक्त संसार-समुद्र से पार लगाने वाले, मान और अपमान में सम रहने वाले, क्षमारूपी अमृत से परिपूर्ण, लोकप्रवाह में न बहने वाले संत हैं, फिर चाहे वे कहीं भी क्यों न हों, वे मेरे लिए वन्द्य हैं, मैं उन सबको वन्दना करता हूं।

८. श्लाघ्यास्तु ते सततसज्जनराजहंसाः,
सर्गात्[१] सुधैव गुणमौक्तिकमालिनो ये।
किन्तु प्रमादपददर्शनतत्परास्ते,
भूयासुरत्र पिशुना बहुमाननीयाः ॥

जैसे राजहंस मोतियों को चुगते हैं, वैसे ही सज्जन पुरुष अपने स्वभाव से दूसरों के गुण-मुक्ताओं को चुगते हैं। वे सदा श्लाघनीय होते हैं। किन्तु दोष-दर्शन के लिए सदा तत्पर रहने वाले पिशुन भी बहुत माननीय हैं क्योंकि वे व्यक्ति को प्रमाद के प्रति जागरूक करते रहते हैं।

९. सद्वर्णनैरवितथैर्मदुपक्रमोऽयं,
सर्वान् सदा समनुकूलयितुं न शक्तः।
चन्द्रो विकासयति रात्रिविकाशि पद्मं,
सूर्योऽपि वासरविकाशि कजं न चान्यत् ॥

मेरा यह प्रस्तुत उपक्रम यथार्थ और वास्तविक है, फिर भी सबको समान रूप से प्रसन्न करने में समर्थ नहीं है। जैसे चन्द्र केवल चन्द्रविकासी कमलों को ही विकसित कर पाता है और सूर्य केवल सूर्यविकासी पद्मों को ही विकसित कर पाता है, दूसरे कमलों को नहीं।

१०. इष्टाऽऽश्रयं समधिगम्य सुरम्यमेत-
दन्तःस्थितं चरितमाशु विभावयामि।
व्योमावलम्बनमृते किमु चण्डरोचि[२]-
र्विश्वं प्रकाशयति यत्नसहस्रतोऽपि ॥

---

१. सर्गः—स्वभाव (धर्मः सर्गो निसर्गवत्—अभि० ६।१२)।
२. चण्डरोचिः—सूर्य।

इष्टदेव का आश्रय लेकर ही मैं अपने अन्तःकरण में स्थित आचार्य भिक्षु के जीवनवृत्त को अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रहा हूं। सूर्य अत्यन्त तेजस्वी है। क्या वह आकाश का आश्रय लिए बिना हजारों प्रयत्नों से भी विश्व को प्रकाशित कर सकता है ?

११. हर्षप्रकर्षवशतो रसतो रसानां,
भिक्षोर्मुनेर्विरचयामि विशिष्टवृत्तम् ।
मन्ये जनेषु मुदमार्यगुणान्वितेषु,
निर्मातृपर्यवसितं श्रुतमात्मसिद्ध्यै ॥

मैं आनन्द से ओतप्रोत होकर मुनि भिक्षु के विशिष्ट जीवनवृत्त का सरस काव्य में रचना कर रहा हूं। मै मानता हूं कि आत्मसिद्धि के लिए प्रयत्नशील आर्यपुरुषों को यह काव्य अपूर्व आह्लाद देने में सफल होगा।

१२. क्वाऽऽर्यस्य तस्य चरितं विततं विशुद्धं,
क्वाहं पराणुपरकप्रतिभाप्रभावी ।
धैर्यात् तथापि तदुपक्रमितुं प्रवृत्तः,
किं कूर्दते न पवनोद्धतरेणुरभ्रे ॥

कहां तो उन आर्य भिक्षु का सुविस्तृत जीवन चरित्र और कहां मैं अणु जैसी अत्यल्प प्रतिभा का धारक! किन्तु फिर भी मैं अपने धैर्य को संजोकर उस जीवनवृत्त को लिखने का उपक्रम कर रहा हूं। क्या हवा से प्रेरित होकर धूलि कण आकाश में उछल-कूद नहीं करते ?

१३. यद् व्याकरोमि तदिदं न हि मे प्रभुत्वं,
तस्यैव धीरपुरुषस्य महानुभावः ।
यो दृश्यते नयनयान्त्रिककर्मकाण्डः,
सर्वोऽपि तच्चतुरचेतनसत्प्रपञ्चः ॥

इस विषय में मैं जो कुछ अभिव्यक्त कर रहा हूं, उसमें मेरा अपना कुछ भी नहीं है। सब कुछ उस धीर पुरुष का ही महान् प्रभाव है। जो कुछ आंखों से दिखाई दे रहा है या यन्त्रों के द्वारा उत्पादन हो रहा है, उन सबकी पृष्ठभूमि में निपुण चेतनाशक्ति का ही प्रपंच है, आंख और यन्त्र का नहीं।

१४. दूरे प्रयान्तु चकिता[1]ङ्गिवदन्तराया,
नश्यन्त्वशक्तय इवेतय[2] इष्टदेवात् ।
मा मा स्पृशन्तु जडता इव मन्दता मां,
यस्मात् करोमि किल केवल पुण्यकार्यम् ।।

मैं एक पुण्य कार्य में प्रवृत्त हो रहा हूं इसलिए यह कामना करता हूं कि समस्त विघ्न और बाधाएं भयभीत व्यक्ति की भांति मेरे से दूर हो जाएं, सारी दुर्बलताएं वैसे ही नष्ट हो जाएं जैसे इष्टदेव महावीर के शुभागमन से सारे उपद्रव नष्ट हो जाते हैं। मुझे मंदता वैसे ही छू न पाए जैसे चेतन को जड़ता ।

१५. किं संकटाः प्रतिभटाः किमसाध्यसाध्यं,
किं वा क्लमः समभिभूय समान् तदर्थम् ।
प्रस्तौमि सम्प्रति दृढासनसन्निविष्टः,
प्रोत्साहिनः सफलता च पुरः प्रतिष्ठा ।।

अब वे कौनसे संकट हैं जो शत्रुओं की भांति मेरे सामने खड़े रह सकते हैं ? अब वह कौनसा साध्य है जो मेरे लिए असाध्य हो सकता है ? अब वह कौनसा श्रम है जो मुझे विचलित कर सकता है ? अब मैं इन सबको पराभूत कर, कटिबद्ध होकर काव्य-रचना करने के लिए प्रस्तुत हो रहा हूं । यह सुविदित है कि उत्साही व्यक्ति के समक्ष सफलता हाथ जोड़े खड़ी रहती है ।

१६. स्याद् वा श्रमो गुरुचरित्रसुधाशिनो मे,
चिन्ता न तत्र सकलः सहनीय एव ।
केतुर्जनार्दनकरामृतपानमिच्छु-
रात्मीयमस्तकमपि प्रददे ततः किम् ।।

मैं आचार्य भिक्षु के जीवन चरित्र को लिखकर अमृतपान करना चाहता हूं । यदि इस उपक्रम में मुझे कुछ श्रम भी उठाना पड़े तो कोई चिंता नहीं है। मैं उस श्रम को सहन कर लूंगा । केतु ग्रह जनार्दन के हाथों अमृतपान करना चाहता था । उसने इसके लिए अपना मस्तक भी दे डाला, कटवा दिया, तो फिर मुझे इन कष्टों की चिंता ही क्या है ?

---

१. चकितः—भयभीत (दरितश्चकितो भीतो—अभि० ३।२९) ।
२. ईतिः—उपद्रव (अजन्यमीतिरुत्पातो—अभि० २।४०) ।

१७. योगीश्वरं निकषितं विदकाट्यतत्त्व-
मात्मार्थिनं गुरुगुणान्वितमुग्रबुद्धिम् ।
भाग्योदयोद्य मम भिक्षुमुनिं जिनेन्द्रं,
स्तौम्येव नो परमपुण्यपथं प्रयामि ॥

मैं परम योगीश्वर, साधना की कसौटी पर कसे हुए महान् तार्किकों के द्वारा भी अकाट्य तत्त्व के प्रतिपादक, आत्मार्थी, उच्चतम गुणों के धारक, महान् मेधावी आचार्य भिक्षु का गुणगान कर अपने आपको परम सौभाग्यशाली मानता हूं। साथ ही साथ मैं उनके द्वारा प्रवर्तित 'तेरापंथ' का अनुगमन भी कर रहा हूं, यह भी मेरे पुण्य का ही प्रतिफलन है।

१८. लालाटिका[१]ननसमानविशेषकृत्यै-
श्चाट्वर्थिमानजनरञ्जविदूषकत्वैः ।
किं वर्णिताः कतिपया न मया त्विदानीं,
सिद्ध्यर्थमेव तमृषिं सुचरित्रयामि ॥

मुंह देखकर तिलक करना, चापलूसी करना, जनरञ्जन करना, विदूषक वृत्ति को अपनाना—इस प्रकार मैंने अतीत में न जाने किन-किन के गुणगान नहीं किए, किंतु अब मैं आत्मसिद्धि के एक मात्र प्रयोजन से महामुनि भिक्षु का सुचरित्र लिख रहा हूं।

१९. योगोत्थशुद्धमतिमण्डितपण्डिताना-
मुत्तेजिताद्भुतविवेकपटुप्रहारैः ।
प्रोत्कीर्णयद्गुणमहार्घ्यसुमौक्तिकेषु,
स्रष्टुं स्रजं प्रतिभया गुणवद् विशामि ॥

आचार्य भिक्षु की बहुमूल्य गुण मुक्ताएं योग साधना से जागृत शुद्धमति वाले पण्डितों के विलक्षण विवेक-प्रहारों से बींधी हुई हैं। उनकी माला गूंथने के लिए मैं उनमें धागे की तरह अपनी प्रतिभा से प्रवेश कर रहा हूं।

२०. दाक्षिण्यमस्ति न तथा प्रगतिप्रयोगाः,
पन्न्यासताऽपि न तथा परमस्ति चैका ।
श्रद्धा हि मे बलवती प्रयते यतोऽत्र,
मार्गस्थितो यदवसीदति नो कदापि ॥

---

१. ललाट—प्रभोर्भालं पश्यतीति लालाटिकः ।

यद्यपि मेरे पास न पर्याप्त कुशलता ही है, न नए-नए प्रयोगों का सामर्थ्य ही है और न पद्य रचना का वैसा लालित्य ही है, किन्तु मेरे पास बलवती श्रद्धा है। मैं उस एक श्रद्धा के बल पर इस ओर प्रयत्नशील हुआ हूं। यह सुविदित तथ्य है कि सही मार्ग पर चरण बढ़ाने वाला व्यक्ति कभी भी खिन्न नहीं होता क्योंकि वह एक न एक दिन मंजिल तक पहुंच ही जाता है।

२१. नाहं यते तदनुयायितयैव किन्तु,
शाणावलीढतदगूढगुणानुविद्धः ।
को वा परीक्षणमृते विबुधः प्रयुंक्ते,
काचे करं कलितकेवलचाकचिक्ये ॥

मैं आचार्य भिक्षु का अनुगामी हूं, इसलिए यह उपक्रम नहीं कर रहा हूं किन्तु अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसे गए आचार्य भिक्षु के गुणों से प्रभावित होकर ही ऐसा कर रहा हूं। कौन ऐसा चतुर व्यक्ति होगा जो परीक्षा किए बिना ही केवल चाकचिक्ययुक्त कांच को (मणिरूप में) ग्रहण करेगा?

२२. द्वीपोऽत्र जम्बुरयमाक्रमणं विनैव,
द्वीपान् स्वतो गुरुगुरूनितरान् सुवृत्तात् ।
जित्वाऽऽत्मरक्षकतया परितोऽभिसृत्य,
तान् शासितुं किमवसत् धृतमेरुदण्डः ॥

यह जम्बूद्वीप है। इसने अपने सद्व्यवहार या गोलाकार परिधि से अन्यान्य बड़े-बड़े द्वीपों को बिना आक्रमण के ही जीत लिया है। उन्हें जीतकर अपनी सेवा करवाने के मिस से इसने अपने अंगरक्षक की भांति चारों ओर उनका सूत्रपात कर रखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन सब पर शासन करने के लिए ही इसने सुमेरु पर्वत के व्याज से दण्ड को धारण किया है।

२३. तादृक् सुवृत्तपरिसेवनया हि सिन्धुः,
क्षारोऽपि रत्ननिधिरेष ततः प्रमोदात् ।
वेलाभिरुच्छलति तिष्ठति नाऽपि रुद्धः,
सत्सङ्गतिः फलवती जगतीह किं न ॥

जम्बूद्वीप जैसे सद्शील वाले की सेवा कर वह क्षारमय लवण समुद्र भी रत्नाकर बन गया। इस हर्ष से वह वेला के मिष से उछालें भरता है और रोकने पर भी नहीं रुकता। क्या इस संसार में सत्संगति फलवान नहीं होती?

२४. नानासरिच्छिखरिवर्षविराजमानो,
लक्षादियोजनमितः प्रसृतः समन्तात् ।
चन्द्रार्द्धकल्पमिह भारतवर्षमेतान्
नित्यं बभौ समयमल्लमहाक्षवाटः ।।

नाना नदियों तथा वर्षधर पर्वतों से सुशोभित इस लाख योजन लंबे-चौड़े जम्बूद्वीप में कालचक्र के महान् अखाड़े की भांति यह अर्द्ध चन्द्राकार भारतवर्ष सदा सुशोभित होता रहा है ।

२५. पूर्वापराब्धिगममध्यविवर्त्तकेन,
वैताढ्यनामगिरिणा विहितं द्वयं तत् ।
सीमन्तकेन[1] ललनाललितालकानां[2],
वारं यथा यदिह दक्षिणमुत्तरञ्च ।।

लवण समुद्र के इस छोर से उस छोर तक पूर्व से पश्चिम की ओर फैली हुई वैताढ्यगिरि की पर्वतमालाओं ने भारत को उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत के रूप में उसी प्रकार विभक्त कर डाला है, जैसे मांग में भरा जाने वाला सिन्दूर किसी सुन्दरी के सिर पर सुशोभित होने वाली श्यामल केशराशि को दो भागों में विभक्त कर देता है ।

२६. तद्दक्षिणे विलसदार्यपवित्रभूमौ,
देशो वरो मरुधरो नवकोटियुक्तः ।
अन्यान्यदेशिकवरा अपि यत्र तत्र,
तन्नामतः परिचिता उपलक्षिता वा ।।

पवित्र आर्यभूमि से सुशोभित इस भरतक्षेत्र के दक्षिण में एक सुरम्य नवकोटि मरुधर देश है । यहां के निवासी जिस किसी देश में जाकर बसे हैं, वे वहां मारवाड़ी के नाम से प्रसिद्ध हैं और इसी नाम से पुकारे जाते हैं ।

२७. तत्रैव जोधपुरनामपुरं प्रसिद्धं,
तद्राष्ट्रकूटवरवंशजराजधानी ।
दृष्ट्वैव यामतिथयोऽपरनागरा ये,
मृत्युञ्जया अनिमिषा मनुजा अपि स्युः ।।

---

१. सीमन्तकः— मांग (केशेषु वर्त्म सीमन्तः—अभि० ३।२३५)
२. अलकः—घूंघराले केश (अलकस्तु कर्करालः—अभि० ३।२३३)

इस नवकोटी मरुधर देश में जोधपुर नाम का एक प्रसिद्ध नगर है। यह राठौड़वंशी राजाओं की राजधानी रहा है। यह नगर इतना सुन्दर है कि लोग उसको अनिमेषदृष्टि से देखते हुए, मानव होते हुए भी अनिमेष—देव बन जाते हैं। बाहर के आए हुए अतिथि उसको देखकर इतने आत्मविभोर हो उठते हैं कि मानो उन्होंने मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली हो, वे मृत्युंजय बन गए हों।

२८. आसीन्महीन्द्रमुकुटः प्रकटः प्रचण्डो,
बीज्यो जयी विजयसिंहधराधिनाथः।
यस्मात् समस्तविषयाद् व्यसनेति[1]रोगा,
नष्टा मृगा मृगपतेरिव भीतभीताः ॥

वहां विजयसिंह नामका राजा राज्य करता था। वह तात्कालिक शासकों में मुकुट के समान, महान् तेजस्वी और क्षत्रियवंश के उच्चकुल में जन्मा हुआ था। उसके निखरते हुए तेज से उस प्रांत के सभी व्यसन, उपद्रव और रोग वैसे ही पलायन कर गए जैसे सिंह के भय से भयभीत मृगों का यूथ।

२९. कण्टालियाख्यनगरं मरुभूषणं यद्,
व्यापारकेन्द्रमुपकण्ठपुरान्तरेषु ।
यत्रोर्वरैव वसुधा नहि किन्तु मर्त्य-
माणिक्यखानिरपि वा सुधियां सवित्री ॥

उस मरुधर में 'कंटालिया' नाम का एक नगर है। वह आसपास के गांवों का व्यापारिक केन्द्र है। वह भूमि सस्य की उत्पत्ति के कारण ही उर्वरा नहीं है, किंतु वह विद्वानों और नररत्नों की भी खान है।

३०. तस्मिन् वसन्ति बहवो बृहदोशवंश्या,
मार्गानुसारिगुणिनः सुखिनः समस्ताः ।
सल्लोकनीतिनिपुणार्जितवैभवाढ्या,
जैना दृढा निजनिजाभिमतक्रियासु ॥

उस नगर में साजन ओसवाल वंश के अनेक लोग रहते हैं। वे मुक्ति-पथ के वांछित गुणों के धारक, सुखी, लोकनीति में निपुण और प्रामाणिक रूप से अर्जित धन से धनाढ्य, जैन धर्मावलम्बी तथा अपने-अपने सम्प्रदाय के अभिमत क्रिया-कलापों में दृढ़ आस्था वाले हैं।

१. ईतिः—उपद्रव।

३१. तेष्वेक आहितधनो वरबल्लुशाहो,
जातिर्विभाति बत यस्य सुशौकलेचा ।
श्रीवीतरागपदपद्मनिविष्टभक्ति-
र्यस्याशयः कुहनताविभि[1]रिङ्गितो न ।।

उन ओसवंशीय जैनों में बल्लुशाह नामक एक श्रेष्ठी था। उसका गोत्र था सुकलेचा। वह वीतराग प्रभु के चरणों का भक्त था। उसके विचार ईर्ष्या आदि दोषों से मुक्त थे।

३२. दीपाभिधा लवणिमाञ्चितसुन्दराङ्गी,
तस्य प्रिया प्रणयिनी कुलजा सुशीला ।
जाता विलोक्य किमु सार्थवसुन्धरां तां,
धूल्यश्मकर्करमयी बत रत्नगर्भा ।।

उसकी प्रिय पत्नी का नाम दीपां था। वह लावण्य और सौन्दर्य से उपपेत, श्रेष्ठकुल में उत्पन्न और सुशील थी। मन में विकल्प उठता है कि क्या ऐसी सुन्दर वसुन्धरा (दीपां) को देखकर यह रत्नगर्भा वसुन्धरा (पृथ्वी) केवल धूल, पत्थर और कंकरमयी तो नहीं बन गई ?

३३. दाम्पत्यजीवनविलासविलासिनी सा,
निद्रां गता पतिरता शयने शयाना ।
स्वप्ने मृगेन्द्रमवलोक्य दधाति गर्भं,
पृथ्वी यथा नवयुगे निपुणं निधानम् ।।

दाम्पत्य जीवन का सुखोपभोग करती हुई दीपां, अपने शयनकक्ष में पति के साथ सो रही थी। उस समय सिंह का स्वप्न देखकर उसने वैसे ही गर्भ धारण किया जैसे नए युग में पृथ्वी निधान को निपुणता से धारण करती है।

३४. धामैकधाम रविबिम्बमिवाऽऽपगायां,
दीपा प्रदीप्तवदना गरभं[2] दधाना ।
तस्य प्रभाववशतो रुचिराशया सा,
कुक्षौ सुपुत्रचरणा ह्युपलक्षणीयाः ।।

---

१. कुहनता—ईर्ष्या का भाव (ईर्ष्यालुः कुहनः—अभि० ३।५५)
२. गरभः—गर्भ (गर्भस्तु गरभो भ्रूणो····—अभि० ३।३०४)

उस गर्भ को धारण करती हुई दीपां का चेहरा वैसे ही चमकने लगा जैसे सरिता में किरणों के केन्द्र सूर्य का प्रतिबिम्ब चमकता है। उस गर्भ के प्रभाव से दीपां के विचार बहुत उन्नत रहने लगे। यह ठीक कहा है— 'होनहार संतान की पहचान गर्भ में ही हो जाती है।'

३५. श्रीवीतरागचरणार्पितचित्तवृत्ति-
र्जाता सदा सुकृतिसन्ततिसन्निबद्धा।
सद्वर्तिनी च विमला कमलेव कान्ता,
गम्यागुणैर्जगति वल्लभवल्लभाऽभूत्॥

अब दीपां ने अपना मन श्री वीतराग के चरणों में लगा दिया। वह निरन्तर कल्याणकारी परम्परा में रमण करने लगी। उसका व्यवहार मृदु और सद् था। वह अपने सद्गुणों के द्वारा लक्ष्मी की तरह प्रिय हो गई। पति के लिए तो वह अत्यन्त प्रिय थी ही।

३६. संक्रान्तशीतरुचि[1]दुग्धसरित्समाना,
भाषामिता नियमिताशनपानमात्रा।
कल्पाङ्कुरं यदुदितं सफलार्थकारि,
गर्भं सुरक्षितवती धरणीव धीरा॥

चन्द्रमा से संक्रांत क्षीर सरिता जैसी दीपां परिमित बोलती और भोजन तथा पानी का पूर्ण संयम रखती थी। पृथ्वी की भांति धीर वह दीपां समस्त प्रयोजन को सिद्ध करने वाले प्रस्फुटित कल्पवृक्ष के अंकुर के समान अपने गर्भ की रक्षा करने लगी।

३७. लग्ने तमः[2]सुरगुरू च कविस्तृतीये,
यत् पञ्चमे बुधरवी महिजश्च षष्ठे।
केतुश्च सप्तमगतो दशमे शशाङ्कः,
एकादशे शनिरजायत मीनलग्ने॥

गर्भ की स्थिति पूर्ण होने पर दीपां ने पुत्ररत्न का प्रसव किया। उस बालक के ग्रहों की स्थिति इह प्रकार थी—मीन लग्न, लग्न में राहु और गुरु, तीसरे घर में शुक्र, पांचवें घर में बुध और सूर्य, छठे घर में मंगल, सातवें घर में केतु, दसवें घर में चन्द्रमा, ग्यारहवें घर में शनि।

---

१. शीतरुचिः—चन्द्रमा।
२. तमः—राहु (तमो राहुः सैंहिकेयो····—अभि० २।३५)

३८. तस्माच्चमत्कृतिकरादपि जातमात्रात्,
प्रोत्फुल्लिताः परिकरा निकरा नराणाम् ।
माता तु चिन्तयति तं नयनैर्निभाल्य,
श्लाघ्याऽहमेव भुवनान्तरभाग्यभाजाम् ॥

इस प्रकार उस चमत्कारी शिशु के जन्म मात्र से ही पारिवारिक जन तथा अन्यान्य ग्रामवासी बहुत प्रसन्न हुए। मां उस शिशु को देखकर सोचने लगी, विश्व के समस्त पुण्यवान् व्यक्तियों में मैं ही श्लाघ्य हूं, प्रशंसनीय हूं।

३९. पश्चादपि प्रतिभया नवया नृलोके,
स्थातुं न दास्यति कदापि कुतोऽप्ययं माम् ।
अन्धान्धकारनिकरः प्रखरोऽन्तरीयः,
प्रागेव हन्त ! निसृतः प्रपलायमानः ॥

यह नवजात शिशु अपनी नई प्रतिभा और मेधा से मुझे इस मनुष्य-लोक में कहीं भी और कभी भी रहने तो देगा ही नहीं, यह सोचकर प्रसूति-गृह का वह सघन अंधकार पहले ही पलायन कर गया, नष्ट हो गया।

४०. व्युत्पन्नबुद्धिरयमार्हतशास्त्रबुद्धया,
मिथ्यादृशां मुकुलितानि मुखाम्बुजानि ।
अस्मादृशां विकसितानि विधास्यति च,
नार्यो हि न प्रमुदिता मुदिता दिशोऽपि ॥

व्युत्पन्नमति वाला यह बालक अर्हत् शास्त्रों के माध्यम से मिथ्या-दृष्टियों के मुखकमल को संकुचित करेगा और हमारे मुख कमल को विकसित करेगा, यह सोचकर नारी समूह ही प्रमुदित नहीं हुआ किन्तु सारी दिशाएं भी प्रफुल्लित हो गईं।

४१. भस्मग्रहादिह कलौ हतधूमकेतो-
र्निर्नायकाऽहमधुनाऽधिकृता कुलिङ्गैः ।
भाविन्यऽनेन सुचिरं विशदेश्वरीति,
जैनेन्द्रशासनरमा नरिनृत्यमाना ॥

'इस कलिकाल में भस्मग्रह तथा धूमकेतु से संत्रस्त मुझ अनाथ पर आज कुवेशधारियों ने अधिकार कर लिया है, पर अब मैं इस बालक से पवित्रता को संजोकर सनाथ बनूंगी'—ऐसा सोचकर जैन शासन की लक्ष्मी नाचने लगी, अत्यन्त प्रफुल्लित हो गई।

४२. दोषाकरं[1] जगति दर्शयतीति दोषा[2],
दुर्नाम मे तदपनेतुमियं सुवेला ।
तस्माद् गुणाकरममुं प्रतिदर्श्य साक्षाज्,
ज्योत्स्नावती भवति या सगुणा विनोदात् ॥

जगत् को दोषाकर—चन्द्रमा दिखाने वाली रात्रि ने अपने 'दोषा'—इस दुर्नाम को मिटाने के लिए यह सुवेला है, यह सोचकर वह गुणों के आकर इस शिशु को देख-देखकर ज्योत्स्ना तथा अन्यान्य गुणों से युक्त हो गई ।

४३. चन्द्रातपेन[3] वसुधां परिलिम्पयन्ती,
स्थालीं नभोऽङ्गणमयीं तुहिनांशु[4]दीपाम् ।
ज्योतिः[5]सुमां शुचि[6]रुहां[7] कुज[8]कुङ्कुमाञ्च,
धृत्वा निशा किमिह गायति मङ्गलानि ॥

उस समय ऐसी तर्कणा हुई—'क्या रात्रि ज्योत्स्ना से संपूर्ण भूमि का लिपन करती हुई, आकाशरूपी थाली में चन्द्रमा का दीपक लेकर, तारामय फूल, किरणमयी दूब तथा मंगलग्रह रूप कुंकुम को सजाए, यहां मंगलगीत गाने के लिए प्रस्तुत हुई है ?'

४४. आनन्दमेतमनुभूय मनोऽभिवेद्यं,
नो तस्थुषी विहगनादमिषान्नदन्ती ।
प्रोज्जागरां विदधती नगरे समग्रे,
दोषाकरं कृतवती च सुधाकिरं तम् ॥

उस समय रात्री मन से संवेद्य आनन्द का अनुभव कर, पक्षियों के कलरव के व्याज से मुखरित होती हुई समूचे नगर के नागरिकों को जागृत कर रही थी । वह दोषाकर—चन्द्रमा को सुधाकर बनाती हुई वहां से प्रस्थान कर गई, रात्रि बीत गई ।

---

१. दोषाकर—चन्द्रमा ।
२ दोषा—रात्री (उषा दोषेन्दुकान्ता—अभि० २।५७)
३. चन्द्रातपः—चांदनी (चन्द्रातपः कौमुदी च ज्योत्स्ना—अभि० २।२१)
४. तुहिनांशुः—चन्द्रमा ।
५. ज्योतिः—तारा (ताराज्योतिषी भमुडुग्रहः—अभि० २।२१)
६. शुचिः—किरण (शुचिमरीचिदीप्तयो—अभि०२।१३)
७. रुहा—दूर्वा (दूर्वा······हरिताली रुहा—अभि० ४।२५८)
८. कुजः—मंगलग्रह (मंगलोंगारकः कुजः—अभि० २।३०)

४५. यस्याऽङ्गभास्करपुरः किमु नो व्यवस्था,
दीपाः स्वदीप्तिमतुलां तुलिताग्रभावाः ।
संवृत्य नैजकिरणाः शरणाश्रितास्ते,
स्नेहैः स्थिता मुकुलिताः क्षणदा[1]ऽत्ययेऽतः ॥

इस शिशु के सूर्य जैसे तेजस्वी शरीर के समक्ष हमें कौन पूछेगा, इस प्रकार आगे की बात को पहले ही सोच लेने वाले दीपक रात्री की परिसमाप्ति की वेला में अपनी अतुल दीप्ति के शरणाश्रित विस्तृत किरणों को समेट कर शांत हो गए, बुझ गए ।

४६. मार्यादिकेष्वधिपतिः पुरुषोत्तमोऽयं,
सीमामृते स्थितिकरान् न सहिष्यतेऽतः ।
एवं विभाव्य सहसाऽमरभोज्यकान्ति[2]-
र्द्वीपान्तरे स्ववसतेस्त्वरितं प्रतस्थे ॥

यह शिशु मर्यादाशील व्यक्तियों का अग्रणी तथा पुरुषोत्तम होगा, यह अव्यवस्थित स्थिति पैदा करने वालों को कभी सहन नहीं करेगा, ऐसा सोचकर ही मानो चन्द्रमा ने अपने निवास-स्थान रात्री को छोड़कर शीघ्र ही द्वीपांतर की ओर प्रस्थान कर गया ।

४७. नाथं विना स्वरुचिगा शिथिलान्धवृत्ता,
ध्वस्ता भवन्ति इति चेतसि चिन्तयित्वा ।
नो रक्षयिष्यति तथा विधिनोऽयमत्र,
तस्माद् ग्रहा नभसि शीघ्रचलाचलास्ते ॥

जो अनाथ हैं, स्वेच्छाचारी और शिथिलाचारी हैं, अज्ञानी हैं, वे स्वत नष्ट हो जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों की यह नवजात शिशु रक्षा नहीं करेगा —यह मन में सोचकर आकाश में तारे अपने स्वामी चन्द्रमा के अभाव में शीघ्र ही चंचल हो उठे ।

४८. स्वात्मप्रभोश्चरणचिन्हविमोचका ये-
ऽवश्यं विनश्वरपदा बलिनां बलिष्ठाः ।
एवं विबोधकममुं प्रतिबोध्य तारा,
लुप्तप्रभाः पतिपथं प्रतिधावमानाः ॥

---

१. क्षणदा—रात्री (शर्वरी क्षणदा क्षपा—अभि० २।५५)

२. अमरभोज्यकान्तिः—चन्द्रमा ।

अत्यन्त बलशाली व्यक्ति भी यदि अपने स्वामी का अनुगमन छोड़ देते हैं तो वे निश्चित ही नष्ट हो जाते हैं। इस शिशु को ऐसा ही प्रबोध देने वाला समझकर ही वे क्षीण कांति वाले तारे भी अपने स्वामी चन्द्रमा की ओर दौड़ने लगे—आकाश से विलुप्त हो गए।

४९. **दीक्षां गते प्रणयिनि प्रमदा गृहस्था,**
नो आदरं न च सुखं लभते कदापि।
इत्थं विमृश्य रजनी रचितप्रणामा,
प्राणेशवत् सपदि संयमिता बभूव ॥

पति के दीक्षित हो जाने के बाद भी जो पत्नी गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करती है वह कभी भी सम्मान एवं सुख को प्राप्त नहीं कर सकती। ऐसा सोचकर रजनी भी उस शिशु को प्रणाम करती हुई, अपने प्रियतम चन्द्रमा की भांति ही संयमित हो गई, चली गई।

५०. **सौजन्यशुभ्रनयमार्गममुं स्वकीयं,**
ते तत्प्रभुं सपदि बोधयितुं समेताः।
सम्प्रेषयन्ति निखिलं प्रतिबोध्य मित्रं[1],
दीपाङ्गजस्य शुभजन्ममहोत्सवाय ॥

अपनी सज्जनता और नैतिकता का परिचय देते हुए उन तारों एवं चन्द्रमा आदि ने दिन के अधिकारी सूर्य को रात्रिकालीन उस घटना की पूरी अवगति देते हुए दीपां मां के पुत्र के शुभ जन्मोत्सव पर जाने की प्रेरणा दी।

५१. **सिन्दूरिमारुणिमसंभृतचारुवेषा,**
प्राची[2] प्रसारितदिगन्तविनोदमाला।
आविर्गता पुलकिता स्वककान्तिकांतं,
द्रष्टुं द्रुतं सुतसुतं स्वपितामहीव ॥

अपनी कांति से ही कमनीय लगने वाले उस शिशु को देखने के लिए मानो लाल और सिन्दूर वर्ण वाले वेष को धारण कर, क्षितिज के उस पार तक अपनी आनन्द की लहर दौड़ाती हुई, अत्यन्त उल्लास के साथ प्राची दिशा भी शीघ्रातिशीघ्र वहां पर वैसे ही आई, जैसे कि अपने लाडले पौत्र को देखने के लिए दादी मां आती है। (प्राची का पुत्र प्रभात और प्रभात का पुत्र सूर्य।)

---

१. मित्रः—सूर्य (मित्रो ध्वान्ताराति····—अभि० २।१०)

२. प्राची—पूर्व दिशा (पूर्वा प्राची—अभि० २।८१)

५२. निद्रां हरत् तनुभृतां खगनादवाद्यै-
रेतं पुनर्मधुरमाङ्गलिकं प्रभातम् ।
को वञ्चितो भवति शक्तियुतो यदस्मिन्,
सांसारिकी स्थितिरियं यतिनामनर्हा ।।

इतने में ही वह मधुर मंगल प्रभात भी पक्षियों के कलरव रूप वाद्य यन्त्रों से सबकी नींद उड़ाता हुआ वहां आ पहुंचा, क्योंकि कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो समर्थ होते हुए भी इस प्रकार के उत्सव में आने से वंचित रहना चाहे ? यह एक सांसारिक स्थिति—परम्परा है । यह त्यागियों की दृष्टि से श्लाघ्य नहीं है ।

५३. नो नो सरोवरजलैर्न न मेघवर्षैः,
किन्त्वस्य पुण्यविभवाद् वनराजराजी ।
फुल्ला विहङ्गमरवालिविपञ्चिकाभिः,[1]
प्रेम्णा परिप्लवदलैर्नितरां ननर्त्त ।।

न तो सरोवर के जल से ही और न मेघवृष्टि से ही, किन्तु इस बालक की पुण्य प्रभा से वृक्षों की श्रेणी प्रफुल्लित हो उठी और वे प्रफुल्लित वृक्ष पक्षियों के कलरव रूप वीणा को बजाते हुए तथा चञ्चल पर्णरूप हाथों को प्रेमपूर्वक हिलाते हुए निरंतर नृत्य करने लगे ।

५४. फुल्लारविन्दमकरन्दसुगन्धगन्धः,
पीयूषसिन्धुकृतनिर्मलदेहदिव्यः ।
सर्वामयक्लमहरः कुसुमाभिवर्षी,
वृत्तोऽनुकूलितजनः पवनप्रचारः ।।

खिलते हुए कमलों के सुमधुर रस एवं सुरभि से सुरभित, पीयूषसिन्धु में डुबकी लगाने से निर्मल एवं शीतल तथा सब प्रकार की बीमारियों एवं थकान को दूर करने वाला, सबको प्रिय लगने वाला, ऐसा पुष्पवर्षी पवन उस समय बहने लगा ।

५५. आर्हन्त्यसद्भिरपि हा परिघात्यमान,
उद्घाटिताननमुखैर्नहि कोऽपि रक्षी ।
पास्यत्ययं ध्रुवमितीव समीरधीरो,
दीपाङ्गजस्य शरणं चरणं चुचुम्ब ।।

---

१. विपञ्चिका—वीणा (विपञ्ची कण्ठकूणिका—अभि० २।२०१)

'षट्कायिक जीवों की रक्षा करने वाले जैन उपासक के द्वारा भी खुले मुंह आदि कारणों से मैं मारा जा रहा हूं, पर यह बालक भविष्य में मेरा निश्चय रूप से रक्षक होगा', ऐसा सोचकर वह मन्थरगतिपवन उस दीपाङ्गज के शरणभूत चरणों को चूमने लगा।

५६. भास्वानथात्मिकसहस्रकरप्रसृत्या,[१]
व्यानञ्ज[२] विष्णुचरणैः[३] सह मर्त्यलोकम्।
सम्यग् यदुद्भवमहो भवितुं निजान्यैः,
शक्यो न किं भवति पुण्यवतां प्रभावात्॥

उस समय सूर्य ने भी मानो अपने सहस्ररश्मिरूप पसर से आकाश एवं भूतल का परिमार्जन किया ताकि उस महापुरुष का जन्म-महोत्सव स्वयं तथा दूसरों द्वारा भी अच्छी तरह से मनाया जा सके। पुण्यवान् व्यक्तियों के प्रभाव से क्या संभव नहीं होता?

५७. स्नातानुलिप्तहरिचन्दनचर्चिताङ्गो,
रङ्गात् प्रसङ्गबहुसम्भ्रम[४]विभ्रमाद्यैः[५]।
स्वालोकशोकपरिहारिधनं ददानः
क्व क्व प्रसारितकरो न विभाकरोऽस्मिन्॥

उदीयमान सूर्य ने स्नान करने के पश्चात् अपने शरीर को हरिचंदन (पीले चन्दन) से अनुलिप्त करते हुए, प्रस्तुत प्रसंग पर बहुत उत्साह और आनन्द से इतस्ततः परिभ्रमण करते हुए अपने शोकहारी आलोकरूपी धन का वितरण करने के लिए कहां-कहां अपनी किरणों को प्रसारित नहीं किया अर्थात् सूर्य की किरणें सर्वत्र प्रसृत हो गईं।

५८. अर्हन् न चेद् भवति दुःषमपञ्चमारे,
जातोऽयमेष जिनराजसमान एव।
इत्थं हि विज्ञपयितुं मिलितानि सार्द्धं,
तूर्याणि मङ्गलमयानि तदा प्रणेदुः॥

---

१ प्रसृतिः—पसर, अर्द्धांजलि (प्रसृतः प्रसृतिः—अभि० ३।२६२)

२. अञ्जूर् 'व्यक्त्यादौ' इति धातोः णबादिरूपम्।

३. विष्णुचरणः—आकाश (विष्णुपदं वियन्नभः—अभि० २।७७)

४. सम्भ्रमः—उत्साह।

५. विभ्रमः—इतस्ततः भ्रमणम्।

यह दुःषम पञ्चम आरा है। इस समय जिनराज तीर्थंकर तो हो नहीं सकते, पर यह बालक उनका प्रतिरूप ही होगा, ऐसा सोचकर ही मानो सबको इसकी सूचना देने के लिए सारे के सारे मांगलिक वाद्य तब एक साथ बजने लगे।

५९. कौसुम्भकौङ्कुममयाद्भुतवर्णवेषाः,
सालङ्कृता जिनजना[१]विव देवदेव्यः।
सन्मानयन्ति महिला अनिलाङ्गनृत्याः,
सौभागिनी त्वमसि भाग्यवतीह दीपे !॥

उस समय कुसुम्भ एवं कुंकुम वर्ण वाले वेष को धाकर करने वाली महिलाएं अलंकृत होकर वहां पर वैसे ही आयीं जैसे तीर्थंकर के जन्मोत्सव पर देवियां आती हैं। वे पवन की तरह अपने अंग को नचाने वाली महिलाएं दीपां को सम्मानित करती हुई यों बोल पड़ी—दीपां ! 'तू ही इस दुनिया में भाग्यवती है, सौभागिनी है।'

६०. सूनोर्मनोरममनोजनमोदकस्य,
संश्रुत्य जन्म जनितान्तरहृष्टपुष्टैः।
पौरैस्तमीक्षितुमतीवसमुत्सुकैस्तै-
र्हर्म्यं भृतं-स्तुतिमितो धनिबल्लुशाहः॥

सुहृद् जनों को आह्लादित करने वाले सुपुत्र का जन्म सुनकर आंतरिक उल्लास से उल्लसित पुरवासी बालक को देखने के लिए अत्यन्त लालायित हो उठे। उन प्रेक्षकों से वह घर ठसाठस भर गया। लोगों ने ऐसे पुत्ररत्न की प्राप्ति पर धनी सेठ बल्लुशाह की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

६१. आकर्षिकाऽऽकृतिधरं सुमनोमनोज्ञं
श्रीनेमिनाथमिव मेचकरत्नवर्णम्।
मर्त्याः कदापि ततृपुर्न तमीक्षमाणा,
मन्ये स्थिता अनिमिषा विवशाः प्रयातुम्॥

इस आकर्षक आकृति वाले, सहृदय व्यक्तियों के लिए मनोज्ञ, भगवान् नेमिनाथ की तरह मेचक मणि के समान श्याम वर्ण वाले बालक को देखते हुए भी लोग तृप्त नहीं हुए। अतः वे उसे अनिमिष नयनों से निहारते हुए मानो अनिमिष (देवरूप) ही बन गये और वहां से चले जाने में विवश-से हो गए।

---

१. जनिः—जन्म (जननं जनिरुद्भवः—अभि० ६।३)

६२. आगन्तुकान् निशमकानतिथीन् स बल्लु-
शाहः प्रसाहितमनाः सुमनोतिरेकैः ।
सन्मानदानविधिना विससर्ज ताँस्तद्,
वाचामगोचरमुदित्वरबुद्धिभाजाम् ॥

दर्शनार्थ आगन्तुक अतिथियों का बल्लुशाह ने भी खुले दिल से कल्पनातीत सम्मान आदि विधियों से स्वागत कर उन्हें विसर्जित किया। इन सब विधियों पर पूरा-पूरा प्रकाश डालना विशाल बुद्धि वाले धीधनों की वाणी का विषय भी नहीं बन पाता।

६३. जन्मक्रिया विधुविलोकनजागराद्या,
स्यात् संस्कृताऽथ दशमे सुदिने समेते ।
भावी यदेष वरभिक्षुरिति प्रकृत्या,
विज्ञाय भिक्षुरभिधां सुविधां चकार ॥

जन्मक्रिया—चन्द्र-दर्शन, जागरण आदि आदि का भी उस समय किया जाना सम्भव सा प्रतीत होता है और जन्म के दशवें दिन 'यह भविष्य में श्रेष्ठ भिक्षु होगा' ऐसा शिशु की प्रकृति से अनुमान लगाकर ही इसका नाम भिक्षु रखा गया।

६४. माहात्म्यमद्भुतममुष्य किमुच्यते तद्,
यस्योद्भवात्तिथिरपि क्षितिसर्वसिद्धा ।
मासोऽपि मांसलतमो निखिलेषु मास्सु,
जातो महान् शुचि[1]रसौ न च नाममात्रात् ॥

इस बालक के अद्भुत माहात्म्य के विषय में क्या क्या कहें ? इसका जन्म-दिन होने के कारण ही यह त्रयोदशी भी सर्वसिद्धा त्रयोदशी के नाम से भूतल में प्रसिद्ध हुई और इसके जन्म का मास होने के कारण यह आषाढ़ मास भी बड़े से बड़े दिनों वाला हो गया। संस्कृत में इस मास का नाम 'शुचि' है तो सिर्फ यह नाममात्र का ही शुचि न रहकर ऐसे महा-पुरुष का जन्म-मास होने के कारण वास्तव में शुचि—पवित्र हो गया।

६५. स्थास्यामि विष्टपसमक्षविशालवक्षा,
नोत्पिञ्जलः[2] कथमपि प्रतिपक्षलक्षैः ।
भावीति सूचनकृते किमु पालने[3]ऽपि,
उत्तानमेव शयनं सततं ततान ॥

१. शुचिः—आषाढ मास (—अभि० २।६८)
२. उत्पिञ्जलः—अत्यधिक व्याकुल (उत्पिञ्जलः····भृशमाकुले—अभि० ३।३०)
३. पालना – हिंडोला।

लाखों प्रतिपक्षियों के होते हुए भी मैं निर्भीकता पूर्वक समस्त संसार के सामने खुली छाती खड़ा रहूंगा, क्या ऐसी भावी सूचना देने के लिए ही वह शिशु पालने में भी सतत उत्तान—ऊपर पैर कर सोया रहता था।

६६ साक्षात् स्तनन्धयशिशुः शिशुशेखरोऽपि,
स्वाङ्गुष्ठपानमहिमानविधानतोऽयम् ।
भावार्हतोऽनुसरणं सरणं करिष्ये,
एवं निदर्शयति दर्शनदर्शकाणाम् ॥

शिशुओं में श्रेष्ठ वह दूधमुंहा बालक भी अपने अंगूठे को चूसने की क्रिया से साक्षात् उसकी महिमा को द्योतित कर रहा था, क्योंकि सभी तीर्थंकर बाल्यावस्था में अंगूठे को ही चूसते हैं, स्तनपान नहीं करते। देखने वाले दर्शकों को वह यह बता रहा था कि भविष्य में मैं भाव-तीर्थंकरों का अनुसरण करूंगा।

६७. रंरम्यमाण इह किं लुठनानुलोठैः,
स्वीयं वदन् समयसिन्धुनिमन्थनत्वम् ।
अङ्कान्तरग्रहपुरः स्फुरदूर्ध्वबाहु-
रुच्चैर्गमोऽहमिति किं गमयन् बभौ सः ॥

ऐसी तर्कणा हो रही थी कि क्या यह बालक भूमि पर बार-बार लुठता हुआ, खेलता हुआ यह संकेत दे रहा है कि भविष्य में वह जैन आगम-सिन्धु का इसी प्रकार मंथन करेगा? एक गोद से दूसरी गोद में जाता हुआ यह बालक अपनी भुजाओं को ऊंची फैलाकर 'मैं ऊंचा ही जाने वाला हूं' क्या ऐसा द्योतित तो नहीं कर रहा है?

६८. यो बद्धमुष्टिरपि सन् कृपणत्वहारी,
यो बद्धमुष्टिरपि सन् प्रणयप्रचारी।
यो बद्धमुष्टिरपि सन् हृदयापहारी,
यो बद्धमुष्टिरपि सन् भुवनोपकारी ॥

संस्कृत भाषा में बद्धमुष्टि शब्द का प्रयोग कृपण, निष्प्रेम, अमन-मोहक एवं अपकारक आदि अर्थों में होता है। पर यह शिशु (शैशवकाल में) बद्धमुष्टि होते हुए भी कृपणता का नाश करने वाला, प्रेम का प्रसार करने वाला, हृदय को खींचने वाला एवं विश्व का उपकार करने वाला है। इसलिए 'बद्धमुष्टि' शब्द के सारे अर्थ इसने बदल डाले।

६९. उल्लोलितामृतसरोगसुधांशुमूर्त्ति-
नृत्यत्सुरेश्वरशचीतरलीयमूर्त्तेः ।
तेजःप्रतापविजयिध्वजधूतमूर्त्ति-
र्यो दर्शनार्थिकनृणाञ्च विनोदमूर्त्तिः ॥

अमृत सिन्धु में कल्लोल करते हुए चन्द्रमा की तरह शीतल, नृत्य करती हुई इन्द्राणी के हार के मध्यस्थित मुक्ताफल के समान चपल, तेज और प्रताप से फहराते हुए विजय-ध्वज के समान विजयी, यह शिशु दर्शनार्थी लोगों को आनन्दित करने के लिए विनोद का मूर्त्त रूप धारण कर रहा था ।

७०. ज्योत्स्ना यथा सितदला सुकलाभिरिन्दुं,
कल्पद्रुमं सुरगिरेर्वसुधा सुधाभिः ।
माता तथाऽर्भकममुं स्तनदिव्यदुग्ध-
धाराभिरिभ्यवनिता सुतरां पुपोष ॥

शुक्ल पक्ष की चन्द्रिका जैसे अपनी कलाओं से चन्द्रमा को तथा सुमेरु की धरा कल्पतरु को अमृत से पोषित करती है ठीक वैसे ही सेठ बल्लुशाह की धर्मपत्नी माता दीपां ने भी अपने स्तनों की दिव्य दुग्ध-धारा से सदा पुत्र का पोषण किया ।

७१. प्राग् नन्दना जगति चञ्चलचञ्चला ये,
पश्चात्त एव किमु कार्यकरा भवेयुः ।
नो शीतमृण्मयनिभा इति किंवदन्तीं
सार्थां चिकीर्षुरिव एष तथाविधः किम् ॥

एक किंवदन्ती है कि जो बचपन में चञ्चल होता है, वही आगे जाकर कुछ कर गुजरने वाला होता है, किन्तु प्रारम्भ में ही जो ठण्डी मिट्टी (निष्क्रिय) होता है वह कुछ भी नहीं कर सकता । क्या इसी कहावत को चरितार्थ करने के लिए ही यह शिशु अपने शैशवकाल में इतना चंचल था ?

७२. गच्छन् स रिङ्खणगतैर्वलिताऽऽननेन,
पश्चात् पुनः स्वजननीं दरिदृश्यमानः ।
हर्षं कियन्तमकरोच्च तदीयमानं,
जानाति सैव विधिवत् परमेश्वरो वा ॥

घुटनों के बल रेंगता हुआ और बार-बार मुड़कर माता की ओर देखता हुआ यह शिशु अपनी माता को कितना हर्षित करता होगा, यह तो उसकी मां ही जान सकती है या भगवान् ही जान सकते हैं ।

७३. यन्मुन्मुनालपनमाप्य पिबन् सुधाभं,
वक्ता स्वकर्णपुटकैः कथमेष तृप्येत् ।
पश्यंस्तथा दलितचन्द्रकणाभदन्त-
ज्योत्स्नां किरन्तमभितः सततं हसन्तम् ॥

चन्द्रकण की आभा को तिरस्कृत करने वाले दांतों की किरणों को चारों ओर फैलाते हुए तथा सतत हंसमुख रहने वाले इस बालक की ओर देखते हुए, उसकी अमृततुल्य तुतलाहट को कानों से सुनते हुए पिता बल्लूशाह कैसे तृप्त हो सकते हैं ?

७४. सर्वोच्चसुन्दरतमस्तमसां निहन्ता,
नीलारविन्दवदनो मदनप्रमाथी ।
वृद्धिं गतः पृथुक एष समैः प्रतीकै-
रभ्रे यथा हि मुदिरो मरुतोत्तरेण ॥

अत्यंत सुन्दर, अन्धकार का नाश करने वाले, नीलकमल की आकृति वाले तथा कामविजेता इस बालक के सभी अवयव वैसे ही वृद्धिगत होने लगे जैसे गगन में स्थित मेघ उत्तर दिशा की हवा से वृद्धिगत होता है ।

७५. पित्राज्ञया शुभदिने विनयान्निशुल्का-
दार्याद् गुरोरधिगतैहिकसर्वविद्या ।
औत्पत्तिकप्रतिभया स्वकशैशवेऽपि,
के के न विस्मितिमिता अमुना जगत्याम् ॥

किसी शुभ दिन में पिता का आदेश पाकर वह बालक अवैतनिक आर्य गुरु के पास विनयपूर्वक विद्या पाने के लिए गया और ऐहिक सभी विद्याओं में कुशलता भी प्राप्त की । इस शिशु ने बाल्यकाल में ही अपनी औत्पत्तिकी बुद्धि से किन-किन को विस्मय में नहीं डाला ?

७६. प्राक् शिक्षिताऽच्छयतनाविधिरीतिनीतिं,
धर्मक्रियां स्वतनयं प्रति शिक्षयित्री ।
नो कैवलैहिकविधां वरमातृदीपा,
किं प्रेम तच्च जिनधर्मपराङ्मुखं यत् ॥

माता दीपां ने अपने इस लाडले लाल को केवल ऐहिक विधियां ही नहीं बतलायीं पर उसने उसे प्रारंभ में ही धर्म की उत्तम यतनाविधि, रीति, नीति आदि धर्मक्रियाएं भी सिखलादी थीं । वह प्रेम ही क्या जो जिनधर्म के विपरीत हो !

७७. पश्चान्न सत्कृतिरतो ललितानि तानि,
सामुद्रिकैर्निगदितानि सुलक्षणानि ।
स्पर्द्धोत्सुकानि गुणपात्रपवित्रगात्रे,
प्रोल्लेसुरस्य गगने इव तारकाणि ॥

उस समय सामुद्रिकशास्त्रियों द्वारा कथित जो अच्छे अच्छे ललित लक्षण थे उनमें स्पर्धा पैदा हो गई। उन्होंने सोचा, इनके बाद हमें सत्कार नहीं मिलेगा, अतः वे एक दूसरे से स्पर्द्धा करते हुए, एक से एक आगे बढ़कर इनके गुणपात्र रूपी पवित्र गात्र में वैसे ही शोभित हो गए जैसे आकाश में तारे।

७८. केशालिरस्य सुरकेलिगिरीशशृङ्गे,
नव्योदयच्चलरुहाङ्कुरराजराजी ।
वक्रत्वमत्र हृदयाद् बहिरेत्य वासा-
ऽभावादिहैव वरमण्डनतां गतं तत् ॥

सुमेरु शिखर पर नयी उदित होती हुई चञ्चल दुर्वांकुरों की श्रेणियों की तरह ही इनके मस्तक पर केशों की श्रेणियां सुशोभित हो रही थीं। और मानो वक्रता ने इनके हृदय में निवास-स्थान न पाकर केशों में घुंघरालेपन के रूप में निवास पा लिया और केशों की वह वक्रता भी उनके लिए अलकार बन गई।

७९. उत्तुङ्गवर्त्तुलममुष्य शिरःप्रदेशे,
माङ्गल्यकामकलशोपमतां दधानम् ।
उष्णीष[1]नामकमिदं महिमानिधानं[2],
काले कलौ युगप्रधानपदत्वसूचि ॥

इनके शिरःप्रदेश में ऊंचा, गोलाकार, मंगल-कामकुंभ की उपमा को धारण करने वाला, जो उष्णीष नामक महिमा-निधान था, वह इनके इस कलिकाल में युगप्रधान पद की सूचना देने वाला था।

८०. आर्योपकारि यदनार्यविकारहारि,
सारांशतत्त्वमणिरत्नविकाशकारि ।
यन्मस्तकं प्रथमचक्रधरार्षभेर्वा,[3]
छत्रं समुच्छ्रितमवाङ्वदनं चकाशे ॥

१. उष्णीष—मस्तक पर मांगलिक चिन्ह जो भविष्य की पवित्रता का द्योतक है। (आप्टे)
२. आ समन्तात् निधानं—आनिधानं। महिम्नः आनिधानं इति महिमानिधानम्।
३. वा—इवार्थे।

आर्यों का उपकार करने वाला, अनार्यों के विकार को हरण करने वाला, सार-सार अंशों वाले तत्त्वरूप मणि-रत्न द्वारा प्रकाश करने वाला, प्रथम चक्रवर्ती भरत के खुले हुए छत्ररत्न की तरह इसका मस्तक देदीप्यमान हो रहा था।

८१. लेखा[१] त्रिविष्टपतले भविताऽस्य तस्माद्,
रेखात्रयाङ्कितविशालललाटपट्टः।
सौम्यातिशायिगुणतो विजिताष्टमीन्दु-
दत्तार्द्धभाग इव वा विललास भाभिः[२]॥

तीन लोक में इसकी परंपरा चलेगी, मानों इसको सूचित करने के लिए ही इनका विशाल ललाट पट्ट तीन रेखाओं से अंकित था, अथवा सौम्य गुण से जीते हुए अष्टमी के चान्द ने तो मानों पराजित होकर अपना आधा भाग ही इनको दे दिया हो, ऐसा इनका अर्धचन्द्राकार ललाट किरणों से चमक रहा था।

८२. यस्य भ्रुवौ भ्रमरभङ्गुरभासमाने,
कामं विजेतुमनिशं दृढचापयष्टी।
आजन्मभिन्नवनिताव्रतलोचनाभ्या-
मुत्थापिते इव नितान्तमदीपिषाताम्॥

जिसके भ्रमर की तरह श्यामल और टेढे भ्रू देदीप्यमान होते हुए ऐसे लगते थे मानों आजन्म परदारव्रत वाले लोचनों ने कामदेव को जीतने के लिए ही निरन्तर दृढ चापयष्टी उठा रखी हो।

८३. शङ्खो[३]ऽप्यसंख्यविधुदर्पणदीधितीनां,
प्रामाणिकप्रतिभटप्रतिसाक्षिणाञ्च।
आत्मान्तरेन्द्रियविकारमहारिपूणां,
प्रौद्यज्जयेऽस्य नृपतेः किमु वादनार्हः॥

क्या सख्यातीत चन्द्र एवं दर्पणों की किरणों पर तथा गणमान्य प्रतिपक्षियों की मिथ्या साक्षियों पर या अपनी इन्द्रियों के विकार रूपी महाशत्रुओं पर विजय पाने के लिए ही इस (भिक्षु) नृप के बजाने के लिए यह कनपटीरूप विजयी शंख है।

१. लेखा—शृंखला, परंपरा (राजिर्लेखा ततिर्वीथी—अभि० ६।५९)
२. भाः—किरण (भाः प्रभावसु ...अभि० २।१४)
३. शंखः—कनपटी (शंखो भालश्रवोन्तरे—अभि० ३।२३८)

८४. मध्यालिशालिपटुपाटल[1]पुष्परम्ये,
यस्याऽऽयते द्विनयने विमले विशाले ।
सर्वान्धकारमपहर्तुमिव प्रसारि-
तेजस्विपुञ्जकलिते स्थिरकृष्णपक्ष्मे ।।

स्थिर और काली भौंहों वाले, समस्त अंधकार को दूर करने में समर्थ ऐसे तेजपुंज वाले, निर्मल, विशाल और आयत नेत्र वैसे ही सुशोभित हो रहे थे जैसे कि मध्यस्थित भ्रमर से श्वेत-रक्त पुष्प ।

८५. पूर्वाद्रिकल्पमिदमाननमुच्चमस्य,
संलक्ष्य किं नयनयुग्ममिषाद् रवीन्दू ।
अभ्युद्गतौ युगपदेव युगप्रकाशा-
वुष्णेतरावनिशमादधतौ हिताय ।।

इसके ऊंचे मुंह को देख निषधाचल के भ्रम से क्या सूर्य और चन्द्रमा दोनों ही दो आंखों के मिष से यहां पर उदित हुए हैं, जो लोक-हितार्थ शीत और उष्ण—दोनों ही प्रकार के प्रकाश को एक साथ सदा करते रहते हैं ?

८६. दीर्घायुरामयविवर्जितमुग्रजैत्रं,
व्यङ्क्तुं लसल्लुलितलोलितदिव्यकर्णौ ।
कर्णौ तथा भवितुमक्षियुगं यदन्ते,
संसेव्यमानमनिशं प्रतिभातमेव ।।

शिशु के लटकते हुए चमकदार तथा लंबी लोलकी वाले दोनों ही दिव्य कान उसके दीर्घायु, नीरोग और महान् विजेता होने की सूचना देने वाले थे । आंखों ने भी कानों की तरह महान् बनने के लिए ही मानों उनके निकट पहुंच उनकी अनवरत सेवा प्रारम्भ कर दी । (इससे आंखों की लम्बाई व सुन्दरता सिद्ध होती है ।)

८७. फुल्लौ कपोलफलकौ निखिलोच्चभावा-
वन्तःस्फुरन्निखिलविश्वविनोदसारौ ।
यद्वा श्रुताश्रितसुरी[2] भ्रमिता द्विरूपा,
वस्तुं बहिर्व्यरचयन् मुकुरासने द्वे ।।

---

१. पाटल—श्वेत-मिश्रित लाल (श्वेतरक्तस्तु पाटलः—अभि० ६।३१)
२. श्रुताश्रितसुरी—सरस्वती

समस्त उच्च कोटी के भावों वाले, अन्तर् में स्फुरित तथा अखिल विश्व को आनन्दित करने वाले, ऐसे दोनों कपोल-फलक फूले हुए थे, अथवा श्रान्त बनी हुई (थकी-मांदी) सरस्वती ने अपने दो रूप बना बाहर विश्राम पाने के लिए ही इन कपोल-फलकों के मिष से ये दो मुकुरासन बनाये हैं।

८८. दीपप्रभं मनुजमानसदीपनाय,
वक्त्रं यदीयमवलोक्य विलोकनीयम् ।
श्रान्ताऽऽहता चलचला पवनप्रहारैः,
किं संस्थिताऽत्र शुभदीपशीखेव नासा ।।

इनका मुख मनुज के अन्तःकरण को आलोकित करने के लिए दीपक के समान है, दर्शनीय है। यह देखकर पवन के झकोरों से श्रान्त, आहत एवं चलाचल बनी हुई शुभ्र दीप-शिखा नासिका के मिष से यहां स्थिर हो गई।

८९. आरोहणावतरणाय च योगदृष्टि-
निःश्रेणिका धृतवती किमु यस्य नासाः ।
कृष्णाशयात् समबलात् नहि योद्धणी वा,
द्वयक्ष्णोस्ततोन्तरगतः किमु सीमदण्डः ।।

क्या इनके नाक के मिष से यहां पर योगदृष्टि ने अपने चढने और उतरने के लिए ही यह निःसरणी रखी है या काली कीकी अर्थात् मलिन आशय वाली एवं समान शक्ति वाली ये दोनों आंखे आपस में झगड़ न पड़े, इसलिए यहां पर इन दोनों आंखों के बीच में यह नाक नहीं, अपितु प्राकृतिक सीमादण्ड है ?

९०. यस्याशयार्हतवचोवरमन्दिरस्य,
नाना सुवर्णमणिसंवननैर्[1] भृतस्य ।
शुभ्रौ कपाटपरिघार्पणतावदान्यौ,[2]
बिम्बो[3]पमौ यदधरौ सुमुदा प्रजातौ ।।

उनका हृदय भगवद् भारती का भव्य भवन था। वह नाना प्रकार की सुवर्ण-मणियों और मोहक मंत्रों से भरा हुआ था। उनके मंडलाकार दोनों ही अधर उस भव्य मंदिर के कपाट की अर्गला के समान अर्पणता और वदान्यता के द्योतक थे।

---

१. संवननम्—वशीक्रिया (संवननं वशीक्रिया—अभि० ६।१३४)
२. वदान्यः—दानशील (दानशीलः स वदान्यः—अभि० ३।१५)
३. बिम्बम्—मंडल (बिम्बं तु मण्डलम्—अभि० २।२१)

९१. द्वात्रिंशता पुरुषपुङ्गवलक्षणैर्यन्,
नित्यं विभास्यति जगच्छिशुशेखरोऽयम् ।
तत्प्रत्ययाय लपने दृढपंक्तिबद्धा,
द्वात्रिंशदुज्ज्वलतमा दशना हि दृश्याः ॥

पुरुष पुंगवों के बत्तीस लक्षणों से युक्त यह शिशुशेखर इस विश्व को सदा प्रकाशित करता रहेगा, ऐसा विश्वास दिलाने के लिए ही मानों इसके मुंह में ये पंक्तिबद्ध बत्तीस उज्ज्वलतम दृढ दान्त चमक रहे हैं।

९२. श्रीवीतरागवदनोद्गतवाग्रसज्ञा,
पद्मद्रहोद्भवसुराम्बुवहारसज्ञा ।
सर्वं पवित्रयितुमेव रसाऽरसज्ञा,
लीलारविन्दविदिताऽरुणिता रसज्ञा ॥

शिशु की रसज्ञा—जिह्वा लक्ष्मी के लाल कमल की भांति लाल थी। वह श्री वीतरागदेव के मुख से निकली हुई वाणी की रसज्ञा—रस को जानने वाली तथा पद्म द्रह से उद्भूत सुरसरिता की रसज्ञा—उसके जल को जानने वाली थी। वह सबको पवित्र बनाने के लिए रसा—पृथ्वी थी तथा अरसज्ञा—इन्द्रियो के विषय-रस से अपरिचित थी।

९३. मन्ये यदीयरसनाङ्गणसारसार-
माणिक्यरत्नरचनाञ्चितरङ्गमञ्चः ।
आजन्मवैरमपहाय रमा च विद्या,
हल्लीसकं[1] सहसनं तनुतः स्म वाग्भिः ॥

मानों अपने जन्मजात वैर को भूलकर लक्ष्मी और सरस्वती का वाणी के साथ मिलकर हास्यपूर्वक नाटक करने के लिए शिशु का रसनाङ्गण एक प्रकार के सार-सार माणिक्य रत्नों से बनाया हुआ रङ्गमञ्च था।

९४. यस्याधरः परिसरे पिशुनत्वचाटु-
कार्यादिदोषहननेष्वऽसिकं[2] बभार ।
भावी यदेष पृथुकोऽपि सुवृत्तशाली,
तस्माद् बभूव चिबुकं[3] किमु चारुवृत्तम् ॥

---

१. हल्लीसकं—मंडलाकार नृत्य (मण्डलेन तु यन्नृत्यं स्त्रीणां हल्लीसकं हि तत्—अभि० २।१९५)

२. असिकम्—ओष्ठ के नीचे वाला भाग, ठुड्डी (अभि० ३।२४५) अथवा खड्ग।

३. चिबुकम्—ठुड्डी (असिकाधस्तु चिबुकं स्याद्—अभि० ३।२४६)

उसके अधरों ने मानों अपने परिसर में फैले हुए पिशुनता और चाटुकारिता आदि दोषों को समाप्त करने के लिए यह ठुड्डी अर्थात् खड्ग धारण कर रखी है। यह कुमार एक उच्च कोटी का चरित्र सम्पन्न व्यक्ति होगा क्या ऐसा सूचित करने के लिए ही इसकी ठुड्डी सुंदर गोलाकार बनी है ?

९५. श्रीपद्मरागमणिविद्रुमबद्धपालि-
स्तीरेद्विज[1]स्फटिकरत्नविबद्धतीर्थः ।
पूर्णामृतैर्लहरितोऽद्भुतभारतीनां,
क्रीडातडाग इव यस्य मुखारविन्दम् ॥

पद्मराग एवं विद्रुम मणियों से बन्धी हुई पाल वाले, तट पर द्विज (दांत, पक्षी) रूप स्फटिक रत्नों से बने हुए घाट वाले और पूर्णामृत (पानी, थूक) से लहराते हुए अद्भुत भारती के क्रीडा तडाग की तरह इसका मुखारविन्द सुशोभित हो रहा था।

९६. येनाऽऽर्हती त्रिभुवनान्तरसत्यसत्या-
मुद्घोषणां घनरवां यदुदारघोषाम् ।
कर्त्ता यतोऽस्य भयवर्जितवीरवृत्ते-
रेखात्रयं समभवत् किमु कम्बुकण्ठे[2] ?॥

यह निर्भीक और वीरवृत्ति वाला शिशु जिस कण्ठ से तीन भुवन में घनाघन घोष के समान उदार घोषवाली वीतराग वाणी की घोषणा करने वाला होगा, क्या ऐसा संकेत करने के लिए ही इसकी ग्रीवा पर ये तीन रेखाएं खचित हुई हैं ?

९७. पीनौ दृढौ मसृणमांसलसन्धिबन्धौ,
स्कन्धौ महाककुदमत्ककुदोपमेयौ ।
यस्याऽक्लमौ जिनपधर्मधुरन्धरत्व-
संसूचकौ किमिति मानवमेदिनीषु ?॥

महान् वृषभ के ककुद के समान पुष्ट, दृढ, स्निग्ध एवं मांसल सन्धि वाले इसके ये स्कन्ध क्या इस मानव मेदिनी पर अश्रान्त रूप से जैन धर्म की धुरा को वहन करने की सूचना दे रहे हैं ?

---

१. द्विजाः—दांत (द्विजा रदाः—अभि० ३।२४७)
द्विजः—पक्षी (द्विजपक्षिविष्किर···अभि० ४।३८२)
२. कम्बुकण्ठः—तीन रेखायुक्त गर्दन (अभि० ३।२५०)

९८. देवाधिदेवगुरुधर्मकृते वधान्ध-
श्रद्धालुनेतृनरकाऽऽपतयालुमुख्यान् ।
आडम्बराम्बरघनाघनघूर्णितान्नू-
नुद्धर्तुमस्य किमु जानुविलम्बिबाहू ।।

देव, गुरु और धर्म के लिए हिंसा करने वाले अन्ध श्रद्धालुओं में अग्रसर, नरक में पतनशील, आडम्बर के अम्बर में घनाघन घटा की तरह घूर्णित मनुष्यों का उद्धार करने के लिए क्या इस शिशु के बाहु घुटनों तक लंबे हुए हैं ?

९९. नेत्रानलेन निहतो मदनो महेशै-
र्मत्स्यस्तदस्य भयतः परिहाय केतुम् ।
सिन्धौ गिलागिलमवेक्ष्य शरण्यकामी,
सव्यान्यपाणिकमलं समलङ्चकार ।।

मानो महादेव के नेत्र-अनल से कामदेव के भस्मीभूत होने पर, उसकी ध्वजा में स्थित मत्स्य भय से ध्वजा को छोड़ सिन्धु में आया, पर वहां भी 'मच्छ-गिलागिल' देख शरण की भावना से भिक्षु के इस दक्षिण हाथ में आ बैठा, उसे अलंकृत किया । (शिशु के दक्षिण हाथ में मत्स्य का चिन्ह था ।)

१००. यत्कान्तिनीरपरिपूरभृताच्छराजी-
राजन्नदीनदनिपातविवृद्धवीचिः ।
मत्स्याम्बुजादिशुभसूचकलक्षणैर्यो,
हस्तः समुद्र इव संशुशुभे ससीमः ।।

जिसकी कान्ति रूप पानी के पूर से भरी हुई स्पष्ट छोटी-बड़ी रेखाओं रूप नदी-नदों के निपातों से बढते हुए कल्लोलों वाला, मत्स्य और कमल आदि शुभ लक्षणों वाला उसका हाथ ससीम—मर्यादित सिन्धु के समान सुशोभित हो रहा था ।

१०१. तापत्रिकैस्त्रिभुवनं सततं ज्वलन्तं,
निष्काशितुं द्रुततरं जिनपत्रिरत्नैः ।
लेखाः[1]कृताः स्मरयितुं किमु ता हि तिस्रः,
प्रोल्लेसुरस्य सुतरां मणिबन्धरेखाः ।।

---

१. लेखा—रेखा (राजिर्लेखा ततिर्वीथी—अभि० ६।५९)
२. सूनृतं—शुभ, सत्य (प्रियसत्यं तु सूनृतम्—अभि० २।१७८)

तापत्रय से सतत संतप्त इस विश्व का शीघ्रातिशीघ्र उद्धार करने के लिए जिनेश्वर देव द्वारा प्रणीत रत्नत्रयी—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र ही समर्थ है। इसकी स्मृति कराने के लिए ये तीन रेखाएं मणिबन्धरेखा के रूप में अनवरत दीप्तिमान हो रही थीं।

१०२. अंगुष्ठ उन्नत इवाङ्गुलयोऽस्य शोणा-
श्छिद्रातिगाः सुसरला अवदातपर्वाः।
साङ्गुष्ठपुष्टलसिताङ्गुलिमस्तकेषु,
चक्राणि सूनृतवदद्दशसङ्ख्यकानि ॥

उन्नत अंगुष्ठ की तरह उसकी अंगुलियां पुष्ट थीं। वे रक्त वर्णवाली, निश्छिद्र, सरल एवं स्पष्ट पर्वों वाली थी। अंगुष्ठ सहित पुष्ट एवं सुन्दर अंगुलियों के ऊपरी भाग में भावी शुभ के सूचक दश चक्र थे।

१०३. अंगुष्ठपर्वसु यवा बहुशोभमाना,
यस्य प्रतापतुरगस्य विशेषपुष्ट्यै।
हस्तामरीयतरुपल्लवकान्तिकान्ताः,
कामाङ्कुशाः शुशुभिरे निजनामसत्याः ॥

शिशु के प्रतापरुपी घोड़े को विशेष रूप से पुष्ट बनाने के लिए ही मानों इसके अंगुष्ठ पर्वों में रेखांकित यव अत्यन्त शोभा पा रहे थे। शिशु के हाथ रूपी कल्पवृक्ष के पल्लवों की कान्ति की तरह ही कमनीय कामाङ्कुश (नख) अपने नाम को सार्थक करते हुए मानो देदीप्यमान हो रहे थे।

१०४. वक्षोऽस्य पण्डकवनीयशिलाविशालं,
रौद्रैरुपद्रवशतैरपि निष्प्रकम्पि।
सत्यप्रकाशनबलिष्ठमनिष्टकुण्ठं,
साक्षाद् भवेत् सुरगुरुर्वधकस्तथाऽपि ॥

इसका वक्षस्थल पंडक वन की शिला की भांति विशाल और सैकड़ों भयंकर उपद्रवों से भी निष्प्रकंप था। वह सत्य-प्रकाशन में बलिष्ठ तथा अनिष्ट—अनौचित्य के लिए क्रूर चाहे फिर उसे करने वाले साक्षात् बृहस्पति या यमराज ही क्यों न हों?

१०५. प्रामाणिकेषु परमां हृदयप्रतिष्ठां,
यस्याऽप्रमाणिकमुरोऽपि मुदा प्रदात्।
श्रीवत्स एष किमु तत् परिवीक्षणाय,
मध्यस्थवत् तदुपकण्ठगतो हि चित्रम् ॥

१. अप्रमाणिकं—अपरिमित, विशाल।

जिसका विशाल हृदय प्रामाणिक पुरुषों में परम हार्दिक प्रतिष्ठा को खुशी-खुशी प्राप्त कराने वाला हो, ऐसे उस हृदय का निरीक्षण करने के लिए ही यदि यह श्रीवत्स [का चिन्ह] मध्यस्थ की तरह यहां हृदय के बीच आ बैठा हो, इसमें क्या आश्चर्य !

१०६. रेखात्रयी यदुदरे प्रतिबोधयित्री,
रत्नत्रयेण भरितो जठरोऽस्य भावी ।
गम्भीरनाभिसविधे प्रतिभासमानो,
यः स्वस्तिकः सकलमंगलतानुशंसी ।।

इस शिशु का उदर रत्नत्रय से भरा हुआ रत्नों का भण्डार होगा, मानो ऐसा प्रगट करने के लिए ही इसके उदर पर तीन रेखाएं खचित हैं तथा सभी प्रकार के मंगल की सूचना देने वाला स्वस्तिक का चिह्न भी इसके गंभीर नाभि कमल के पास भासमान हो रहा था ।

१०७. चिह्नं ध्वजाख्यमपि घोषयदेवमेव,
धर्मध्वजोऽस्य निखिले परिधूयमानः ।
प्रख्यातिमेष्यति शुभामभिधानमस्य,
वर्षाणि विंशतिशतानि वसुन्धरायाम् ।।

इस विश्व में इसकी धर्म-ध्वजा फहरायेगी, इसका नाम इस धरा पर दो हजार वर्ष तक अमर रहेगा और यह शिशु शुभ प्रख्याति को प्राप्त करने वाला होगा, ऐसी उद्घोषणा करने वाला ध्वज-चिन्ह भी वहां पर चिह्नित था ।

१०८. गम्भीरनाभिरखिलाङ्गवरा सुवृत्ता-
ऽऽवर्त्ता भृतह्लद इवाऽस्य बभौ नितान्तम् ।
स्फारायताऽतिकठिना कटिरस्य पुष्टा,
वक्षःस्थलेन तुलितुं किमु चेष्टमाना ।।

समस्त अंगों की आधारभूत, दक्षिणावर्त वाली सुन्दर और गोलाकार गंभीर नाभि जल से परिपूर्ण सुन्दर सरोवर की तरह प्रतीत हो रही थी और लम्बी-चौड़ी तथा अति कठिन पुष्ट कटि से ऐसा भान होता था कि मानों वह वक्षःस्थल की बराबरी करने के लिए ही सचेष्ट-सी हो रही हो ।

१०९. पीनौ क्रमेण मृदुलौ मसृणौ यदस्य,
चक्रेश्वरस्य गजरत्नकरोपमोरू ।
संरक्षितुं जिनमतप्रपतत्प्रसादं,
स्तम्भोपमा किमभवत् परिपुष्टजङ्घा ।।

शिशु की परिपुष्ट जंघाएं चक्रवर्ती के गजरत्न की सूंड की भांति क्रमशः पुष्ट, कोमल और स्निग्ध थीं। वितर्कणा होती थी कि क्या ये जिन-शासन के ढहते हुए प्रासाद को स्थिर रखने के लिए स्तंभ हैं ?

११०. द्वन्द्वं मिथस्तत इतः परिबृंहणाय,
न स्यात् कदाप्युभयतः प्रसृतोरुमध्ये।
जानुद्वयं दृढसमुन्नतमस्य सीमा-
स्तम्भोपमं समभवत् किमतोऽन्तराले ॥

ऊपर या नीचे बढने के लिए जघा एवं उरुओं में परस्पर झगडा न हो जाए, मानो इसीलिए ये दोनों मजबूत व समुन्नत जानु सीमा-स्तम्भ की तरह बीच में आकर खड़े हुए हैं।

१११. आवां पवित्रयितुमेव विभाविनौ स्वः,
गाङ्गेयसैन्धववहाविव तस्य हर्षात्।
पादौ यदस्य भवतः स्म सुपुष्टपुष्टौ,
कूर्मोन्नतौ मृदुमृदू मसृणौ मनोज्ञौ ॥

इनके पुष्ट, कोमल, चिकने, मनोज्ञ और कूर्मोन्नत दोनों पैर मानों हर्ष के साथ ऐसा बतला रहे हैं कि हम गंगा और सिन्धु नदी की भांति ही सारे भूतल को पवित्र करते रहेंगे।

११२. अस्मत्सु वाग् निवसति स्वयमेत्य लक्ष्मी-
रस्मानुपेत्य तनुतेऽतनुकेलिलीलाम्।
केऽन्ये परन्तु यदितो जितवारिजानि,
पद्भ्यां समर्पितरमाणि सरोगतानि ॥

पद्मों ने सोचा, हमारे ऊपर सरस्वती स्वयं आकर निवास करती है तथा लक्ष्मी स्वयं हमें प्राप्त कर नाना प्रकार की क्रीड़ाओं से लीला करती है। औरों की तो बात ही क्या, परंतु इस शिशु के पादपद्मों की सुन्दरता के सामने उन कमलों का वैभव फीका पड़ गया, अतः वे पराजित होकर ही मानों इसके चरण कमलों में अपनी सुन्दरता को उपहृत कर सरोवर में जा बसे।

११३. पादारविन्दयुगलाङ्गुलिभिः प्रवाला,
लज्जाकुलास्तनुतनुत्वमिता यदस्य।
ऊर्ध्वं तरोर्निजगलं परिबध्य खिन्ना,
देहं मुमुक्षुतरलाः किमु ते तदर्थम् ॥

इसके दोनों पैरों की अंगुलियों की सुन्दरता से लज्जित होते हुए मानो किसलय संकोच से अति तनुता को प्राप्त हुए और इतने खिन्न हो गए कि वे अपने शरीर का त्याग करने के लिए आतुर होकर अपने गले को वृक्ष के ऊपर बांध कर लटकने लगे।

११४. अद्यापि यस्य चरणेषु विलग्नतो हि,
प्राप्ता 'महा'सहितराजपदं वयं तत्।
पश्चात्तु किं पदनखाः स्फुरदंशुहस्तै-
रेवं लपन्त इव ते किमु तस्थिवांसः॥

जिनके चरण कमलों में लगे रहने मात्र से ही आज हमने 'महाराज' पद पा लिया तो फिर बाद में तो न मालूम हम क्या बन जायेंगे, मानों ऐसा कहते हुए प्रस्फुटित किरण-समूह युक्त वे चरण-नख वहां पर स्थित थे।

११५. याम्ये क्रमे स्फुटतरा विततोर्ध्वरेखा,
संवादिनी गरिमगौरवचारुतायाः।
यस्योल्वणारुणचरित्रमहामहिम्नः,
एष्यज्जिनेन्द्रपदचिह्नपथानुगस्य॥

उसके दक्षिण पैर में स्पष्ट और लंबी ऊर्ध्वरेखा उसके गरिमामय श्रेष्ठ गौरव की संवादिनी थी। वह यह बता रही थी कि यह व्यक्ति स्पष्ट और कठोर चारित्र की महामहिमा से मंडित तथा भविष्य में जिनेन्द्र के पद्चिन्हों से चिन्हित मार्ग का अनुसरण करने वाला होगा।

११६. आकर्षणाय कुशला कुशलोत्तमानां,
संबोधनाय विदुरा छिदुराशयानाम्।
संस्थापनाय तरला तरलार्थिकाणां,
यस्याकृतिर्वसुमती सुमतीन्दिरायाः॥

उसकी आकृति कुशल एवं उत्तम व्यक्तियों को आकर्षित करने में निपुण, संशयशील पुरुषों के संशय को दूर करने में दक्ष, आगमार्थ के जिज्ञासु व्यक्तियों को संतुष्ट करने में चपल तथा सुमतिरूप लक्ष्मी की आधार भूमी थी।

११७. कादम्बिनीहृदयसाररसं विनीय,
नीलाणुनीलमणितत्त्वमुपेत्य सर्वम्।
किं बाललवस्य मसृणा रचिता तनुत्वक्,
तस्माद् दिदृक्षुनयनाब्जविनोदनीया॥

ऐसा लग रहा था मानो मेघमाला के हृदय का सार रस लेकर तथा नील अणुओं एवं नीलमणियों से समस्त सारभूत तत्त्व को लेकर ही बल्लुशाह के लाल के शरीर की स्निग्ध त्वचा बनी हो और इसीलिए तो वह दर्शकजनों के नेत्र-कमलों को आनन्दित करने में समर्थ हो रही थी।

११८. रोमाणि तस्य विसतन्तुतनुत्वशोभां,
संहृत्य यस्य वपुषि प्रतिमाश्रितानि।
तस्मात् त्रपाभिरुदके किमु पद्मदण्डा,
मग्नाः कथं श्रियमृते मुखदर्शकाः स्मः॥

ये रोम निश्चित ही कमल नाल की सुकुमार और तनु शोभा को हरण कर इसके शरीर की आकृति पर आश्रित हो गये हैं। इसीलिए मानो श्री—शोभा के बिना लज्जित होते हुए ये पद्मदण्ड अपना मुंह न दिखाने के लिए पानी में डूब गये हैं।

११९. भक्तैरुपर्युपरि भिन्नविलक्षणैस्तैः,
सल्लक्षणैर्विनिहितं स्वपदं यदङ्गे।
अम्भोभिरम्बुदयिते[1] वसुभिः सहैव,
लोकेऽर्कचन्द्रकिरणैरुडुभिर्यथैव॥

भिन्न भिन्न विशेषता वाले इन सल्लक्षण रूप भक्तों ने अहमहमिकया आगे बढकर इसके शरीर में अपना स्थान वैसे ही जमा लिया जैसे कि रत्नों के साथ पानी समुद्र में और नक्षत्रों के साथ सूर्य-चन्द्र की रश्मियां इस लोक में।

१२०. दृष्टो न दोषनिकरैरपि यः कटाक्षै-
र्दोषातनैरिव तमोभिरहर्पतिश्च।
स्पृष्टोऽपि नो शिशुरयं व्यसनैरनिष्टै-
र्धर्मो यथा जिनमतो न वधादिपापैः॥

दोष तो इसकी ओर टेढी नजर कर वैसे ही नहीं देख सके जैसे कि रात्रिकालीन अन्धकार सूर्य को तथा व्यसन उसे वैसे ही नहीं छू सकें जैसे कि हिंसा आदि दोष जिनधर्म को।

१२१. स्नानं विनाऽपि विमलः कमलानुकारी,
भूषामृतेऽपि निखिलाङ्गिमनोपहारी।
स्नेहैः पृथक् पृथुलकान्तिकलापकान्तः,
आलेखयामि किमतोऽस्य शिशुत्वचित्रम्॥

---

१. अम्बुदयिता—समुद्र।

यह बालक स्नान के बिना ही निर्लेप कमल की तरह विमल, अलंकार के बिना ही समस्त प्राणियों का मन हरने वाला, स्नेह के बिना ही विपुल कान्ति से कमनीय था। ऐसे इस बालक के विषय में और अधिक क्या उल्लेख करूं ?

१२२. रूपं स्वरूपमभिबोधयितुं प्रकामं,[१]
कस्तार्किकोऽपि गमयेत् तदृते पदार्थान् ।
उक्ताऽऽकृतिस्तत इयं शुभलक्षणाभि-
र्यत्राकृतिर्लसति तत्र गुणा वसन्ति ।।

उस बालक की आकृति अर्थात् रूप ही उसके स्वरूप को बतलाने में पर्याप्त था, क्योंकि ऐसा कोई भी तार्किक नहीं हो सकता जो कि स्वरूप-ज्ञान के बिना भी पदार्थ का परिचय दे सकता हो। इसीलिए शुभ लक्षणों से शिशु की आकृति का वर्णन किया गया है और यह प्रसिद्ध कहावत भी है कि जहां रूप होता है वहां गुणों का निवास भी होता है।

१२३. कार्यात् परोक्षमयकान्यपि लक्षणानि,
ज्ञायन्त एव मुनिपस्य मतस्य तस्य ।
नद्यम्बुपूरमनुवीक्ष्य समीक्ष्य साक्षाद्,
वृष्टिर्गिरेः शिरसि केन न लक्ष्यते किम् ।।

इस मान्य मुनिप के कार्यकलापों को देखने से परोक्ष में रहे हुए उसके शुभ लक्षणों का पूरा पूरा परिचय मिल सकता है, जैसे कि साक्षात् नदी-प्रवाह को देखने पर गिरि शिखरों पर होने वाली वृष्टि का ज्ञान किससे छिपा रह सकता है ?

१२४. इत्थं तदाऽवितथकारणमेवजात-
मस्मत्कृते तु सुविवेचितकार्यमद्य ।
स्याद्वादसिद्धिकरणाय विरुद्धधर्मा,
भूतोद्भवत्समयतः किमसौ कुमारः ।।

इस प्रकार जो भूतकाल में यथार्थ कारण था, वही हमारे लिए आज सुविवेचित कार्य है। स्याद्वाद की सिद्धि करने के लिए ही मानों यह बालक इन दो—भूत और वर्तमान समय के भेद से विरुद्ध धर्मों की आधारशिला बन गया।

---

१. प्रकाममिति अस्त्यर्थे ।

१२५. भूषेन्द्रचापतनुरुक्चपलास्फुरद्वाक्-
धाराभिसारमभितः कलयन् कुमारः ।
मेघोपमोप्यनुदिनं सुदिनं वितन्वन्,
केषां प्रियो न सुमुदां कमलोदयेन ॥

भूषणों से इन्द्र धनुष्य की तरह, शारीरिक कान्ति से विद्युत् की तरह एवं चारों ओर स्फुरित होती हुई वाणी से नीर-धारा की तरह यह मेघोपम कुमार सदा सर्वदा सुदिन करता हुआ, आनन्दरूपी कमलोदय से किन-किन के प्रिय नहीं बना अर्थात् सर्वप्रिय बन गया ।

१२६. बाल्येऽपि येन निजकीर्तिसुरापगायां,
के प्लाविता न मुदिता न पवित्रिताश्च ।
व्युत्पन्नबुद्धिविभवैर्नहि चित्रिता वा,
के के दरिद्रितजना न कृताः कृतार्थाः ॥

ऐसे कौन थे जो इसकी शैशवकालीन कीर्ति की सुरसरिता में आप्लावित, आनन्दित और पवित्रित नहीं हुए ? ऐसे कौन थे जो इसकी व्युत्पन्न बुद्धि के वैभव से विस्मित नहीं हुए अथवा ऐसे कौन दरिद्रजन थे जो इससे कृतार्थ नहीं हुए ?

१२७. क्रीडन् सदा समवयोबलवैभवाद्यैः,
पौरैः प्रधानपृथुकैः सह सद्विनोदैः ।
पित्रोर्मनः प्रमदयन् जयवत् सुखेन,
दीपाङ्गजो निजकुमारवयो ललङ्घे ॥

अवस्था, बल एवं वैभव आदि गुणों की समानता वाले नागरिक बच्चों के साथ क्रीडा करता हुआ यह बालक भिक्षु इन्द्रपुत्र 'जय' की तरह ही माता-पिता को पुलकित करता हुआ बाल-अवस्था को पार कर गया ।

श्रीनाभेयजिनेन्द्रकारमकरोद्धर्मप्रतिष्ठां पुन-
र्यः सत्याग्रहणाग्रही सहनयैराचार्यभिक्षुर्महान् ।
तत्सिद्धान्तरतेन चारुरचिते श्रीनत्थमल्लर्षिणा,
श्रीमद्भिक्षुमुनीश्वरस्य चरिते सर्गोऽयमाद्योऽभवत् ॥

श्रीनत्थमल्लर्षिणा विरचिते श्रीभिक्षुमहाकाव्ये
भिक्षुजन्मदेहलक्षणनामा प्रथमः सर्गः ।

दूसरा सर्ग

प्रतिपाद्य : भिक्षु का पाणिग्रहण, आचार्य रघुनाथजी के साथ संपर्क, दंपती की दीक्षा-ग्रहण की आकांक्षा।

श्लोक : १४६

छन्द : उपजाति

वर्ण्यम्

प्रस्तुत सर्ग में भिक्षु का विवाह, पत्नी का वर्णन, व्यवसाय में संलग्न होना, गुरु की खोज, यतियों द्वारा संघयात्रा, अहमदाबाद में लूंका महेता का निवास, आगमों का लिपीकरण, रात की प्रति और दिन की प्रति, जैन आचार का वास्तविक बोध और यतियों की शिथिलता का अवबोध, ४४ व्यक्तियों के साथ लूंका महेता का वि. सं. १५३१ में प्रव्रजित होना, सबको २२ टोलों में विभक्त करना, आचार्य रुघनाथजी के साथ भिक्षु का परिचय और उनको गुरुरूप में स्वीकार करना, विरक्ति और पत्नी को प्रतिबोध, दंपती द्वारा ब्रह्मचर्यव्रत का ग्रहण, दोनों की साथ-साथ प्रव्रज्या-ग्रहण की आकांक्षा…आदि-आदि विषयों का सुन्दर प्रतिपादन है।

द्वितीयः सर्गः

१. अथ प्रभातं परमप्रभातमभ्युद्‌गतं तस्य सुयौवनस्य ।
तदा तमालिङ्गयितुं समागात्, कुमारिका कापि विकस्वराङ्गी ॥

अब उस बालक के नव यौवन का परम प्रकाशमान प्रभात उदित हुआ। उस समय कोई विकसित अंगोपांगों वाली सुकुमारी उसका आलिङ्गन करने—उसको स्वीकार करने आयी।

२. समुद्रपुत्रीं[1] मृदुसौकुमारीं, तां शैशवीं सा कटुभीषयन्ती ।
जजल्प बाढं शृणुतात् पलिक्नि[2]!, समागताऽहं नवयौवनश्रीः ॥

उस (नव यौवन लक्ष्मी) ने उस शैशवी अवस्था वाली मृदु सुकुमार लक्ष्मी को तीखा भय दिखाते हुए बाढ स्वर में कहा—'अयि वृद्धे! अब मैं आ गई हूं।'

३. न तेऽवकाशः क्षणमात्रमत्र, हठात् प्रभुत्वं प्रचिकीर्षुरस्मि ।
साऽपि समारूढनिगूढकोपा, नाऽहं जिहासुः स्फुटमाचचक्षे ॥

'अब तेरा क्षण मात्र भी यहां स्थायित्व नहीं हो सकता, अतः शीघ्र ही यहां से तेरा प्रस्थान उचित है, अन्यथा बल-प्रयोग के द्वारा तेरे पर शासन करना चाहूंगी।' यौवनश्री की ऐसी उग्रवाणी को सुनकर बाल रमा ने भी कुपित होते हुए, उसे स्पष्ट शब्दों में कहा—'नहीं, मैं यहां से नहीं जाऊंगी।'

४. आबाल्यकालात् परिपालितोऽयं, क्लृप्ता अनेकेऽत्र मनोऽभिलाषाः ।
फलाभियोगेऽद्य वियोगकर्त्री, कुतः कुतस्त्या समुपागतेह ॥

'बाल्यकाल से आज तक जिसका मैंने पालन-पोषण किया तथा जिसके लिए मैंने अनेक कल्पनाएं कीं, क्या इस फल-प्राप्ति की पुनीत वेला में तू मुझे उससे वियुक्त करना चाहती है? ऐसा चाहने वाली तू कहां से और क्यों यहां चली आयी है?'

---

१. समुद्रपुत्री—लक्ष्मी।
२. पलिक्नी—वृद्ध स्त्री (वृद्धा पलिक्न्यथ… अभि० ३।१९८)

५. कष्टानि सोढानि मया तदानीं, दृष्टा न मुग्धे ! न कदापि याता ।
अनर्गला धौतमुखा वराकी, निर्वासितुं मां कथमीहमाना ॥

'अयि मुग्धे ! मैंने इसके पोषण में बहुत कष्ट सहे हैं। उस वेला में न तो मैंने तुझे कभी देखा और न तू कभी आई। आज तू अनर्गल बोल रही है। अयि पगली ! अब तू मुझे यहां से निकालने के लिए मुंह धोकर क्यों आई है ?'

६. संवर्द्धिकाऽहं विनिपातुका त्वं, विकृत्पराऽहं सविकारिका त्वम् ।
क्वाहञ्च राका[1] रजनी सचन्द्रा, क्व त्वं कुहू[2]रन्तरकृष्णवर्णा ॥

'देख, कहां तो मैं सर्वाङ्गीण वृद्धि करने वाली और कहां तू पतन की ओर ले जाने वाली ! कहां तो मैं विकार से विमुख और कहां तू विकार पैदा करने वाली ! कहां मैं पूर्णिमा की चांदनी रात और कहां तू अमावस्या की अंधेरी रात।'

७. बलाधिपत्याय विवर्द्धमानां, दत्वा चपेटां सरलां विधित्सुः ।
ओजस्विनी किं सहते मृगेन्द्रीं, मृगी स्वपोतं यदपाहरन्तीम् ॥

'और यदि तू बलात्कार से ऐसा करना चाहेगी तो मैं चांटा मारकर तुझे सीधी बना दूंगी। क्या ओजस्विनी मृगी अपने शिशु का अपहरण करने वाली सिंहनी को सहन कर सकती है ?'

८. निर्भर्त्सनाभिर्न विवर्णवक्त्रा, प्रत्युत्तरन्ती तरुणत्वता[3] सा ।
बाल्येन्दिरे ! मुञ्च रुषं शृणुस्व, विकत्थनेनाऽपि न कापि सिद्धिः ॥

उस बाल रमा की ऐसी फटकार सुनकर भी उस यौवनश्री ने अपना मुंह नहीं बिगाड़ा। वह मधुर वाणी में बोली—'अयि बालरमे ! रोष को छोड़ और ध्यान से सुन। केवल मिथ्या वाग्-जाल से कुछ भी सिद्ध होने वाला नहीं है।'

९. उक्तं न युक्तं च कृतं त्वया यत्, किं सौष्ठवं केवलमोहपुष्टिः ।
अहं तु विश्वोद्धरणाय यस्मादागन्तुमिच्छामि ततः प्रसीद ॥

---

१. राका—पूर्ण चांद वाली पूर्णिमा (सा राका पूर्णे निशाकरे—अभि० २।६३)
२. कुहूः—वह अमावस्या जिसमें चांद के बिलकुल दर्शन न हो (अभि० २।६५)
३. तरुणत्वेन सहिता तरुणत्वता ।

'अयि बालरमे ! तेरा यह कथन मुझे युक्तिसंगत नहीं लगता। तूने आखिर अच्छा किया ही क्या ? तूने तो केवल मोह का पोषण ही तो किया है। पर मैं तो यहां इसके द्वारा समस्त विश्व का उद्धार कराने के लिए ही आना चाहती हूं। अत: तू कृपा कर।'

१०. तत: प्रबुद्धा पृथुकत्वपद्मा[1], प्रोवाच तारुण्यरमां यियासुम्।
आयाहि ते स्वागतमस्तु हृद्यं, यामीति याता भवत: प्रमुक्ता॥

उस नव यौवनश्री की हार्दिक भावना को सुनकर बाल रमा को प्रतिबोध मिला और वह आगंतुक यौवनश्री से बोली—'आप आओ, मैं आपका हार्दिक स्वागत करती हूं और आपसे मुक्त होकर यहां से प्रस्थान करती हूं।' बाल रमा वहा से चली गई।

११. तत: समन्तान्नवयौवनश्री:, समालिलिङ्गे च तमिभ्यसूनुम्।
यथा वसन्ताद्भुतकञ्जवासा[2], समस्तविश्वान्तरकाननाङ्गम्॥

तब उस इभ्य पुत्र का नव यौवनश्री ने चारों ओर से वैसे ही आलिंगन किया जैसे वसन्त ऋतु की अद्भुत सौरभयुक्त कमलों की शोभा समस्त विश्व-काननों का आलिंगन करती है।

१२. छटामपूर्वां स्फुटलक्ष्यमाणां, विलोक्य दीपाङ्गभवस्य तस्य।
के के न तृष्णाकुलिता वितृष्णा, अप्यम्बुतृप्ता हि यथाऽमृताब्धिम्॥

उस दीपानन्दन की दिव्य एवं मनमोहक मूर्ति को देखकर ऐसा कौन होगा जो तृष्णा रहित होते हुए भी सतृष्ण न बना हो। क्या साधारण पानी से तृप्त बना हुआ मानव क्षीर समुद्र के पानी को देखकर पीने के लिए नहीं ललचा जाता ?

१३. दिवंगत: स्याज्जनकस्तदीय:, कुमारकालेऽपि तदात्तचित्त:।
गतिर्विचित्रा समवर्त्तिनश्च, यस्या: पुरस्तान्न बलप्रयोग:॥

पिता बल्लूशाह का भिक्षु के प्रति अपार स्नेह था। भिक्षु के कुमार-काल में ही पिताश्री का दु:खद देहांत हो गया। काल की गति विचित्र होती है। उसके आगे बलप्रयोग नहीं चल सकता।

१४. तत: कुटुम्बस्य समोऽपि भारो, यस्यांसयोर्यात उदारवृत्ते:।
अतुच्छदु:खेऽपि न खिन्नचेता:, धैर्यादध:क्षिप्तमितद्रुराज:॥

१. पृथक्कत्वपद्मा—बाल रमा।
२. वसन्ते अद्भुतकञ्जवास: यस्यां शोभायाम्।

अपनी गंभीरता के गुण से समुद्र को नीचा दिखाने वाले उदारवृत्ति कुमार के उन्नत कंधों पर कुटुंब-निर्वाह का सारा भार आ पड़ा, परंतु इस महान् विपत्ति से वह तनिक भी खिन्न नहीं हुआ, अधीर नहीं हुआ।

१५. कुशाग्रबुद्धया परिविस्मितान्यो, लेभे प्रतिष्ठां परमां समाजे।
अस्पृष्टदुर्वृत्तिविवेकशीलः, केषाममान्यो महतां महोभिः॥

अपनी कुशाग्र बुद्धि से दूसरों को विस्मित करने वाले इस बालक की समाज में गहरी प्रतिष्ठा हुई। दुर्गुण तो इसका स्पर्श भी न कर पाए। ऐसा विवेकशील और विशेषताओं का धनी व्यक्ति किनके द्वारा अमान्य हो सकता है?

१६. वयो लघीयस्तममेतदीयं, किं पारवश्यं भजनीयमस्य।
विचिन्त्य निस्तन्त्रविचक्षणत्वं, मनो मनोऽनुप्रविवेश पुंसाम्॥

आपकी स्वतंत्र विलक्षणता ने मानो यह सोचा कि अभी इसकी अवस्था बहुत छोटी है, मैं इसकी वशवर्तिनी बनकर क्यों रहूं? ऐसा सोचकर ही वह विलक्षणता जन जन के मानस में व्याप्त हो गई अर्थात् जनमानस में आपकी विलक्षणता की गहरी छाप जम गयी।

१७. किमस्त्यसाध्यं किमु कष्टसाध्यं, किं दुर्लभं वा किमशक्यमस्ति।
यस्यान्तिके कर्मठकार्यकर्तुः, क्षणोद्भवन्निर्मलधीधनस्य॥

ऐसे प्रत्युत्पन्न निर्मल मति के धनी और कर्मशील व्यक्ति के लिए क्या असाध्य था? क्या कष्टसाध्य था? क्या दुर्लभ था और क्या अशक्य था?

१८. प्रष्टव्य एषोऽस्ति मनस्विमुख्यैर्द्रष्टव्य औदार्यगुणादिदृश्यैः।
सूच्योऽतिसारस्वतसूरिसूर्यैर्मुच्यो न पौराधिपतिप्रकृष्टैः॥

वह हमेशा ही मनस्वी मुख्यों के द्वारा प्रष्टव्य, औदार्य आदि गुणों के दृश्यों से द्रष्टव्य, विद्याविशारदों से पूजित तथा पुराधिपति आदि विशिष्ट व्यक्तियों के द्वारा निरन्तर घिरा रहने वाला था।

१९. हरिप्रियापुत्र[1]विजित्वराङ्गे, सम्पन्नगेहे वयसा नवीने।
स्वतन्त्रवत्त्वेऽपि न दुर्गुणैर्यो, निरीक्षितोऽभूत्तदतीव चित्रम्॥

कामदेव पर भी विजय पाने वाला रूप-रंग, सम्पन्न घर में जन्म, यौवन का प्रारम्भ एवं स्वतन्त्र जीवन—इन सब सामग्रियों का संयोग होते हुए भी दुर्व्यसन उसका स्पर्श नहीं कर पाये, यह एक महान् आश्चर्य है।

१. हरिप्रियापुत्र—लक्ष्मी का पुत्र कामदेव।

२०. वच: स्वत: संवनना[1]नुकारि, मन: सदादर्श[2]मदापहारि ।
वपु: स्वपुण्यप्रभुताप्रसारि, यस्याऽस्ति किं नो भुवि सोऽधिकारी ॥

स्वत: वशीकरण करने वाली वाणी, दर्पण के मद को हरण करने वाला स्वच्छ मन, अपने पुण्य की प्रभुता का सूचक तेजस्वी शरीर—ये सब जिसे उपलब्ध हैं वह यदि संसार में अधिकारी बने तो इसमें आश्चर्य ही क्या है !

२१. यस्यादरो दारितदम्भकस्य, कौमारकेलिष्वऽपि सद्गुणे हि ।
तिरस्कृतिं स्वाञ्च समीक्ष्य तस्मात्, गतानि किं दुर्व्यसनानि दूरे ॥

उस सरल चेता कुमार के कुमारवय में भी सद्गुणों का ही सत्कार था । इन गुणों के सम्मान से चिढकर तथा अपना तिरस्कार देखकर क्या वे दुर्व्यसन इस सद्गुणी को छोड़ कहीं दूर चले गये ?

२२. उद्धृत्य सर्वान् खरकण्टकान् किं, पर्युल्लसत्पाटलपुष्पसारैः ।
क्लृप्तं मुखं यस्य यतो यदग्रे, रोलम्बवत् सभ्यगणा भ्रमन्ति ॥

यह वितर्कणा होती थी कि क्या समस्त कठोर कंटकों को उखाड़कर, विकासोन्मुख पाटल पुष्पों के सार से इसके मुख की रचना हुई है जिससे कि शिष्ट जन इसके आगे भ्रमर की तरह घूमते रहते हैं ?

२३. स्वमुद्रया येन वयोलघिम्ना, विमुद्रिता येऽपि कृता: समुद्राः ।
पुनः कलाभि: सकलाभिरस्य, धौताः शरच्चन्द्रमसेव मर्त्याः ॥

उसने लघुवय में ही अपनी मर्यादाशीलता से अमर्यादित व्यक्तियों को भी मर्यादित बना डाला था । उसने शरद्‌चन्द्र की भांति अपनी समस्त उज्ज्वल कलाओं से लोगों को उज्ज्वल बना दिया ।

२४. अथाग्रगण्या: परमेश्वरा ये, लालायिता ते श्रुतदृष्टरूपाः ।
एकैकगुप्ता यमभिभ्रमन्ति, भृङ्गा यथाब्जं मकरन्दनन्द्यम् ॥

उस कुमार की सुषमा का श्रवण एवं अनुभव करने वाले उस नगर के प्रमुख वैभवशाली नागरिक गुप्त रूप से उसके पीछे-पीछे वैसे ही घूमने लगे जैसे मकरंद से आनन्दित करने वाले कमल के पीछे-पीछे भ्रमर ।

२५. रुच्यान्यत: क्षिप्तदिव:कुमारस्वर्गावतीर्णाऽऽत्मकुमारिकाभिः ।
उद्वाहनार्थं कुशलं कुमारं, सम्प्रार्थयन्ति प्रथितप्रतिष्ठाः ।

---

१. संवननं - वश में करने की क्रिया (संवननं वशक्रिया—अभि० ६।१३४)
२. आदर्श:— दर्पण (मुकुरात्मदर्शाऽऽदर्शास्तु दर्पणे— अभि० ३।३४८)

अपने रूप, लावण्य आदि गुणों से दिव्य अप्सराओं पर भी विजय पाने वाली कुमारियां मानो देवलोक से उतरकर इस मृत्युलोक में आ गई हों, ऐसी अपनी कुलीन कन्याओं के साथ विवाह करने के लिए प्रतिष्ठित लोग कुशल कुमार भिक्षु से प्रार्थना करने लगे।

२६. परं विमुक्तिर्न विमुञ्चते तं, यथा दिनश्रीर्गगनाधिनाथम् ।
न सेवते तं विषयाभिसक्तिर्यथा तमःश्रीः सवितुः प्रदेशम् ॥

ऐसी स्थिति में भी वैराग्य भावना उनसे वैसे ही दूर नहीं हुई जैसे दिन की सुषमा सूर्य से और विषयासक्ति उनको वैसे ही स्पर्श न कर सकी जैसे निबिड़ अन्धकार की छाया सूर्य के प्रदेश को।

२७. विलक्षणत्वं स्वतनूद्भवस्य, निर्वर्ण्य दीपाऽथ परिप्लुताक्षी ।
प्रोचे कथं मे सुमनोभिलाषान्, पुपूर्षितुं त्वं विपरीतचेष्टः ॥

आंसुओं से छलाछल भरी आंखों से माता दीपां ने अपने लाल की ऐसी विलक्षण दशा देखकर गद्‌गद वाणी में कहा—'अरे वत्स ! मेरी मनोकामना की पूर्ति के विपरीत तेरी चेष्टाएं क्यों हो रही हैं ?'

२८. धन्या हि रामा जगतां सुपुत्रा, ततोऽपि धन्या स्नुषयाभिरामा ।
विना जनैः किं गृहमेधिगेहो, यत्सन्ततीच्छुः सुगतोऽपि तन्त्रे ॥

'अरे वत्स ! इस विश्व में पुत्रवती स्त्रियां ही धन्य हैं और वे और अधिक धन्य हैं जो पुत्रवधूयुक्त हैं। वह गृहस्थ का घर ही क्या जो सन्तान रहित हो ? देख, क्षणिकवाद को मानने वाला बौद्ध दर्शन भी तो संतति को स्वीकार करता है।'

२९. श्रुतं न किं शान्तिप्रभोश्चरित्रं, नैश्चिन्त्यकामोऽपि स षोडशोऽर्हन् ।
मातुः प्रसत्त्यै[1] कृतदारकर्मा, तथा मुदे मे परिवर्त्तयध्वम् ॥

'अरे वत्स ! क्या तूने शान्तिनाथ भगवान् का जीवनवृत्त नहीं सुना, जिन्होंने केवल माता को प्रसन्न करने के लिए विवाह करना स्वीकार किया था ? अतः वैसे ही तू भी मेरी प्रसन्नता के लिए विचार को बदल कर विवाह करना स्वीकार कर।'

३०. प्रसूप्रमोहात् सुतरां विलेसे, गार्हस्थ्यवासश्चरमार्हताऽपि ।
स्वमौलिपर्यङ्कविलासयोग्यामतो ममाज्ञां तनुताद् विनीत ! ॥

---

१. प्रसत्तिः—प्रसन्नता।

'अरे विनयिन् ! माता की प्रेरणा से प्रेरित होकर ही तो भगवान् महावीर ने गृहधर्म स्वीकार किया था, अतः तू भी मेरी आज्ञा शिरोधार्य कर।'

३१. इन्द्रैर्जिनेन्द्राश्रितबुद्धतत्त्वैः, सीमज्ञविज्ञातजगत्स्वरूपैः ।
शालीनबद्धाञ्जलिप्राञ्जलैश्च, स्वजीतवृत्ताचरणानुसारैः ॥

३२. पराङ्गनादुर्व्यभिचारहृत्यै, जनप्रतीत्यै व्यसनापकृत्यै ।
कुलीनसन्तानपरम्पराप्त्यै, यद्युग्मधर्मस्य प्रथाऽपसृत्यै ॥

३३. मात्रोः प्रसत्यै कृतकर्मभुक्त्यै, लोकाध्वनीतिव्यवहारवृत्यै ।
चतुर्थवर्गाय परायणोऽपि, सम्प्रेरितो नाभिसुतो यदर्थम् ॥
(त्रिभिर्विशेषकम्)

'आप्त पुरुषों की उपासना से प्राप्त तत्त्वज्ञान वाले, मर्यादाओं के मर्मज्ञ, जगत् स्वरूप को समझने वाले शकेन्द्र ने अपने जीताचार के अनुसार शिष्टतायुक्त करबद्ध हो, अति सरल भाव से मोक्षार्थी आदिनाथ भगवान् को, पराङ्गना के व्यभिचार से बचने के लिए, जनप्रतीति के लिए, व्यसनों से दूर रहने के लिए, कुलीन सन्तति-परम्परा के लिए, युगल धर्म की निवृत्ति के लिए, माता को प्रसन्न करने के लिए, अपने कृतकर्मों को भोगने के लिए तथा लोक-व्यवहार को चलाने के लिए, विवाह की प्रेरणा दी थी।'

३४. ततः स्वकर्मैहिकनिर्जरार्थं, युगादिनाथोऽपि विवाहितोऽभूत् ।
ततोऽतिरिक्तो न हि नन्दन ! त्वमलं विकल्पैः कुरु मत्प्रियं तत् ॥

'इन्द्र के द्वारा प्रेरित होकर ऐहिक कर्मों का निर्जरण करने के लिए आदिनाथ भगवान् ने भी जब विवाह कर लिया तो तू नन्दन ! उनसे बढ़कर तो नहीं है। अतः सब विकल्पों को छोड़ कर जो मुझे प्रिय हो, तू वैसा ही कर।'

३५ एतादृशैः सद्विनयाञ्चिताग्र्यैर्दुर्लङ्घ्यमेतन्निजमातृवाक्यम् ।
मोहानुरागो न दुरन्त एव, दुर्लक्ष्य एषोऽपि विवेचकोच्चैः ॥

अपनी माता के ऐसे मोहाभिषिक्त वचनों को ठुकरा देना उस जैसे विनयी पुत्र के लिए कैसे सम्भव हो सकता था ? क्योंकि इस मोहराग का अन्त पाना दुःखप्रद ही नहीं है, किन्तु बड़े-बड़े ज्ञानियों के लिए इसको पहचान पाना भी कठिन है।

३६. भोगावलीकर्मवशंवदेन, न किन्तु भोगामिषलोलुपेन ।
साक्षात् सवित्रीकथनानुगेन, तेनाऽभ्युपेतं किल दारकर्म[1] ॥

तब उसने भोगलिप्सा से नहीं किन्तु भोगावली कर्मों को भोगने के लिए तथा साथ ही साथ माता के कथन का अनुगमन करने के लिए ही विवाह करने की स्वीकृति दे दी ।

३७. तीर्थङ्कराद्याप्तसमादृतात् सत्परम्परातो बहुदीर्घकालात् ।
प्रतिष्ठितात् सम्प्रति निर्विवादात्, साकल्परूपैश्च तदुच्चगोत्रात् ॥

३८. अमानुषीरूपधरेव जाता, यशोविलासा सुभगा सुशीला ।
श्रीह्रीयुता तेन महेभ्यकन्या, महोत्सवैः सद्विधि पर्यणायि ॥
(युग्मम्)

जो उच्चगोत्र तीर्थकरों आदि आप्तपुरुषों द्वारा समादृत, चिरकाल की परंपरा से प्रतिष्ठित तथा वर्तमान में निर्विवाद और धार्मिक अनुष्ठानों से युक्त थे, ऐसे कुलीन कुल में उत्पन्न होने वाली एक धनी सेठ की कन्या, जो रूप और लावण्य में अप्सरा तुल्य, यशस्विनी, सौभाग्यशालिनी, सुशील, सुन्दर और लज्जालु थी, के साथ ठाट-बाट से विवाह की विधि सम्पन्न हुई ।

३९. हर्म्यं तया कान्तिविलासयुक्तं, जातं यथाभ्रं प्रभया प्रसृत्या ।
प्रष्टव्य इभ्याङ्गभवो धवोऽपि, क्लृप्तः श्रियेवाऽथ चतुर्भुजोऽपि ॥

तब उस नवोढा से उनका वह गृहमन्दिर वैसे ही कान्ति और विलासयुक्त हो गया जैसे प्रसरणशील किरणों से आकाश और उस गुणवती वधू से वे धनीपुत्र भिक्षु भी वैसे ही प्रष्टव्य (लोगों द्वारा मान्य) हो गए जैसे लक्ष्मी के द्वारा श्रीकृष्ण ।

४०. स्नुषा सदाचारविचारवृत्त्या, श्वश्रूः प्रसन्ना सुखिनी शुभंयुः[2] ।
लेभे न वा भक्तिसुखं स्वजन्याः[3], रामप्रसूः किन्तु न वञ्चितेयम् ॥

उस पुत्रवधू के सद् आचार एवं सद् विचारयुक्त प्रवृत्ति से सासू अत्यन्त प्रसन्न, सुखी और शुभयुक्त हो गई । रामचन्द्र की माता कौशल्या ने तो शायद अपनी पुत्रवधू सीता की भक्ति का इतना आनन्द प्राप्त किया हो या नहीं, परन्तु माता दीपां तो उस वधू के सुख से वंचित नहीं रही ।

---

१. दारकर्म—विवाह (दारकर्म परिणयः—अभि० ३।१८२)
२. शुभंयुः—शुभयुक्त (शुभंयुः शुभसंयुक्तः—अभि० ३।९७)
३. जनी—पुत्रवधू (सूनोः स्नुषा जनीवधूः—अभि० ३।१७८)

४१. स्वर्गं शिवं हैमगिरिं विशोध्य, किं वा स्वयं पावयितुं पवित्रा।
अवातरन्नोद्यपुरं समग्रं, गङ्गा सरङ्गा त्विति मर्त्यघोषः॥

स्वर्ग, महादेव और हिमालय को पवित्र कर क्या यह पवित्र तरंगवती गंगा स्वयं अपने पुर को पवित्र करने के लिए ही यहां अवतरित हुई है ? यह बात नववधू के लिए लोग कहने लगे।

४२. सौजन्यसारैरभिवन्द्यमाना, नारीसहस्रैरभिनन्द्यमाना।
पदे पदे सा परिपृच्छ्यमाना, प्रीत्या नितान्तं परिवृत्यमाना॥

वह दीपां की पुत्रवधू अपने महान् सौजन्य से अभिवन्दित तथा सहस्रों स्त्रियों से अभिनन्दित हो रही थी। स्थान-स्थान पर इसकी शुभ चर्चाएं चलती रहती और पौरस्त्रियां निरंतर प्रेम से इसे घेरे रहती थीं।

४३. किं विद्युता सा क्षणिकप्रसंगी, लक्ष्म्यापि किं सा च पुराणपत्नी।
किं ज्योत्स्नया सा सकलङ्कलग्ना, कयोपमेयोत्तमभिक्षुकान्ता ?॥

क्या मैं भिक्षुकांता को विद्युत् से उपमित करूं ? नहीं, विद्युत् तो क्षणिक है। क्या उसे लक्ष्मी से उपमित करूं ? नहीं, लक्ष्मी तो पुराणपुरुष (विष्णु) की पत्नी है। क्या उसे चन्द्रिका से उपमित करूं ? नहीं, चन्द्रिका तो कलंकी चन्द्र की अनुगामिनी है। तो फिर किस उपमा से उपमित करूं उसे ?

४४. यशस्विनी लोकपथे यथैव, तथैव लोकोत्तरनैगमेऽपि।
सा चातुरी भाग्यदशा च सैव, साऽऽलोकलोकद्वयसाधनी या॥

जैसे वह इस लोकमार्ग में यशस्विनी थी, वैसे ही लोकोत्तर मार्ग में भी यशस्विनी थी। वास्तव में वही चातुरी एवं भाग्यदशा है जो आलोकयुक्त होकर लौकिक और लोकोत्तर दोनों ही लोकों की आराधना में संलग्न रहती है।

४५. दाम्पत्यजन्माऽपि सुखोपगूढं, न किन्तु मूढं न च दिग्विमूढम्।
निर्वर्ण्य यत् किं त्रपया हरीशा[1]वादाय तौ क्वापि मुखं निलीनौ॥

वे दाम्पत्य जीवन का सुखपूर्वक निर्वाह कर रहे थे। पर वे न इसमें मूढ ही थे और न दिग्-विमूढ ही। ऐसा देखकर विष्णु और शिव—दोनों मानो लज्जावश अपना मुंह लेकर कहीं छुप गए।

१. हरीशौ—विष्णु और शिव।

४६. पुंसां गिरां भिक्खणसंज्ञया स, जज्ञे प्रसिद्धः कृतिहस्तसिद्धः[1] ।
वाणिज्यवासा कमला ततः सद्व्यापारसिन्धुं सुतरां ममन्थ ॥

वह लोकवाणी में 'भिक्खण' नाम से जाना जाने लगा और मनीषी मंडल में भी उसकी अपूर्व ख्याति हुई। लक्ष्मी का निवास व्यापार में है इस लोकोक्ति के अनुसार उसने धनोपार्जन के लिए सद् व्यापार-सिन्धु का भी मन्थन किया।

४७. विलोडयामास महाप्रयासैर्यदर्थमब्धि युयुधे छलाद्यैः ।
हरिं हरं प्रोज्झ्य मुधैव लक्ष्मीर्वितृष्णमेतं सततं सिषेवे ॥

जिस लक्ष्मी के लिए समुद्र का मन्थन किया गया, जिसके लिए छल-कपटयुक्त भीषण संग्रामों का आविर्भाव हुआ, उस लक्ष्मी ने हरिहरादिक देवों को छोड़ इस धन-निरपेक्ष भिक्षु को ही अपना आश्रय बना डाला।

४८. लञ्चामृषास्तेयविवञ्चनाद्यैर्विना न वाणिज्यमिति प्रवक्तुः ।
तेभ्यः पृथग् भूय निदर्शितं नाऽसत्यं यतस्तत्र रमानिवासः ॥

ऐसी प्रायः लोकभाषा बन चुकी है कि बिना रिश्वत, झूठ, चोरी और वञ्चना के व्यापार चल नहीं सकता। परन्तु भीखण ने इन सब से परे रहकर धनोपार्जन किया और लोगों को यह सही परिचय दिया कि असत्य आदि का जहां बोलबाला होता है वहां लक्ष्मी का स्थायी निवास नहीं हो सकता।

४९. धनार्जनं नो परवञ्चनाभिर्मिथ्यावचोभिर्न च कूटतोलैः ।
न्यासापहारैर्न परप्रहारैरनीतिभिर्नास्य विवृद्धलोभैः ॥

उसने वञ्चना से, मिथ्याभाषण से, कूटतोलमाप से, अमानत के माल को हजम करने से, दूसरों को पीड़ित करने वाले कार्य से, अनीति एवं अति-लोभ से अर्थोपार्जन नहीं किया।

५०. विनश्वरो रा[2] न परत्रयायी, चलाचलं जीवनजीवनीयम् ।
ततः किमर्थं वसुसंग्रहार्त्तिरियं विचिन्त्येति स शान्तचेताः ॥

यह धन विनाशशील है, परलोक में साथ जाने वाला नहीं है और यह वर्तमान का जीवन भी अस्थिर है तो व्यर्थ ही इस धन-संग्रह के दुःख से क्या प्रयोजन ? ऐसा विचार कर वह शान्ति से जीवनयापन करने लगा।

---

१. कृतिहस्तसिद्धः—मनीषीमंडल में ख्यात।
२. राः—धन (राः सारं विभवो वसु—अभि० २।१०५)

५१. लब्धप्रतिष्ठः पुरपाञ्चजन्ये[1], मान्यो मुदा पक्षविपक्षतोऽपि ।
राज्ये प्रजायां विपणावलङ्घ्यो, यज्जीवनं प्रागुपमानभूतम् ॥

नगरवासियों के मन मे वे प्रतिष्ठा-प्राप्त थे और पक्ष, विपक्ष – दोनों में, राजकीय कार्यकलापों में, प्रजा में तथा व्यापारिक कार्यों में वे सर्वत्र मान्य हो गए । वास्तव में उनका गार्हस्थ्य जीवन भी एक आदर्श जीवन था ।

५२. प्राक् सर्वतो धर्मविधानकारी, पश्चात् समस्तैहिकसत्प्रपञ्चः ।
रक्षन्ति पृष्ठे सुकृतं मनुष्या, अग्रेसरास्ते च कथं भवेयुः ॥

आपका सबसे पहला काम था धर्म की आराधना । धर्माराधना के पश्चात् ही आप किसी अन्य लौकिक सत्कार्य में संलग्न होते । वे मानव कभी भी उन्नति नहीं कर सकते जो धर्म को गौण कर आगे कदम बढ़ाना चाहते हैं ।

५३. न केवलं भावुकताभिभूतो, न केवलं संस्फुरणाविरक्तः ।
न नूत्नताद्विड् न पुराणपक्षी, यद्गेहवासोऽपि न रूढिरूढः ॥

वे न केवल भावुक थे और न केवल बुद्धि की स्फुरणा से विहीन । वे न नवीनता के द्वेषी थे और न पुराणपंथी । इसीलिए उनका गृहस्थजीवन भी रूढिग्रस्त नहीं था ।

५४. नान्धानुकृन्नान्धवहानुवाही, नाशिक्षितोन्मार्गमुखावगाही ।
प्रामाणिकोत्कीर्णपथान्न दूरे, गृहस्थजन्मोऽपि विलक्षणोऽस्य ॥

वे न तो अन्धानुकरण करने वाले ही थे और न अन्धप्रवाह में प्रवाहित होने वाले ही । वे अज्ञानी व्यक्तियों की भांति उन्मार्गगामी भी नहीं थे । वे प्रामाणिक पुरुषों से अनुसेवित पथ से किञ्चित् मात्र भी दूर नहीं थे । उनका गृहस्थ जीवन भी विलक्षण था ।

५५. अन्येद्युरात्मान्तरवीरणाभि[2]रसौ स्वयंबुद्ध इवाऽतिशुद्धः ।
विचारयामास वलक्षचेताः, अत्येति कालः सुकृतं विनैव ॥

किसी शुभ समय में अपने अन्तःकरण की अन्तर् प्रेरणा से स्वयंबुद्ध की तरह ही निर्मलभावों से वे ऐसा विचार करने लगे—ओह ! मेरा यह समय बिना सुकृत के ही बीतता जा रहा है ।

---

१. पञ्चजनस्य भावः कर्म वा पाञ्चजन्यम्, पुरस्य पाञ्चजन्यमिति पुरपाञ्चजन्यं, तस्मिन् ।

२. वीरणा—प्रेरणा ।

५६. माताऽनुकूला वनिता विनीता, धनं घनं गौरवमुच्छ्रितं सत् ।
स्वतन्त्रता शं[1] सुविधा समस्ता, तथापि कस्त्राणकरः परत्र[2] ।।

यद्यपि माता अनुकूल है, पत्नी विनीत है तथा प्रचुर धन, उन्नत गौरव, स्वतन्त्र जीवन एवं अन्य सभी प्रकार की सुख-सुविधाएं भी मिली हैं, पर इन सबके होते हुए भी परलोक में मेरा त्राण कौन होगा ?

५७. एतान्यनात्मीयसुखानि शश्वदापातरम्याणि विनश्वराणि ।
भुक्तान्यपि स्फीतभयप्रदानि, चेष्टे स्थिरानन्दकृते कथं न ।।

ये सारे अनात्मीय सुख—पौद्गलिक सुख आपातरमणीय और विनाशशील हैं। इनके उपभोग का परिणाम अत्यंत भयप्रद होता है। तो फिर अब मैं क्यों नहीं इन्हें छोड़ शाश्वत आनन्द के लिए प्रयत्नशील बनूं ?

५८. नृत्यन्नटीकुण्डललोललोलान्, लीलावतीनां सहजान् बिलासान् ।
विलोक्य किं तत्र सुमूर्च्छितोऽहं, नाऽऽलोचयाम्यक्षयमात्मतत्त्वम् ।।

मैं स्त्रियों के सहज विलास को, नृत्य करती हुई नर्तकी के कर्ण-कुण्डलों की चञ्चलता के समान, चञ्चल जानता हुआ भी क्यों उसमें मूर्च्छित हो रहा हूं और आत्मा के अक्षय सुखों की प्राप्ति के लिए मैं क्यों नहीं सोच रहा हूं ?

५९. कुटुम्बमोहोऽपि विमोहनीयः, सन्ध्याभ्रवर्णोपम एष सर्वः ।
एवं मृशन् स्वस्थतमोऽपि साक्षादधोमुखस्थोब्जवदेव सायम् ।।

यह कौटुम्बिक मोह सायंकालीन आकाश के वर्ण के समान अस्थिर और विमूढ बनाने वाला ही है। इस प्रकार विमर्श करते हुए अत्यंत नीरोग भिक्षु भी वैसे ही सिकुड़ गए जैसे सायंकाल में सूर्यविकासी कमल सिकुड़ जाता है।

६०. स्थिरं स्वतन्त्रं सहगामि तथ्यं, निरामगन्धं सुखमेव साध्यम् ।
गुर्वाग्रहात्तच्च गुरुः स्वबुद्ध्या, निरीक्षणीयः सुपरीक्षणीयः ।।

वही सुख वास्तव में मेरा साध्य है जो चिरस्थायी, स्वापेक्षी, अनवरत साथ में रहने वाला, तथ्यपूर्ण तथा विषयों की दुर्गन्ध से विहीन हो। परन्तु ऐसा सुख वास्तव में सद्गुरुओं की अपेक्षा रखता है, अतः सर्वप्रथम अपनी बुद्धि के द्वारा मुझे सद्गुरु की खोज और परीक्षा कर लेनी चाहिए।

---

१. शं—सुख (शं सुखे—अभि० ६।१७१)

२. परत्र—परलोक।

६१. ध्रुवं विना नो जलधेः स्वपोतं, निर्यामकस्तारयितुं समर्थः ।
तथा हिरुक्[1]च्छुद्धगुरोर्न नेयं, सत्यं शिवं सुन्दरमात्मसौख्यम् ।।

ध्रुव नक्षत्र को देखे बिना निर्यामक अपनी जहाज (नौका) को समुद्र के पार नहीं ले जा सकता, वैसे ही सद्गुरु के बिना सत्यं, शिवं, सुन्दरं की उपमा से उपमित होने वाले आत्मसुखों को कोई भी नहीं पा सकता ।

६२. परम्पराभिः परिसेव्यमाना गच्छाधिवासा यतयः प्रयत्नात् ।
अन्वीक्षितास्तेन ततो न तृप्तः, क्षतव्रतांस्तांस्त्वरितं मुमोच ।।

ऐसा सोचकर आपने अपनी कुल परम्परा से चले आ रहे यति गुरुओं की ओर देखा, पर उनकी आचारक्रिया से आपको आत्मतोष नहीं हुआ और उन्हें शिथिलाचारी मान कर छोड़ दिया ।

६३. श्रुतास्तदात्वे[2] परितः स्वनाम्ना, ये पोतियाबन्ध इति प्रसिद्धाः ।
घस्रेपि वस्त्रेण निजं च मौलिं, संवेष्ट्य वृत्त्यै च परिभ्रमन्ति ।।

६४. श्रद्धा हि तेषां न हि वर्त्ततेऽद्य, सामायिको वा न च संयमोऽपि ।
तत्र प्रयातो न तुतोष किञ्चिदाचारशैथिल्यपरान् जहार ।।
(युग्मम्)

उस समय उन्होंने सुना—'पोतियाबन्ध' नामक एक सम्प्रदाय विशेष भी है जिसके अनुयायी दिन में भी वस्त्र को मस्तक पर लपेटकर गोचरी आदि के लिए घूमते हैं। उनकी ऐसी मान्यता थी कि इस समय न तो सामायिक ही हो सकता है और न संयम की आराधना ही। ऐसे पोतियाबन्ध साधुओं के साथ भी आपने सम्पर्क जोड़ा, परन्तु यतियों की तरह ही उन्हें आचार-शिथिल जानकर उनसे भी अपना सम्पर्क तोड़ दिया ।

६५. मतानि यावन्ति वसुन्धरायां, जैनान्यऽजैनानि च यानि कानि ।
विगाहितानि श्रितशुद्धबुद्ध्या, परन्तु शून्यानि जहौ विवेकैः ।।

सच्चे सद्गुरु की खोज करने के लिए आपने अनेक जैन, जैनेतर सम्प्रदायों से सम्पर्क जोड़ा, पर आपको प्रायः उन सबमें आचार-शिथिलता का ही दर्शन हुआ, अतः आपने उनमें से किसी को भी उचित एवं ग्राह्य नहीं माना ।

---

१. हिरुक्—विना (हिरुक् नाना पृथक् विना—अभि० ६।१६३)
२. तदात्वम्—उस समय (तत्कालस्तु तदात्वं स्यात्—अभि० २।७६)

६६. इतः स्फुरद्गुर्जरदेशभूषा, पूषा पुराणामहमन्दवादः ।
लूंकामुहत्ता इति नाम तत्र, श्रेष्ठी वरिष्ठो जिनमार्गनिष्ठः ।

गुर्जर देश में उसका अलंकरणभूत अहमदाबाद नामक एक सुन्दर और प्रमुख नगर है, जहां जैन धर्म के प्रति श्रद्धा रखने वाला 'लूंका मेहता' नामक ख्यातनामा सेठ था।

६७. मिथ्यात्वपाषण्डविलोपकत्वाल्लुम्पाकसंज्ञाप्रथनं पृथिव्याम् ।
विरोधिभिर्गूढविमूढवृत्तैर्दुष्टार्थतः पूत्क्रियते स एषः ।।

मिथ्यात्व और पाखण्ड का लोप करने वाला होने के कारण वह लोक भाषा में 'लुम्पाक' नाम से प्रसिद्ध हुआ, पर विपक्षियों ने उसे धर्म का लोप करने वाला मानकर अनुचित अर्थ करते हुए उसे 'लुम्पाक' (लुटेरे) के नाम से पुकारा।

६८. भस्मोडुशापाज्जिनसाधुपाशैर्जैनं मतं जर्जरितं प्रतीपम् ।
स्थेयै[1]र्निकृष्टैर्यदि वा नियुक्तैः[2], सन्यायराज्यं च यथा हि दुर्गम् ।।

उस समय भस्मग्रह के अभिशाप से वीतराग देव के विशुद्ध मार्ग को शिथिलाचारियों ने वैसे ही जीर्ण-शीर्ण एवं विपरीत बना दिया था, जैसे निकृष्ट मध्यस्थों और राज्य-कर्मचारियों द्वारा न्याय सहित राज्य और दुर्ग जीर्ण- शीर्ण बना दिया जाता है।

६९. श्रद्धाऽऽर्हती तत्र सुदुर्लभाऽभूत्, सुदुर्लभाः शुद्धयमाश्च सन्तः ।
श्रीकल्पवल्लीव विपत्तिभल्ली, मरौ मराला[3] इव मुत्प्रवालाः ।।

उस समय आर्हती— वीतराग भगवान की शुद्ध श्रद्धा वैसे ही दुष्प्राप्य हो रही थी जैसे कि समस्त विपदाओं का विनाश करने वाली कल्पलता का मरुस्थल में प्राप्त होना। तथा उस समय मरुभूमि में आनन्दोत्पादक राजहंस की भांति महाव्रतधारी शुद्ध साधुओं के दर्शन भी सुदुर्लभ हो रहे थे।

७०. महाव्रतानां प्रलये तदानीमणुव्रतानां च कथैव का स्यात् ।
सीमाच्युतेऽब्धौ क्व जगद्व्यवस्था, क्व तारको वा परिपारको वा ।।

---

१. स्थेयः—साक्षी (साक्षी स्थेयः........अभि० ३।५४६)
२. नियुक्तः—राज्य कर्मचारी।
३. मरालः—हंस (हंसेषु तु मरालाः स्युः—अभि० ४।३९१ शेष)

जब महाव्रत ही प्रायः समाप्त हो चुके हों तो फिर उस समय अणुव्रतों का तो कहना ही क्या ! जब समुद्र ही अपनी मर्यादा का अतिक्रमण कर देता है तो फिर विश्व व्यवस्था कैसे रह सकती है ? तब कौन तारने वाला और कौन पार लगाने वाला हो सकता है ?

७१. अकृत्रिमत्वं क्षुभितं विलुप्तं, वृत्तं च यत् कृत्रिमताधिराज्यम् ।
आचार आचर्य गतिं विदेहे, प्राप्तः प्रभूणां शरणं शुभाय ।।

ऐसी विषम परिस्थिति में वास्तविकता तो कहीं दूर चली गई और कृत्रिमता का ही चारों ओर बोलबाला होने लगा। ऐसी स्थिति में मानो वह बेचारा निराश्रित 'आचार' अपना सा मुंह लेकर महाविदेह क्षेत्र में श्री सीमंधर प्रभु की शरण में चला गया।

७२. स्याद् वा यदा कोऽपि यथार्थवादी, कः श्रावकः स्याद् यदि कोऽनुमन्ता ।
कोलाहले काककुलोद्भवेऽग्रे, कः कोकिलोपज्ञकलं कलेत ।।

यदि कोई यथार्थवादी था भी तो कौन उसको सुनने वाला और कौन उसको मानने वाला था ? कौओं के कोलाहल के समक्ष कौन कोयल की भांति मधुर आलाप करेगा ?

७३. बध्योऽनवद्योऽपि च सत्यवक्ता, प्रोत्तार्यमाणो ननु मृत्युघट्टे ।
विडम्बनीयो बहुभिः प्रकारैर्यः कोऽपि तस्माच्छ्रितमौनभावः ।।

उस समय यदि कोई सत्यवक्ता अपनी सच्ची बात प्रकट करता तो वह दण्डित होता या मृत्यु के घाट भी उतार दिया जाता था। उसकी अनेक प्रकार से विडंबना की जाती थी। ऐसी स्थिति में सत्यवक्ता के लिए मौन रहने के अतिरिक्त और कोई दूसरा मार्ग नहीं था।

७४. शैथिल्यशीला यतयः समस्ताः, श्राद्धास्तथोत्साहयितुं प्रसक्ताः ।
'चौरैरमा[1]श्वान' इतस्ततस्ते, संस्तारकैः केऽपि मृताः सुसन्तः ।।

तात्कालिक साधु-संस्था प्रायः शिथिलाचार से व्याप्त हो रही थी तथा 'चोर कुत्ते के मिल जाने' की भांति ही अन्ध श्रद्धालु श्रावक लोग उन शिथिलाचारी साधुओं के शैथिल्य को प्रोत्साहन दे रहे थे। ऐसी स्थिति में शुद्ध साधना वाले संयमी साधुओं ने तो अनशन आदि तपस्या के द्वारा स्वर्लोक में प्रस्थान कर दिया था।

---

१. अमा – साथ (साकं सत्रा समं सार्द्धममा सह—अभि० ६।१६३)

७५. मुक्ति गतानर्हत आयमायं[1], निर्मापयन्मन्दिरमन्दिरेषु ।
संस्थापयन्तो बहुवञ्चनाभिर्निजेष्टसिद्धयै निजमानवृद्धयै ॥

और अवशिष्ट यतियों ने अपनी इष्ट की सिद्धि तथा मान-प्रतिष्ठा की वृद्धि के लिए मुक्ति प्राप्त अर्हतों को मुक्ति से बुला-बुलाकर, स्थान-स्थान पर निर्मापित मन्दिरों में अनेक प्रवंचनाओं के साथ अर्हतों की मूर्तियां संस्थापित करवाईं ।

७६. पूजाप्रतिष्ठामह[2]तीर्थयात्रा[3]स्नात्रा[4]समारोहविभावनाद्यैः ।
हिंसाक्षवाटाः[5] खलु यत्र तत्र, जिनेन्द्रनाम्ना बहुरच्यमानाः ॥

पूजा, प्रतिष्ठा, महोत्सव, तीर्थयात्रा, स्नात्रोत्सव एवं प्रभावना आदि के द्वारा भगवान के नाम से स्थान-स्थान पर हिंसा के अखाड़े खोले जाने लगे ।

७७. उदग्रयद्रोधमिषात् प्रकोपैराडम्बरो डम्बरतां प्रयातः ।
दीपैर्ज्वलद्भिर्भगवन्मुखाग्रेऽसंख्यातसत्त्वोग्रचिताश्चिता यैः ॥

तब यति लोगों ने इन आडम्बरात्मक पद्धतियों को घटाने के लिए उपदेश देना शुरू किया, परन्तु बढ़ते हुए अवरोध के बहाने आडम्बर अत्यन्त कुपित होकर और अधिक बढ़ गया और तब असंख्य जीवों को भस्म करने के लिए भगवद् प्रतिमा के सामने प्रचंड चिता के समान अखंड दीप जलाए जाने लगे ।

७८. मुच्यन्त एवाङ्गिगणास्तमोभिर्यस्मिन् क्षणै[6]र्वा सततं भयैर्वा ।
तत्रैव तैस्तैर्निहता अबोधैर्लिप्यन्त आरम्भपरिग्रहाद्यैः ॥

जिस धर्मस्थान में प्राणी पाप से निवर्तन तथा वध एवं भय से विमुक्त होते थे, वही धर्मस्थान उन अज्ञानियों के द्वारा हिंसा का स्थान बना दिया गया और अज्ञानी लोग वहां आरम्भ एवं परिग्रह के पाप से भारी होने लगे ।

७९. अजङ्गमानामपि यत्र रक्षा, भयं न तत्रैव निहन्यमानाः ।
इत्याऽऽशया किं शलभादयोऽपि, पतन्ति किं दीपशिखासु दीनाः ॥

---

१. आयं आयं—इणक् गतौ इति धातोः णं प्रत्ययस्य रूपम्—बुला-बुलाकर ।
२. 'मह' इति अकारान्तोऽपि ।
३. यात्रा—पितृपूजाद्युद्देशेन जिनगृहे यात्राकरणम् ।
४. स्नात्रं तु श्राद्धपक्षादिषु पित्रादेः श्रेयसे जिनबिम्बस्य स्नानकरणम् ।
५. अक्षवाट.—अखाडा (नियुद्धभूरक्षवाटो—अभि० ३।४६५)
६. क्षणः—वध, हिंसा ।

जहां त्रसकाय के जीवों की तो बात ही क्या, स्थावर काय के जीवों को भी अभयदान प्राप्त था, वहां उन अज्ञानियों के द्वारा वे त्रस काय के जीव भी देव-धर्म के नाम से मौत के घाट उतारे जाने लगे। क्या इस आशय से ही ये शलभ अपनी मृत्यु को निकट समझ कर इस दीपशिखा में झंपापात ले रहे हैं ?[1]

८०. श्लथव्रतास्ते जिनदर्शनस्य, प्रभावनारक्षणदम्भडिम्बैः।
आज्ञाविरुद्धैर्बहुमन्त्रयन्त्रैर्जजृम्भिरे भाविनिपातकृद्भिः॥

यति वर्ग व्रतों में शिथिल हो गया। उसने भगवान के दर्शन, प्रभावना और दया के दम्भ से भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध भावी पतन के कारणभूत मंत्र-यंत्रों के द्वारा अपने आपको चमकाना शुरू कर दिया।

८१. देवाय हिंसा गुरवेऽपि हिंसा, धर्माय हिंसा प्रथिता समन्तात्।
ततश्च गार्हस्थ्यवधावरोधे, को वा परित्राणकरस्तदानीम्॥

उस समय देव, गुरु और धर्म के नाम पर चारों ओर हिंसा ही हिंसा फैल रही थी। तो फिर गार्हस्थ्य जीवन में होने वाली हिंसा के अवरोध की तो बात ही क्या! उस समय जीवों को त्राण देने वाला ही कौन था?

८२. सङ्घं समादाय च तीर्थयात्राकृते प्रचेलुर्मुनिनामभाजः।
वर्षर्तुरागान्निगमान्तराले, जेतुं निदाघं[2] परिपन्थि[3]भूपम्॥

---

१. श्लोक ७४ से ७९ :

१. गायन्गंधर्व-नृत्यत्पणरमणि-रणदवेणु-गुंजनमृदंग-
प्रेंखत्पुष्पस्रगुद्यन्मृगमदलसदुल्लोच-चञ्चज्जनौघे।
देवद्रव्योपभोगध्रुवमठपतिताशातनाभ्यस्त्रसन्तः,
सन्तः सद्भक्तियोग्ये न खलु जिनगृहेऽर्हन्मतज्ञा वसंति॥

२. जिनगृहजैनबिम्बजिनपूजनजिनयात्रादिविधिकृतं,
दानतपोव्रतादिगुरुभक्तिश्रुतपठनादि चादृतम्।
स्यादिह कुमतकुगुरुकुग्राहकुबोधकुदेशनांशतः,
स्फुटमनभिमतकारि वरभोजनमिव विषलवनिवेशकः॥

३. आक्रष्टुं मुग्धमीनान् बडिशपिशितवत् बिम्बमादर्श्य जैनं,
तन्नाम्ना रम्यरूपानपवरकमठान् स्वेष्टसिद्ध्यै विधाप्य।
यात्रास्नात्राद्युपायैः नमसितक-निशाजागरादिच्छलैश्च,
श्रद्धालुर्नाम जैनैः छलित इव शठैः वंच्यते हा! जनोऽयम्॥

(श्री जिनवल्लभसूरीकृतसंघपट्टक, श्लोक ७, २०, २१)

२. निदाघः—ग्रीष्म ऋतु (निदाघस्तप ऊष्मकः—अभि० २।७१)

३. परिपन्थी—शत्रु (दुर्हृत् परेः पन्थकपन्थिनौ द्विट्—अभि० ३।३९३)

८३. यां रोदसी[1] भेदभयङ्करीं यद्, विपक्षवक्षांसिनिपातयन्तीं ।
प्रयाणभम्भां स्फुटघोषगर्जोद्धुरां समन्तात् परिवादमानः ।।

८४. कादम्बिनी[2] सैन्यघटां घनिष्ठामुत्थापयन् सङ्कुहृदालिभिर्यः ।
महाबलं[3] सर्वबलाधिनाथं, कुर्वन् प्रसारी गगनाङ्गणे च ।।

८५. सुरेन्द्रकोदण्डधनुर्दधानो, दोधूयमानो विटपिध्वजं यः ।
भ्राम्यंस्तडित्तीव्रप्रचण्डदण्डं, झञ्झाभिघातैरभितोऽभिनिघ्नन् ।।

८६. मयूरकेकारणतूरपूरैराक्रम्य तत्क्षोणिधरेन्द्रमौलिम् ।
धाराशरासार[4] महाप्रहारैस्तपर्तुराज्यस्य बभञ्ज दुर्गम् ।।

८७. सत्ताधिरूढैः सलिलैः समस्तमुच्चं च नीचं प्रसमीकृतं कौ[5] ।
शक्ति गतनामुदये जडानां, कीदृग् विवेको भवतीति शोच्यम् ।।

८८. धरातलं व्याप्तजलं सलीलं, तन्वन् स्थलं नेत्रपरं नराणाम् ।
नदीनदानां पयसा प्रपूरैः, कूलानि भञ्जन्नकुलीनवच्च ।।

८९. जिता प्रजा सा परिपालनीया, मही मघोना[6] त्विति सम्प्रवीक्ष्य ।
प्रक्षाल्य सम्भाष्य चराचरांश्च, प्रवालरत्नैः कृतशाड्वला[7] सा ।।

९०. अदभ्र[8] मभ्रं विरचय्य नैजं, स्रोतःसरिद्दूतसुदूतिकाभिः ।
आसिन्धुसीमं प्रवितत्य सत्तां, सम्राडिवाऽस्थाच्च तपात्यये[9]ऽयम् ।।

(नवभिः कुलकम्)

उस समय पार्श्वस्थ मुनियों का एक समूह अपने संघ के सदस्यों को एकत्रित कर यात्रा के लिए प्रस्थित हुआ, परन्तु बीच में ही निदाघ—ग्रीष्म ऋतु रूपी शत्रु राजा को पराजित करने के लिए, वर्षा रूपी भूपाल का शुभागमन हो गया ।

१. रोदसी—आकाश और पृथ्वी (दिवस्पृथिव्यौ रोदस्यौ रोदसी—(अभि० ४।५)
२. कादम्बिनी—मेघमाला (कादम्बिनी मेघमाला—अभि० २।७९)
३. महाबलः—पवन (पृषदश्वो महाबलः—अभि० ४।१७३)
४. आसारः—तीव्र वर्षा (आसारो वेगवान् वर्षो—अभि० २।७९)
५. कौ इति भूमौ ।
६. मघोना—इन्द्रेण ।
७. शाड्वलः या शाद्वलः—हरीभरी (शाद्वलः शादहरिते—अभि० ४।२१)
८. अदभ्रं—प्रचुर (भूर्यदभ्रं पुरु स्फिरम्—अभि० ६।६२)
९. तपात्यये—आतप के मिट जाने पर ।

उस वर्षा ऋतु रूपी राजा ने अपनी घोर गर्जना से प्रयाण की भंभा को चारों ओर बजाते हुए, आकाश और पाताल का भेदन करते हुए, शत्रु-हृदय को कम्पाते हुए, संघ के हृदय के साथ-साथ अपनी कादम्बनी सैन्यघटा को ऊंची उठाते हुए और वायु को अपना सेनापति बना, आकाश रूपी रण-भूमि में इस पार से उस पार तक अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया ।

उसने (वर्षा रूपी राजा ने) इन्द्रधनुष के मिष से चाप को धारण करते हुए, वृक्षरूप ध्वजा को फहराते हुए, विद्युत् रूप प्रचण्ड दण्ड को घुमाते हुए, तूफानों से चारों ओर के वैरियों को अभिभूत करते हुए, मयूर के केकारव रूप रणतूरों से दिग् मण्डल को गुञ्जाते हुए अपने वैरी निदाघ राजा पर आक्रमण कर दिया और अपनी धारा रूप बाणों की बौछार के महाप्रहारों से उस तपर्तु (ग्रीष्म ऋतु) राजा के दुर्गम दुर्ग को तोड़ डाला ।

सत्तारूढ़ होने पर पानी ने भूमि के ऊंचे-नीचे सभी स्थलों को एका-कार बना डाला । यह चिंतनीय है कि जब जड़ पदार्थ शक्तिसंपन्न होता है तब वहां कैसा विवेक हो सकता है ?

उस जड़ जल ने धरती को आप्लावित करते हुए भूतल को मनुष्यों के नेत्रों से ओझल कर दिया और पानी के प्रवाह से नदियों और नालों के तटों को वैसे ही तोड़ डाला, जैसे एक अकुलीन व्यक्ति मर्यादाओं को तोड़ डालता है ।

विजित भूमि और प्रजा की प्रतिपालना करना यह राजा का प्रथम कार्य होता है, ऐसा सोचकर उस मेघराजा इन्द्र ने समस्त धरातल के मैल को धोकर दूर करते हुए मीठे-मीठे शब्दों से त्रस तथा स्थावर जीवों को सान्त्वना दी तथा पृथ्वी को प्रवाल आदि रत्नों से भर कर हरीभरी बना डाला ।

आतप के मिट जाने पर वह मेघराजा सम्पूर्ण क्षितिज पर अपना आधिपत्य स्थापित कर स्रोत एवं स्रोतस्विनी के रूप में दूत एवं दूतियों को समुद्र के उस छोर तक भेजकर चारों ओर अपनी सत्ता विस्तृत करते हुए एक सम्राट् की भांति सुशोभित होने लगा ।

९१. प्रादुर्भवत्स्थावरजङ्गमापां, नीली[१]हरित्कायनवाङ्कुराणाम् ।
विज्ञाय हिंसामहमन्दवादे[२], संघस्ततस्तत्र निवासकारी ॥

१. नीली—शैवाल (नील्यां शैवालशेवले—अभि० ४।२३३)
२. अहमन्दवादे—अहमदाबाद नगर में ।

जब वृष्टि के कारण चारों और त्रस तथा स्थावर जीवों की तथा पानी, शैवाल, हरितकाय और नये अंकुरों की विशेष रूप से वृद्धि हो गई, तब हिंसा की अधिक संभावना होने के कारण यात्रा के लिए प्रस्थित उस संघ ने अहमदाबाद नगर में अपना पड़ाव डाल दिया।

९२. आस्वाद्यमानान्युपदेहिकाभि[1]र्गोपायितान्यात्मनिधीकृतानि ।
जीर्णीभवच्छ्रीजिनवाङ्मयानि, शीर्णानि पत्राण्यपि यत्र तत्र ॥

९३. इतः स लूंकाह्व उदारवृत्ती, राज्येषु मुख्यो वरलेखकश्च ।
अस्मै प्रदत्तानि सुलेखनाय, सूत्राणि गच्छाधिकृतैर्यतीन्द्रैः ॥

(युग्मम्)

अहमदाबाद नगर में यतियों के उपाश्रय में जैन वाङ्मय का अखूट भंडार था, जो गुप्त निधि की भांति ही गुप्त रखा जाता था। उस पर तत्रस्थ यतियों का पूर्ण अधिकार था। प्रतिलेखन और सार-संभाल के अभाव में कितनी ही हस्तप्रतियां दीमकों के द्वारा खा ली गईं थीं और कितनी ही प्रतियां जीर्ण-शीर्ण हो चुकी थीं। यह देखकर गच्छपति यति ने उन हस्त-प्रतियों के पुनरुद्धार की बात सोची।

अहमदाबाद में उदारवृत्ति वाला लूंका मेहता रहता था। वह राज-काज में प्रधान और सुन्दर लिपिकार था। यतियों के गच्छपति ने सूत्रों की प्रतिलिपि के लिए उसे ही योग्य समझकर प्रतिलिपि का भार सौंपा।

९४. एकां गृहीत्वाऽत्र पुनर्द्वितीयां, लिपिं ददानः क्रमतोऽखिलानाम् ।
पुनर्लिपिं कारयितुं प्रवृत्तः, कर्तुं स्वयं सोऽपि समुद्यतोऽभूत् ॥

लूंका मेहता ने इस कार्य को सहर्ष स्वीकार कर लिया। तब उसे क्रमशः एक-एक प्रति प्रतिलिपि के लिए दी जाने लगी। एक प्रति की प्रति-लिपि होने के बाद ही दूसरी प्रति प्रतिलिपि के लिए दी जाती थी।

९५. स्वभू[1]लघीयोमनकर्थये श्रीशय्यम्भवोपज्ञ[2]महागभीरम् ।
पूर्वोद्धृतं सर्वशरीरपूर्णं, पुरा वितीर्णं दशकालिकं तत् ॥

सबसे पहले उसे श्री शय्यंभवगणी द्वारा अपने लघु पुत्र मनक मुनि के लिए स्वरचित, पूर्वों से उद्धृत, महान् गम्भीर एवं सर्वाङ्ग सम्पन्न दशवै-कालिक सूत्र की हस्तप्रति प्रतिलिपि करने के लिए दी।

९६. अधीत्य तच्चारुचमत्कृतोऽभूत्, क्व चेयमाचारविचारवीथी ।
एतत्प्रमाणेन न साधवोऽमी, विडम्बयन्ति स्वपरान् वराकाः ॥

उसका सर्वांगीण अध्ययन कर मेहता चौंक उठे। उन्होंने सोचा—कहां तो आगम में प्रतिपादित जैन साधुओं का आचार-विचार और कहां इन यतियों का आचार ! आगमदृष्टि से तो ये संत हैं ही नहीं। ये स्वयं की और दूसरों की विडंबना ही करते हैं, छलते हैं।

९७. परन्त्विदानीं समयान्[3] समग्रान्, स्वायत्ततां नेतुमलं प्रसारैः।
ततः प्रचक्रे प्रविलेखितुं स, द्वे द्वे लिपी रात्रिदिनप्रभेदात् ॥

परन्तु जब तक सारे सूत्र मेरे हस्तगत न हो जाएं, मुझे इस विषय का प्रसार नहीं करना है, ऐसा विचार कर लूंका लिपि करने के लिए दिये गये सूत्रों की यथार्थ रूप से एक दिन में और एक रात में—ऐसे दो-दो प्रतियां लिखने लगे।

९८. प्रायोद्धृता येन जिनागमाश्च, परेद्युरन्यत्र गते यदस्मिन्।
तदीयपुंसः प्रतिमार्ग्यमाणान्, पत्नी सुता वाऽवददेवमत्र ॥

९९. दैनीं प्रयच्छाम्यथवा च नैशीमित्थं निशम्यैव विलक्षचित्ताः।
काञ्चित् प्रदत्तां लिविमादधानाः, हता इवोपाश्रयमाश्रयंस्ते ॥

(युग्मम्)

इस प्रकार लूंका मेहता ने प्रायः जैनागमों की प्रतिलिपि कर ली थी। एक दिन वे कहीं दूसरे गांव गए हुए थे। गच्छाधिपति ने प्रतिलिपिकृत प्रतियों को लाने के लिए यतियों को भेजा। उनके पूछने पर लूंका मेहता की पत्नी अथवा लड़की ने उनसे पूछा—आपको कौनसी प्रति दूं, दिन में लिखी जाने वाली या रात में लिखी जाने वाली ? दो-दो प्रतियों की बात सुनकर वे आने वाले यति चौंक पड़े और प्रदत्त प्रतिलिपिकृत प्रतियों को लेकर उपाश्रय चले आये तथा सारी घटना ज्यों की त्यों संघपति को कह सुनायी।

१००. ग्रामात्ततो लेखचणः समागात्, विज्ञातवृत्तोऽपि समाधिवान् सः।
प्रत्यर्पणं तैः स्थगितं नितान्तं, स्वाचारशैथिल्यविकासभीत्या ॥

इधर मेहता भी ग्रामान्तर से लौट आए और सारा व्यतिकर सुनकर भी शांत रहे। अपने आचार-शैथिल्य के प्रगट हो जाने के भय से यतियों ने उन्हें प्रतिलिपि करने के लिए प्रतियां देना सदा के लिए स्थगित कर दिया।

१०१. अधीत्य सूत्राणि जिनेन्द्रधर्ममर्मज्ञ औद्धत्यमपास्य शीघ्रम्।
श्रद्धालुलोकानभिलक्ष्य दक्षः, प्रचक्रमे बोधयितुं हिताय ॥

लूंका मेहता जैन सूत्रों का अध्ययन कर जैन धर्म के मर्मज्ञ हो गए। उन्होंने अपने अहं को छोड़, शीघ्र ही श्रद्धालु लोगों को अभिलक्षित कर, उनके हित के लिए प्रतिबोध देना प्रारम्भ कर दिया।

१०२. तत्संघसभ्या अपि भव्यभव्याः, श्रोतुं समायान्ति विचारधाराम्।
आचारमागारमुचां यथार्थमाकर्ण्य जैनं सुकृतं प्रसन्नाः॥

उस संघ के कुछ भव्य लोग मेहता की विचारधारा को सुनने के लिए आने लगे। मेहता से जैन मुनियों के यथार्थ आचार को सुनकर वे बहुत प्रसन्न हुए।

१०३. पप्रच्छुरात्मीययतीन् प्रयत्नात्, रोषारुणाक्षाः प्रबभाषिरे ते।
उम्[1] साम्प्रतं संयमिनां धुरं तां, वोढुं प्रकाण्डोद्धुर[2]कन्धरः[3] कः॥

मेहताजी के पास साध्वाचार सम्बन्धी बातें सुनकर श्रद्धालुओं ने अपने यति गुरुओं से प्रयत्नपूर्वक पूछा—'क्या मेहताजी द्वारा बतलाया गया साध्वाचार वास्तव में सही है?' ऐसा पूछते ही यतिजन क्रोध से लाल-पीले होते हुए बोले—हूं, इस कलिकाल में मुनिचर्या की उस कठोर धुरा को वहन करने में कौन प्रशस्त और उन्नत कंधरा वाला है?

१०४. परस्सहस्राक्रमणैः स तत्राक्रान्तोऽपि नो सत्यपथापसारी।
उपादिशन् शुद्धजिनेन्द्रधर्मं, क्षुब्धो न रुद्धो वलितो न किञ्चित्॥

यतियों ने लूंका मेहता पर हजारों आक्रमण किए। लूंका ने नाना प्रकार से आक्रांत होने पर भी अपने सत्य मार्ग को नहीं छोड़ा। वे विशुद्ध जैन धर्म का प्रकाशन करते हुए न क्षुब्ध हुए, न रुके और न अपने पथ से किंचित् भी मुड़े।

१०५. पार्श्वस्थशीला हि विचिन्तयन्ति, श्रेयस्तमा नो स्थितिरत्र तस्मात्।
उत्काः प्रयातुं प्रविलोक्य लोकैरुक्ताः प्रभूताऽयतनाऽधुनाऽसौ॥

पार्श्वस्थ मुनियों ने सोचा कि यहां की स्थिति श्रेयस्कर नहीं है। वे वहां से प्रस्थान करने के लिए उत्कंठित हो गए। प्रस्थान को देखकर लोगों ने कहा—भगवन्! अभी प्राणियों की अयतना का बहुत प्रसंग है, अतः यहां रुकना ही उचित है।

---

१. उम्—क्रोधपूर्वक कहना (रोषोक्तावुं....अभि० ६।१७८)
२. उद्धुरम्—उन्नत (तुंगमुच्चमुन्नतमुद्धुरम्—अभि० ६।६४)
३. कन्धरा—ग्रीवा (कन्धरा धमनी ग्रीवा—अभि० ३।२५०)

१०६. तैः प्रोचिरे भो मनुजा! न हिंसा, धर्माय दोषाय ततस्त एव ।
शोचन्त्यमी साध्वधमा न सन्तः, दयाऽपि येषां हृदये न कापि ॥

तब संघस्थ मुनियों ने कहा—श्रावको ! धर्म के लिए की जाने वाली हिंसा में दोष नहीं है । यह सुनकर श्रावकों ने सोचा, ये संत नहीं, अधम साधु हैं । इनके मन में कोई दया है ही नहीं ।

१०७. पाखण्डिनः पञ्चमदुःषमारे, ये भाविनस्ते कथितप्रकारैः ।
वक्ष्यन्ति लुंकासविधे[1] श्रुतं यदम्यैव[2] तल्लक्षणलक्षिताश्च ॥

और मेहता ने भी तो यही बतलाया था कि इस पंचम कलिकाल में जो पाखंडी होंगे वे ही ऐसी प्ररूपणा करने वाले होंगे कि देव, गुरु और धर्म के निमित्त होने वाली हिंसा हिंसा नहीं होती । तथा मेहता के द्वारा बतलाये गए पाखंडियों के सारे लक्षण इन यतियों में स्पष्ट रूप से प्रतिभासित हो रहे हैं ।

१०८. अयात् प्रबुद्धाः पुरुषाः कियन्तो, नेपथ्यसारान् परिमुच्य धैर्यात् ।
जिघृक्षवः संयममन्तरङ्गं, लुंकासमीपे समुपागतास्ते ॥

तब कुछेक प्रबुद्ध व्यक्ति वेशधारी यतियों को छोड़कर धैर्यपूर्वक विशुद्ध संयम की दीक्षा लेने के इच्छुक होकर लूंका मेहता के पास आए ।

१०९. अभ्युद्गमः शाम्भवशासनस्य, भव्यो हि तस्माच्छुभसङ्गमोऽयम् ।
भूतिग्रहोऽयं दशमीदशाप्तो, लग्नोऽपि बालोऽद्य च धूमकेतुः ॥

वास्तव में वह समय जैन शासन के अभ्युदय का समय था, तभी तो लूंका जैसे भव्य प्राणी का शुभ संयोग मिला और उस समय भगवान् की राशि पर लगे हुए भस्मग्रह के वृद्ध हो जाने तथा धूमकेतु की अभी बाल्य अवस्था होने के कारण ही यह सब कुछ बन पाया था ।

१ ३ ५ १
११०. भूरामबाणावनिवैक्रमाब्दे, लुंकाभिरेवं परमोच्चभावैः ।
चतुःपुरासङ्ख्यकचारुचत्वारिंशज्जनाः संयमिता बभूवुः ॥

तब विक्रम संवत् १५३१ में ४४ व्यक्तियों ने प्रतिबुद्ध होकर लूंका मेहता के साथ भागवती जैन दीक्षा ग्रहण की ।

१११. महौजसा सार्वविशुद्धमार्गप्रचारकार्ये प्रभवोऽवधाद्यैः ।
द्वयोर्द्वयोस्तन्मुनिपुङ्गवानामेकैकयूथोऽजनि तारणाय ॥

---

१. सविधं—पास में (पार्श्वं समीपं सविधं....अभि० ६।८६)
२. यदम्यैव—यत्+अमी+एव ।

दीक्षा ग्रहण करने के बाद महान् शक्तिशाली लूंका ने जैन धर्म का अहिंसक साधनों से प्रचार करने के लिए तथा भव्य प्राणियों का संसार समुद्र से उद्धार करने के लिए ही दो-दो साधुओं का एक एक टोला बनाया।

११२. बावीसटोला इति लोकवाण्यां, ख्याताः क्षितौ स्वान्यशिवार्थसिद्धयै ।
परोग्रकष्टैर्न कदाऽपि खिन्नो, लुंकाभिधानः श्रमणेश्वरः सः ।।

दो-दो साधुओं का एक एक टोला हो जाने से बावीस टोले बन गये। अतः लोकभाषा में 'बावीस टोला' इस नाम से ये प्रसिद्ध हुए। स्व-पर कल्याण के लिए तत्पर आचार्य लूंका साधनागत अत्यधिक उग्र कष्टों से भी कभी खिन्न नहीं हुए।

११३. मानप्रतिष्ठानिजपोल्लवीथीप्रोद्घाटनं वीक्ष्य निजार्थहानिम् ।
विषप्रयोगात् त्रिदिवं[1] कुदृग्भिः, सम्प्रेषितः सः श्रुतिरीदृशीयम् ।।

ऐसी भी किंवदन्ती सुनने में आती है कि उन दुष्ट शिथिलाचारियों ने अपने शिथिलाचार के प्रकट हो जाने और अपनी मान, प्रतिष्ठा तथा स्वार्थ की हानि हो जाने के भय से उस लूंका मेहता को विष-प्रयोग से मार दिया या मरवा दिया।

११४. केषां मते सांशयिकी व दीक्षा, लुंकामहामात्यवरस्य तस्य ।
तदाख्यया ते श्रमणा बभूवुर्गच्छोऽपि जज्ञे वटवद्विवृद्धः ।।

कुछ मानते हैं कि लूंका ने दीक्षा ग्रहण नहीं की और कुछ मानते हैं कि उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। कुछ भी क्यों न हो, आखिर मत का प्रवर्तन तो उन्हीं के नाम से हुआ और वे साधु भी लोंकागच्छीय साधु कहलाये। यह गच्छ वट वृक्ष की तरह विस्तृत होने लगा।

११५. पट्टद्वयं तस्य पवित्रनीत्या, चचाल तावन्ननु धूमकेतुः ।
तारुण्यमाप्तः स पुनः प्रहारैः, सम्पातयामास विशुद्धिमार्गात् ।।

अनुमान से ऐसा लगता है कि यह सम्प्रदाय दो आचार्यों तक तो शुद्ध ही चला, पर इतने में धूमकेतु युवा बन गया। उसने अपने प्रहारों से उन साधुओं को विशुद्ध मार्ग से च्युत कर दिया।

११६. अत्रान्तरे शुद्धपरम्परार्को, व्यस्तं कदाप्यैदुदयं कदापि ।
यः कोप्युदस्थान् मुनिभावितात्मा, केतोः कटाक्षैः क्षमितो न हन्त! ।।

---

१. त्रिदिवं—स्वर्ग।

इसके बाद भगवान् के शुद्ध मार्गरूपी सूर्य का कभी उदय और कभी अनुदय होता रहा है। यदि कभी कोई भावितात्मा अनगार प्रकट होता तो भी धूमकेतु के तीक्ष्ण कटाक्ष उसे सहन नहीं कर सकते थे।

११७. तदीयनिर्ग्रन्थपरम्परायां, यूथाधिनाथो रघुनाथनामा ।
विशालकीर्त्तिः सुविशालसम्पदाचार्यमौलीमुकुटोपमानः ।।

उनकी निर्ग्रन्थ परम्परा में होने वाले आचार्यों में मुकुटोपम, विशाल कीर्ति और विशाल सम्पदा को धारण करने वाले रघुनाथजी नामक आचार्य हुए।

११८. तत्सम्प्रदायेषु विवर्त्तमाना:, पर:शता: स्युर्मुनयोऽपि साध्व्य: ।
श्राद्धा: कियन्तो गणितुं ह्यशक्यास्ततः पराध्यो[1] रघुनाथसूरि: ।।

सैकड़ों साधु-साध्वियों एवं अगणित श्रावक-श्राविकाओं से सम्प्रदाय उस सयय बहुत ही बढ़ा-चढ़ा हुआ था और रघुनाथजी उस समय उस सम्प्रदाय के सर्वेसर्वा थे।

११९. निशम्य तं कर्णपरम्पराभिर्दीपाङ्गजोऽन्वेषक एष सम्यक् ।
तदीयसम्पर्कपरायणोऽभूत्, किं नो प्रवासं भजते धनार्थी ?।।

तब चरित्र-नायक भिक्षु ने लोगों से इस सम्प्रदाय की प्रशंसा सुनी और अन्वेषण करने पर उसे सम्यक् पाया। अब वे उस सम्प्रदाय के साथ सम्पर्क करने में तत्पर हुए। क्या धनार्थी व्यक्ति प्रवास में प्रस्थित नहीं होता ?

१२०. सुधाकिरं साधुगिरं निशम्य, वैराग्यबृद्धिर्द्विगुणा विवृद्धा ।
किं नो शरच्चन्द्रसुराश[2]वृष्ट्या, क्षीराब्धिवेला विपुलोच्छ्रिता स्यात् ।।

मुनियों की सुधारस के समान सुमधुर देशना का श्रवण करने से आपकी वैराग्य भावना वैसे ही दुगुनी बढ़ गई जैसे शरच्चंद्र की अमृतमयवृष्टि से क्षीर समुद्र की वेला अत्यधिक ऊंची हो जाती है।

१२१. अदृष्टभिन्नोत्तम एष एतं, मेने वरेण्यं व्यवहारदृष्ट्या ।
ससम्भ्रमोऽलब्धविशिष्टबोधो, वैडूर्यबुद्धिर्न किमंशुकाचे ।।

---

१. पराध्यः – प्रधान (प्रष्ठपरार्ध्यपराणि····अभि० ६।७५)

२. सुराश:—अशनं अश:, सुराणां अशनं सुराश:—अमृतम्।

भिक्षु ने रघुनाथजी से भिन्न उत्तम आचार्य को पहले नहीं देखा था, इसलिए व्यवहारदृष्टि से रघुनाथजी को श्रेष्ठ माना। रत्नपरीक्षा में अनिपुण व्यक्ति क्या चमकते हुए कांच में जल्दबाजी से वैडूर्यमणि की कल्पना नहीं कर लेता ?

१२२. आबद्धमूलोऽत्र गुरुत्वभावो, वैरङ्गिको बोधयति स्वपत्नीम् ।
असारसंसारविहार एष, सरित्प्रवाहप्रतिमो[1]ऽस्ति कान्ते ! ।।

दीपाङ्गज भिक्षु ने भी रघुनाथजी को गुरु के रूप में स्वीकार कर लिया तथा साथ ही दीक्षा की तीव्र उत्कंठा से प्रेरित हो अपनी पत्नी को प्रतिबोध देते हुए कहा—'कांते ! यह संसार का आवास असार एवं सरित्प्रवाह के समान अस्थिर है।'

१२३. सम्बन्ध एष प्रतिबन्ध एव, को वा पतिः का दयिता दयार्द्रा ।
पचेलिमाऽरालकराल[2]कर्मोदये सहायो नहि कोऽपि कस्य ।।

'यह भौतिक सम्बन्ध भी एक प्रतिबंध ही है। कौन किसका पति और कौन किसकी दयालु पत्नी ? जब परिपक्व, कुटिल और भयंकर कर्मों का उदय होगा, तब कोई किसी का सहयोगी नहीं बन सकेगा।'

१२४. भुजङ्गभोगायित[3]कामभोगान्, रोगानिमान् विद्धि विवृद्धशोकान् ।
एतत्पिपासा हि समस्तदुःखमेतद्विरक्तिः परिपूर्णसौख्यम् ।।

'कांते ! बिषधर के भयंकर फन के समान भय उत्पन्न करने वाले ये भौतिक कामभोग महारोग एवं शोक को ही पनपाने वाले हैं। इनकी लालसा ही समस्त दुःखों का मूल है और इनकी विरक्ति ही परिपूर्ण सुख है।'

१२५. लीलावति ! त्वल्ललिताभिलीला, मां रक्षयित्री किमु मृत्युकाले ।
याम्य[4]प्रवातोद्धतवारिवाहं, त्रातुं क्षमा नो जलवालिका[5]ऽपि ।।

'अयि लीलावति ! दक्षिण दिशा की उद्धत वायु से बिखरते हुए बादलों की रक्षा जैसे चमकती हुई बिजली नहीं कर सकती वैसे ही क्या मृत्युकाल में तेरी यह ललित लीला मेरी रक्षा कर सकेगी ?'

१. प्रतिमः—सदृश (प्रतिमो निभः—अभि० ६।९८)
२. पचेलिमं—परिपक्व। अरालं—कुटिल (वृजिनं भंगुरं भुग्नमरालं—अभि० ६।९३)। करालं—भयंकर।
३ भोगः—सांप का फन (दर्वी भोगः फटः स्फटः—अभि० ४।३८१)
४. याम्यः—दक्षिण दिशा
५. जलवालिका—विद्युत् (सौदामनी क्षणिका च ह्रादिनी जलवालिका—अभि० ४।१७१)

१२६. प्राणेश्वरि ! प्रेमसहस्रपाशैस्तथैव नो त्वामवितुं क्षमोऽहम् ।
स्वयं विनश्यन् मुदिरोऽनुगां तां, गोपायितुं किं चपलां[1] समर्थः ? ॥

'हे प्रिये ! क्या स्वयं विनष्ट होने वाला मेघ अपने पीछे चलने वाली विद्युत की रक्षा कर सकता है ? ठीक वैसे ही तेरे प्रेम के सहस्र बंधनों से बंधा हुआ मैं भी मृत्यु से तेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकता ।'

१२७. वार्द्धक्यजन्मप्रमयामयाधिबाधासपत्राकृतिपूर्णविश्वे[2] ।
निमेषमात्रं क्व सुखं सुखाशा, मारीचिकाम्भः[3] परतो न काचित् ॥

'हे भद्रे ! यह संपूर्ण विश्व वार्धक्य, जन्म-मरण, रोग, आधि और व्याधि तथा अन्य तीव्र पीड़ाओं से पीड़ित है। इसमें निमेषमात्र भी सुख कहां ? फिर भी यहां सुख की कल्पना करना मरु-मरीचिका के जल से प्यास बुझाने से अधिक नहीं है ।'

१२८. सौदामिनी[4]सन्निभदृष्टनष्टा, या यौवनश्रीः श्रयदभ्रतारा ।
आयुर्ध्वजोच्चूल[5]चलं चला श्रीर्विपद्विषक्तैहिकसम्पदाली[6] ॥

'जिस यौवनश्री के तारे आकाश में लगे हुए हैं वह भी विद्युत् के समान क्षणभंगुर ही है। यह आयु भी उड़ती हुई ध्वजा के ऊपरीभाग के समान अस्थिर है। लक्ष्मी चञ्चल है और ये समस्त ऐहिक विभूतियां विपदाओं के भण्डार हैं।'

१२९. बहूपचारैः रुचिरैरतीवसत्कारितोप्येष न सत्क्रियेत ।
विकारमायाति यदा तदाऽयं, कायोऽस्मदीयः खलवत् सदैव ॥

'अयि प्रणयिनी ! जैसे दुष्ट मनुष्य किये गए उपकार का बदला अपकारों से ही चुकाता है, वैसे ही अत्यधिक सत्कृत होने वाला अपना यह शरीर सत्कार का बदला सदा विकारों से ही चुकाता है, जब-तब रोगग्रस्त या विकृत होकर ही चुकाता है।'

१. चपला—विद्युत् (चञ्चला चपलाऽशनिः—अभि० ४।१७१)
२. प्रमयः—वध (व्यापादनं विशरणं प्रमयः—अभि० ३।३४)
आमयः—रोग (आम आमय आकल्यं—अभि० ३।१२७)
आधिः—मानसिक व्यथा (स्यादाधिः मानसीव्यथा—अभि० ६।७)
सपत्राकृतिः—अत्यधिक पीड़ा (सपत्राकृतिनिष्पत्राकृती त्वत्यन्तपीडने—अभि० ६।८)
३. मरीचिका—मृगतृष्णा (मरीचिका मृगतृष्णा—अभि० २ १५)
४. सौदामिनी—विद्युत् (सौदामिनी क्षणिका च—अभि० ४।१७१)
५. उच्चूलः—ध्वजा का ऊपरी भाग (अभि० ३।४१४)
६. आलिः—श्रेणी (मालाल्यावलिपंक्तयः—अभि० ६।५९)

१३०. अधःकृतात्मीयविवेकवाणि !, बुध्यस्व बुध्यस्व ततो ह्यमुष्मात् ।
निरामयापायनिकायकायाज्जिनेन्द्रधर्मं प्रतिदध्वहेऽद्य ।।

'आत्मविवेक से सरस्वती को भी जीतने वाली भद्रे ! तुम जागो, जागो, जब तक यह भौतिक शरीर व्याधियों से अभिभूत न हो, उससे पहले ही हमें जिनेश्वरदेव के धर्म—चारित्र को स्वीकार कर लेना चहिए ।'

१३१. निर्यात्यनायासविकाशितायां, यत्केवलायां सुविलासितायाम् ।
निमीलिताक्षं सकलं समूर्च्छ्, दाम्पत्यमित्थं किमु तत् प्रशस्तम् ।।

'बिना किसी परिश्रम के सहज रूप से मिले हुए इस दिव्य दाम्पत्य जीवन को आंखें मूंदकर केवल ऐहिक विलासिता में ही मूच्छित होकर खपा देना कहां तक प्रशस्त हो सकता है ?'

१३२. सुरासुरानन्तसमृद्धभोगा, भुक्ता न तृप्तास्तत ऐहिकैः किम् ।
जाता वितृष्णा न सुधाब्धिपूरैः, कथं तदा दर्भशिरःपृषद्भिः ।।

'प्रिये ! इस जीव ने देवों के अनन्त दिव्य भोगों का उपभोग किया, फिर भी आत्मतोष नहीं हुआ । अब ऐहिक तुच्छ भोगों से तो होना ही क्या है ? जो समुद्र के अनन्त पानी से भी तृप्त नहीं हुआ, वह दर्भ के अग्रभाग पर टिके हुए पानी की बूंदों से कैसे तृप्त हो सकता है ?'

१३३. यद्दम्पतिभ्यां विजयाजयाभ्यामेकत्रशय्यामधिशायकाभ्याम् ।
आजन्मब्रह्माचरणं सुचीर्णमद्याऽपि तद् विश्वमुखं पुनाति ।।

'एक ही शय्या में शयन करते हुए भी विजय सेठ और विजया सेठानी ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का सफलता पूर्वक पालन किया । आज भी उनके दाम्पत्यजीवन की पवित्रता जन-जन के मुख पर मुखरित है ।'

१३४. तज्जम्पतित्वं[१] प्रभवेत् कदा नौ, मंस्यावहे साधुदिनं तदात्वम् ।
न ब्रह्मचर्यात् परमोऽस्ति धर्मो, न ब्रह्मचर्यादपरञ्च शर्म ।।

'वही दिन अपने लिए सर्वश्रेष्ठ दिन होगा जब हमारा दाम्पत्य जीवन भी वैसा ही बनेगा । इस विश्व में ब्रह्मचर्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है और ब्रह्मचर्य से अन्य कोई सुख नहीं है ।'

---

१. जम्पती—दम्पती, पति-पत्नी (जम्पती दम्पती—अभि० ३।१८३)

१३५. एकान्तकल्याणकृते धृतं सत्, व्रतं व्रतं तन्न ततोऽतिरिक्तम् ।
अनात्मदृष्ट्याऽऽचरितं तथाऽऽप्तधर्माय नाऽसंयमपोषकत्वात् ।।

'एकांत आत्म-कल्याण की दृष्टि से स्वीकृत व्रत ही व्रत कहलाता है, दूसरा नहीं। अनात्मदृष्टि से आचरित व्रत आत्म-कल्याण के लिए नहीं होता। वह असंयम का पोषक होता है।'

१३६. अतो निजात्मोद्धृतये सदैव, वहेव[1] विस्फूर्जितमूर्जितं तत् ।
विरज्य भोगादनुरज्य तत्त्वे, मदुक्तवाक्यं सफलं कुरुष्व ।।

'यह ब्रह्मचर्य व्रत सरिता की भांति निर्मल, सतत प्रवहमान और शक्तिशाली है। इसे केवल आत्मा के उद्धार के लिए ही स्वीकार करना है। प्रिये ! भोगों से विरक्त और तत्त्वों में अनुरक्त होकर तुम मेरी भावना को सफल करो।'

१३७. तदा चरित्राधिपतेर्मृगाक्षी[2], सर्वं तदुक्तं प्रतिपद्यते स्म ।
स्वातिग्रहे शारदमेघबिन्दुमनाविलं[3] सागरशुक्तिकेव ।।

तब चरित्रनायक भिक्षु की पत्नी ने उनके द्वारा कही हुई सारी बातें वैसे ही स्वीकार कर लीं जैसे स्वाति नक्षत्र में शारदीयमेघ की पवित्र बूंद को समुद्र की सीप स्वीकार करती है।

१३८. क्वोत्तालफालस्तरुणत्वबालः, क्व ब्रह्मचर्यं परमं प्रशान्तम् ।
क्व यौवनारम्भ उदग्रदम्भः, क्वेदं च सारल्यसुधांशुबिम्बम् ।।

अहो ! कहां तो उछलकूद करने वाला नवयौवन और कहां यह परम उपशांत ब्रह्मव्रत ? कहां तो प्रचंड दांभिक यौवन का आरम्भ और कहां निर्मल चन्द्रमा का बिंब ब्रह्मचर्य !

१३९. तथापि तस्मिन्नविलोमलोमसमग्रसामग्र्ययुते युवत्वे ।
आजन्मशीलं विमलं सलीलं, जायापतिभ्यां[4] समुपाददे तत् ।

फिर भी उस दम्पती ने समस्त भोगानुकूल सामग्री के होते हुए भी युवावस्था में ही आजीवन विमल ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर लिया।

---

१. वहा—नदी (सिन्धुः सैवलिनी वहा च········अभि० ४।१४६)
२. मृगाक्षी—स्त्री।
३. अनाविलं—निर्मल (विमलं····मवदातमनाविलं—अभि० ६।७२)
४. जायापतिः—पति-पत्नी।

१४०. शीलं हि नो स्वीकृतमेव किन्तु, शिवश्रियाः पट्टकमात्तमाभ्याम् ।
उद्यद्युवत्वाब्धितरत्तरङ्गभङ्गेषु रङ्गान्निहिता स्वमुद्रा ।।

उस दम्पती ने ब्रह्मव्रत ही स्वीकृत नहीं किया, पर मानो उन दोनों ने मुक्ति का प्रमाणपत्र ही प्राप्त कर लिया और उत्ताल यौवन के समुद्र की चंचल तरङ्गों पर अपना आधिपत्य भी जमा लिया।

१४१. संविग्नतेयं नवदूतिकेव, सम्प्रेरयन्ती प्रति मौनमिज्यम्[1] ।
तयोस्तदर्थं सुकृतस्य गोष्ठीं, सम्पादयित्री प्रविनष्टपापा ।।

वह निर्मल सविग्नता (विरागता) नवदूति का रूप धारण कर उन्हें संयम के लिए प्रेरित करती हुई उन दोनों के बीच धार्मिक गोष्ठी का बार-बार समायोजन कराने लगी।

१४२. अर्थाय कामाय विनश्वराय, विचारधारा सततप्रवाहा ।
न चान्यपौमर्थ्यकृते कदापि, तदा च सा पन्नगलोककर्त्री ।।

अर्थ और काम—इन दो विनश्वर पुरुषार्थों के लिए सतत चर्चाएं चलती रहती हैं, किन्तु धर्म और मोक्ष—इन दो पुरुषार्थों के लिए कभी चर्चाएं नहीं होतीं। अर्थ और काम की चर्चाएं नरकलोक में ले जाने वाली होती हैं।

१४३. अर्थार्जनाधीः सुकृतार्जनाधीर्विवादसक्ता इव वर्द्धमाना ।
जेत्री द्वितीया शुभसंयमाय, बभूव सज्जोऽर्जुनवद् रणे यः ।।

(संभव है पत्नी ने अर्थोपार्जन पर और भिक्षु ने धर्मोपार्जन पर बल दिया हो) तब अर्थार्जन और धर्मार्जन की दोनों बुद्धियां विवादग्रस्त हुईं। विवाद बढा। अन्त में धर्मोपार्जिका मति की ही विजय हुई। तब भिक्षु संयम के लिए वैसे ही सज्ज हो गए जैसे अर्जुन युद्ध के लिए।

१४४. ज्ञप्रज्ञयाक्रान्तविरक्तिबुद्धिर्निरस्तसंसारनिवासभावः ।
प्रोवाच पत्नीं स्फुटबोधवाण्या, वाञ्छामि दीक्षां सुसमीक्षिताङ्गाम् ।।

भिक्षु ज्ञप्रज्ञा और प्रत्याख्यान प्रज्ञा से सन्निहित विरक्ति युक्त थे। वे गार्हस्थ्य जीवन से दूर हो चुके थे। उन्होंने पत्नी को प्रतिबोध देने के लिए स्पष्ट वाणी में कहा—'प्रिये! अब मैं सुसमीक्षित दीक्षा स्वीकार करना चाहता हूं।'

---

१. मौनमिज्यम्—संयमरूपी यज्ञ।

१४५. पित्रोः प्रदत्तामुपलक्ष्य किञ्चित्, सार्थां मदीयां वितनोमि संज्ञाम् ।
यत्स्थापनावद्धि न नाममात्रात्, सिद्धिर्न निक्षेपविविक्ततत्वात् ॥

'प्रिये ! पिताश्री ने सोच-समझकर ही मेरा नाम 'भिक्षु' रखा होगा। अतः मैं उस नाम को सार्थक करना चाहता हूं, पर उसकी सार्थकता केवल स्थापनानिक्षेप की भांति नाम मात्र से नहीं हो सकती। उसकी सार्थकता तभी है जब मैं भावभिक्षु बनूं।'

१४६. सधर्मिणित्वं पुनरात्मवत्त्वं, तद् द्व्यर्थसिद्धिं युगपद् विलोक्य ।
अवाङ्मुखी सा कुशला कथं स्यात्, द्रुतं तदाकूतवशंवदाऽभूत् ॥

तब भिक्षु की कुशल पत्नी सहधर्मिणीपन तथा आत्मवत्व—इन दोनों की युगपत् सिद्धि देखकर उनसे विमुख कैसे होती ? वह तत्काल ही भिक्षु की अभिलाषा के वशवर्ती हो गई, दीक्षा के लिए तैयार हो गई।

श्रीनाभेयजिनेन्द्रकारमकारोद् धर्मप्रतिष्ठां पुन-
र्यः सत्याग्रहणाग्रही सहनयैराचार्यभिक्षुर्महान् ।
तत्सिद्धान्तरतेन चारुरचिते श्रीनत्थमल्लर्षिणा,
श्रीमद्भिक्षुमुनीश्वरस्य चरिते सर्गो द्वितीयोऽभवत् ॥

श्रीनत्थमल्लर्षिणा विरचिते श्रीभिक्षुमहाकाव्ये
भिक्षुविवाह-गुर्वन्वेषण-ब्रह्मचर्यादाननामा
द्वितीयः सर्गः ।

तीसरा सर्ग

प्रतिपाद्य—पत्नी का वियोग, भिक्षु का दीक्षा के लिए तत्पर होना, माता द्वारा प्रतिबोध और अन्त में स्वीकृति।

श्लोक— १२६

छन्द— उपेन्द्रवज्रा

वर्ण्यम्

भिक्षु की पत्नी अकस्मात् रुग्ण होकर चल बसी। पुनः विवाह के लिए माता दीपां ने तथा नगर के अन्यान्य गणमान्य व्यक्तियों ने अनुरोध किया, परन्तु भिक्षु ने स्पष्ट शब्दों में निषेध कर प्रव्रजित होने की बात कही। उन्होंने प्रव्रज्या की कसौटी पर स्वयं को कसा और अपने को पूर्ण योग्य पाकर दीक्षित होने का दृढ़ संकल्प कर लिया। मां दीपां ने विविध प्रकार से समझाया, परंतु भिक्षु अपने संकल्प से विचलित नहीं हुए। मां दीपां भी 'दीक्षा न देने' के अपने कथन पर अडिग थीं। आचार्य रुघनाथजी ने उसे समझाया। उसने सिंह के स्वप्न की बात कही। आचार्य ने स्वप्न को यथार्थ बनाने का सहेतुक उपाय बताया। मां ने दीक्षा की स्वीकृति दे दी। भिक्षु दीक्षा ग्रहण करने कंटालिया से बगडी आए।

तृतीय: सर्गः

१. अथ स्थितप्रज्ञशिरोमणिः स, स्वचिन्तितार्थामृतसिंधुमग्नः ।
विचारयामास विचारदक्षः, कथं विलम्बः शुभसाध्यसिद्धौ ॥

स्थितप्रज्ञ शिरोमणी, अपने चिन्तितार्थ अर्थात् साध्य के अमृत सिन्धु में निमग्न, विचारदक्ष भिक्षु ने सोचा—अब शुभ साध्य की सिद्धि में मुझे विलम्ब क्यों करना चाहिए ?

२. कृता प्रतिज्ञा युगपद् युगाभ्यां, मुनित्वलक्ष्मीललितौ न यावत् ।
तपः सदैकान्तरितं च तावत्, समाश्रयन्तौ भवितास्व एव ॥

'जब तक हमें दीक्षा नहीं आएगी, तब तक हम अनवरत एकान्तर तप करते रहेंगे ।' उन दोनों ने (पति-पत्नी ने) एक साथ ऐसी कठोर प्रतिज्ञा की ।

३. गदैरचिन्त्यैर्व्यथितं शरीरं, निजाङ्गनायाः सहसा समीक्ष्य ।
अनित्यभावाभितरङ्गितोऽपि, बभूव धीरोऽपि तदाऽऽश्वधीरः[1] ॥

उन्हीं दिनों अकस्मात् भिक्षु की पत्नी को रोग ने चारों ओर से घेर लिया । अपनी पत्नी की सहसा व्याधिग्रस्त अवस्था को देख, अनित्य भावना से भावित होते हुए भी धीर भिक्षु तत्काल अधीर हो उठे ।

४. अतीवचित्रं किमिदं शरीरं, नवैर्नवैः संस्करणैः प्रपुष्यत् ।
क्षणेन पश्यत्क्षयमेवमेति, निरङ्कुशं हा ! किमु तत्र रागः ॥

यह शरीर अतीव विचित्र है । नित्य नये-नये संस्कारों से पोषित होता हुआ भी यह देखते-देखते ही नष्ट हो जाता है । ऐसे इस निरंकुश देह पर कैसा मोह ?

५. भिषग्वराणां प्रतिकारभारे, रिरक्षिषाभिर्बहुरक्ष्यमाणाम् ।
निनाय तां संयमनीं[2] पुरीं च, स धर्मराजोऽप्यह ! चित्रमेतत् ॥

---

१. तदा+आशु+अधीरः ।
२. संयमनी—यमपुरी (पुरी पुनः संयमनी—अभि २।१००)

वैद्यों द्वारा अनेक रक्षात्मक उपचार किये जाने पर भी पत्नी की बीमारी दूर नहीं हो पाई और आखिर धर्मराज उसको उठाकर अपनी संयमनी पुरी में ले ही गया। (वह दिवंगत हो गई।)

६. क्षणात् स्वकान्ताक्षणनं[1] निरीक्ष्य, विरागवेलायितहृद्धुनीशः[2]।
विकल्पयामास स भिक्षुरेवं, यमस्य लीला कुटिलाऽस्ति कीदृक्।।

अपनी कान्ता की मृत्यु को देखकर भिक्षु का हृदय-समुद्र विराग से आप्लावित हो गया। उन्होंने सोचा—कैसी कुटिल लीला है काल की!

७. कृता किमाशा किमिह प्रजातं, स्थिता हृदाशा हृदये हि लीना।
द्रुतं भविष्यामि पवित्रसाध्वी, मृता च सेयं मुकुलाशया हा! ।।

क्या आशा की थी और क्या हो गया? हृदय की सारी आशाएं हृदय में ही लीन हो गईं। इसने सोचा था कि मैं पवित्र साध्वी बनूंगी और वह इसी भावना में चल बसी।

८. अहो! कृतान्तस्य कठोरकोष्ठो, विवेकनिःस्वत्वमसीम यस्मात्।
शुभाशयं वा त्वशुभाशयं वा, न वीक्षते सर्वसमानवृत्तः।।

अहो! यमराज का हृदय कितना कठोर है! उसमें विवेक की असीम दरिद्रता है। इसीलिए वह न शुभ आशय वाले को ही देखता है और न अशुभ आशय वाले को ही। वह सबमे समान रूप से बरतता है।

९. तनोत्यपार्थं समयातिवाहं, जनोऽद्य वा श्वः प्रलपन् विमुग्धः।
अपेक्षते किं क्षणमात्रमेष, प्रमृष्टरागः समयोऽपि तं हा! ।।

संसार में विमूढ मनुष्य 'आज या कल, आज या कल' कहता हुआ अपने समय को व्यर्थ गंवा डालता है। परन्तु क्या यह निर्मोही काल क्षणभर के लिए भी उसकी अपेक्षा करता है?

१०. अपूर्वमन्धत्वमिहाङ्गभृद् यद्, विवर्त्तमानं रविनन्दनस्य[3]।
कुतूहलं विश्वविनाशि साक्षात्, न वीक्षते वा विपरीतदर्शी।।

इस विश्व में यह एक अपूर्व अन्धत्व है कि मानव विश्व-विनाशी काल की क्रीडा को साक्षात् देखता हुआ भी नहीं देख रहा है और यदि देखता भी है तो विपरीत दृष्टि से।

१. क्षणनं—मरण (निस्तर्हणं विशसनं क्षणनं—अभि ३।३४)
२. धुनीशः—धुनी—नदी, तस्या ईशः—समुद्रः।
३. रविनन्दनः—धर्मराज।

११. यतः परेषां किमु रक्षणाशा, जहाति यो नो पितरौ कथञ्चित् ।
सदैव पृष्ठे पतनात् प्रभाभी, रविर्भिया भ्राम्यति खे नितान्तम् ।।

इस काल से औरों के रक्षण की आशा ही क्या की जा सकती है जबकि यह अपने माता-पिता को भी नहीं छोड़ता ? प्रभा इसकी माता है और सूर्य इसका पिता । यह काल सदा उनके पीछे लगा रहता है, इसीलिए यह बेचारा सूर्य भयभीत होकर अपनी पत्नी प्रभा को साथ लिए आकाश में निरन्तर भ्रमण करता रहता है ।

१२. समस्तसन्तापकरं स्वपुत्रं, निभाल्य रोषारुणवक्त्रपूषा ।
तपंश्च शीर्णाङ्घ्रिमम्[1] चकार, जहार कार्यं न निजं तथाऽपि ।।

सभी प्रकार से संताप देने वाले अपने पुत्र काल को देखकर उसके पिता सूर्य ने क्रोध के आवेश में उसके पैर तोड़ डाले, उसे लंगड़ा बना दिया । फिर भी काल ने अपना कार्य नहीं छोड़ा ।

१३. मतं तु दूरेऽस्तु रुषा प्रहारात्, स्ववीजिनं हस्तसहस्रपातैः ।
चरीकरीत्यस्तमयं कृतान्तः, कृतघ्नवत्त्वं किमतः परं ही ।।

पिता की आज्ञा का पालन करना तो दूर रहा परन्तु अपने पिता के सहस्ररश्मिरूप करों से रोके जाने पर भी वह नहीं रुकता और क्रुद्ध होकर अपने पिता को बार-बार अस्त ही करता रहता है । इससे बढ़कर उस काल की क्या कृतघ्नता हो सकती है ?

१४. अखण्डदोर्दण्डपराक्रमैर्यन्निरस्तसन्न्यस्तसमस्तशत्रुम् ।
हलायुधं[2] चक्रधरं हरिं च, जहौ न कालस्तदिहेतरे के ।।

जिन्होंने अपने अक्षुण्ण भुज-बल से संसार के समस्त शत्रुओं पर विजय पा ली, ऐसे बलदेव, चक्रवर्ती और इन्द्र को भी इस कराल काल ने नहीं छोड़ा तो औरों की तो बात ही क्या ?

१५. तदत्र का मे गणना स्पृहा वा, ग्रसेन्न मां यः समयानभिज्ञः ।
इदं वदुच्चैर्मृशतीति भिक्षुरलंविलम्बैस्त्वरता विधेया ।।

आत्मन् ! इस कराल काल के समक्ष मेरी क्या गणना और कैसी स्पृहा ? यह अनवसरज्ञ काल पत्नी की भांति कहीं मुझे भी ग्रसित न कर ले ? इस प्रकार गहरा चिन्तन करते हुए भिक्षु ने सोचा, अब दीक्षा में किसी प्रकार का विलम्ब करना उचित नहीं लगता, मुझे त्वरा करनी चाहिए ।

१. शीर्णाङ्घ्रिः—यमराज, काल (शीर्णाङ्घ्रिहर्यन्तकधर्मराजाः—अभि० २।९८)
२. हलायुधः—बलदेव ।

१६. करम्बितः[1] स्नेहरसेन किञ्चिद्, दुरन्तमोहं परिहृत्य तावत् ।
समाप्य पञ्चत्व[2]क्रियाः प्रियायाः, स भिक्षुरुत्तालतरो व्रतित्वे ।।

भिक्षु का अपनी पत्नी के प्रति स्नेहरस से मिश्रित सघन मोह था । उसे दूर कर वे अपनी पत्नी की अन्त्येष्टी आदि क्रियाओं से निवृत्त होकर संयम ग्रहण के लिए उतावले हो गए ।

१७. समुत्सुकाः श्रेष्ठिवरास्तदानीं, प्रदित्सवः स्वस्वककान्तकन्याः ।
उपेयिवांसो न कियन्त आशु, चटूत्वलापान्न पराङ्मुखास्ते ।।

तब शहर के धनी-मानी व्यक्तियों ने अपनी-अपनी कान्त कुमारियों के साथ पुनः विवाह की प्रेरणा देते हुए भिक्षु के पास आए और अत्यंत नम्रता से प्रार्थना करने लगे । पर भिक्षु अपने पथ से पराङ्मुख नहीं हुए ।

१८. न रागिनीमिच्छुरुदाहरत्तान्, विहाय यैवं सहसा प्रयाति ।
विरागिनीं मोक्षरमामभीप्सुः, कदाऽपि मां नैव मुमुक्षुरुत्का ।।

भिक्षु ने कहा—मैं अब राग उत्पन्न कर हठात् चली जाने वाली रागिनी—कामिनी का इच्छुक नहीं हूं । मैं तो अब उस मुक्तिरूप विरागिनी रमा का ही इच्छुक हूं जो कभी मुझे छोड़कर जाने वाली नहीं है ।

१९. अलं सुखैर्वैषयिकैरनर्हैः, प्रवञ्चकैरूर्जितदुःखमूलैः ।
अतो भवद्भ्यः शिवमस्तु पन्था, जजल्प जल्पाल्पविकल्पशीलः ।।

मितभाषी भिक्षु ने स्पष्ट रूप से उनसे कहा—'समस्त दुःखों के मूल कारण, अयोग्य तथा प्रवंचक इन वैषयिक सुखों से भी मुझे क्या लेना-देना है । अतः अब आप पधारें । आपका मार्ग प्रशस्त हो ।'

२०. समे तदुक्त्या स्मयमानयन्त, अहो अहो साधुगिरा गिरन्तः ।
यदर्थमावर्त्तकरी त्रिलोकी, तदर्थमीदृग् ननु विस्पृहोऽयम् ।।

तब आगन्तुक व्यक्ति उनकी ऐसी युक्तिसंगत बात पर गर्व करते हुए, धन्यवाद देते हुए, परस्पर इस प्रकार कहने लगे—'अहो ! जिस कामिनी के लिए तीन लोक लालायित रहता है उसके लिए ये कितने निस्पृह हैं !'

२१. वस्त्राद्यलङ्कारसगन्धमाल्यान्, स्वतन्त्रतो लब्धललामभोगान् ।
जहाति योऽध्यात्मविशुद्धभावात्, त्यागी स एवाऽत्र जिनाः प्रमाणम् ।।

---

१. करम्बितः—मिश्रित (करम्बः कबरो मिश्रः—अभि० ६।१०५)
२. पञ्चत्वं—मृत्यु (पञ्चत्वं निधनं नाशो—अभि० २।२३८)

वस्त्र, अलंकार, सुगंधित पदार्थ, माला, स्त्री और सुकोमल शय्या आदि प्राप्त होने पर भी जो स्वतन्त्रता से इन सब श्रेष्ठ भोगों को अध्यात्म की विशुद्ध भावना से ठुकरा देता है, वही वास्तव में त्यागी है, यह भगवद् भाषित सिद्धांत ही प्रमाण है।

२२. व्रतित्वयोग्यत्वमपेक्षितुं स्वं, स भिक्षुरुत्तोलयितुं प्रवृत्तः।
परीक्षितं कार्यमनिन्द्यमीप्स्यं, विपश्चितां तापकरं न कर्हि॥

'संयम पथ अत्यन्त दुर्गम है। मैं इसके योग्य हूं या नहीं', ऐसा सोचकर ही वे अपनी आत्मशक्ति को तोलने लगे, क्योंकि परीक्षापूर्वक किया गया कार्य न तो निन्दनीय ही होता है और न मनीषियों के लिए पश्चात्ताप का कारण ही।

२३. सुदुष्करं पक्वजलं हि पेयं, परीक्षणीयं प्रथमं तदेव।
करीरनिःस्रावमतोऽन्यदा स, स्वयं गृहीत्वाऽभृत ताम्रपात्रे॥

२४. निधाय भूतिं विधिवत् तदन्तर्विगोप्य कालात् कृतवस्त्रपूतम्।
निपीय निःस्वादपरं प्रमाणीचकार कष्टे सहने बुभूषुः॥
(युग्मम्)

(जैन मुनि सजीव जल का उपयोग नहीं करते। वे 'पका' अर्थात् निर्जीव (अचित्त) जल का ही उपयोग करते हैं। आगमों में अचित्त जल के २१ प्रकार निर्दिष्ट हैं। उनमें से एक है—कैर का उबला हुआ जल। इसको पीना अत्यन्त कष्टप्रद होता है।) अपनी क्षमता के परीक्षण के लिए स्वयं भिक्षु ने, कैरों के उबले हुए पानी को, जो ओसामण के नाम से प्रसिद्ध है, ताम्रपत्र में भर, उसमें राख मिलाकर कहीं एकान्त में रख दिया और कुछ समय पश्चात् उसे कपड़े से छानकर समभाव से पी भी लिया। वह अत्यंत कड़वा एवं कषैला था। आपने वैसे पानी का पान ही नहीं किया, पर साथ ही साथ यह निश्चय भी कर लिया कि ऐसे कष्टों को मैं सहने में समर्थ हूं।

३ ४

२५. गृहीतदीक्षावधितो यदर्थं, गुणाश्रमाब्दे मुनिहेमराजम्।
जगाद भिक्षुर्न तथाऽत्र कष्टं, मयाऽनुभूतं न तथा प्रसूतम्॥

दीक्षा के ४३ वर्ष बाद किसी प्रसंग पर आपने अपने अनन्य शिष्य मुनि हेमराजजी से कहा—अरे हेम! गार्हस्थ्य जीवन में उस ओसामण के जल को पीने से जो मुझे कष्टानुभूति हुई वैसी संयम जीवन में नहीं हुई और न फिर वैसा पानी पीने का ही अवसर आया।

२६. निरंतरं वै विविधैः प्रकारैश्चयंश्चयंश्चारुसहिष्णुभावान् ।
बभूव पक्वः श्रमणत्वयोग्यः, प्रयत्नतीव्रैर्निपुणोऽन्यदा सः ॥

२७. स्मितानन: स्निग्धविरागदिग्धः, स्वमातरं प्राह ममत्वमुक्तः ।
प्रवशिम[1] दीक्षां स्फुरदात्मशिक्षां, प्रयच्छ हर्षादनुशासनं मे ॥ (युग्मम्)

ऐसे अनवरत विविध प्रकार से सहिष्णुता की पुष्टि करते हुए, अनेक कष्टों को झेलते हुए आप इस निर्णय तक पहुंचे कि, अब मैं इस संयम पथ में उपस्थित होने वाले सभी कष्टों को सहन करने योग्य बन चुका हूं। ऐसा सोचकर किसी प्रसंग पर उस अन्तरंग वैराग्य के धारक भिक्षु ने मातृ-मोह को दूरकर मुस्कराकर अपनी माता से कहा—'हे मात! जहां केवल आत्मकल्याण की ही शिक्षा मिलती है ऐसी जैनी दीक्षा को मैं स्वीकार करना चाहता हूं। अतः इस कार्य में आप मुझे सहर्ष आज्ञा प्रदान करें।'

२८. महाव्रतं रक्षयितुं तृतीयं, जिनेन्द्रदेवैर्नियमः सदैव ।
अधिष्ठिताज्ञाग्रहणस्य रूढीकृतस्ततोऽभ्यर्थयितुं समुत्कः ॥

'तीर्थंकरों ने तीसरे महाव्रत (अचौर्य) की रक्षा के लिए यह शाश्वत नियम बना दिया कि अभिभावकों की आज्ञा के बिना जैनी दीक्षा संभव नहीं हो सकती। इसीलिए मैं आपसे यह प्रार्थना कर रहा हूं।'

२९. अरं[2] भवाम्भोनिधिसेतुबन्धमिवाऽववादं[3] दिश मे व्रताय ।
न विघ्नयेदात्मजनं हितार्थी, महोदयश्रीप्रतिसम्मुखीनम् ॥

'मां! दीक्षा विषयक आपकी आज्ञा संसार-सिन्धु को पार करने के लिए सेतुबंध के समान है। आप शीघ्र ही आज्ञा देकर कृतार्थ करें। महान् उदय की ओर प्रस्थित आत्मीय जन के प्रशस्त पथ में हितेच्छु व्यक्ति को बाधा उपस्थित नहीं करनी चाहिए।'

३०. असातसम्पातगृहस्थवासात्, सनातनं मन्दिरमारुरुक्षुः ।
विमुच्य मोहं निकुरुम्बमम्बाऽद्य मा विलम्बस्व मदिष्टयोगे ॥

'दुःखों से भरे इस गृहस्थाश्रम के वास से छूटकर अब मैं शाश्वत सुख प्रदान करने वाले मोक्ष मंदिर के आवास में जाना चाहता हूं। अतः आप मोह के जाल को छिन्न-भिन्न कर दें। मां! मेरे इस पुनीत योग में विलम्ब न करें।'

---

१. वशक् कान्तौ इत्यस्य धातोः रूपम्।
२. अरं—शीघ्र (द्राक् स्रागरं झटित्याशु—अभि० ६।१६६)
३. अववादः—आज्ञा (आज्ञा शिष्टिः·······अववादः—अभि० २।१९१)

**३१. चमत्कृता सम्भ्रमिता ततः सा, जजल्प किं वक्षि ? किमङ्ग ! वक्षि ।
उवक्थ[1] तत् कर्णकटुं प्रकृष्टं, पुनस्तथा मा वद मा वद त्वम् ॥**

भिक्षु की इस बात को सुनकर मां दीपां चौंकी और ससंभ्रम बोली—'वत्स ! तू क्या कह रहा है ? क्या कह रहा है ? तूने जो कहा वह अत्यंत कर्णकटु है । पुनः ऐसी बात मत बोल, मत बोल ।

**३२. नवाश्रुनीरावतलोचनाभ्यां, विलोकयन्ती सुरभीव वत्सम् ।
मुहुर्मुहुर्गद्गदरुद्धगीर्भिर्जगाद दीपा कुलदीपकं तम् ॥**

जैसे गाय अपने बछड़े की ओर देखती रहती है, वैसे ही आंसुभरे नेत्रों से पुत्र की ओर देखती हुई दीपां मां ने गद्गद वाणी से अपने कुलदीपक लाल को कहा—

**३३. क्षमा न सोढुं वचनावलीं तां, विभेदकर्त्रीं हृदयान्तरस्य ।
किमब्जिनी पद्मसरोवरस्था, सहेत पौष्यां सबलां हिमानीम्[2] ॥**

'वत्स ! हृदय को विदीर्ण करने वाली तेरी इस वाणी को मैं वैसे ही सहन नहीं कर सकती जैसे पौष महीने के प्रबल तुषारापात को पद्म सरोवर में रहने वाली कमलिनी ।'

**३४. न चारुतामञ्चति भारती ते, वराप्यवेला सुविलासकाले ।
दिनोदये दीपशिखा न दिव्या, न चन्द्रलेखारुचिराऽपि रुच्या ॥**

'सूर्योदय हो जाने पर जैसे दीपशिखा शोभित नहीं होती और सुन्दर चन्द्रकिरण भी रुचिकर नहीं लगती, वैसे ही सुविलास की इस वेला में तेरी यह अच्छी बात भी प्रासंगिक नहीं लगती ।

**३५. त्वदास्यपीयूषनिपानमात्रात्, त्वबाप्तदुःखान्तरिता प्रवृत्ता ।
परं स्नुषामृत्युनवार्त्तिमूढां, कथं विमोक्तुं त्वरसे सुपुत्र !**

'हे कुलाधार ! तेरे मुखारविंद के अमृतपान से मैं तेरे पिता के वियोग को भूल चुकी थी, पर अभी तेरी वधू की इस मौत की पीड़ा से मैं मूढ-सी बन रही हूं, अतः ऐसी दुःखित अवस्था में तू मुझे छोड़ने की क्यों जल्दी कर है ।'

**३६. दिवंगतो मां प्रविहाय कान्तः, स्नुषाऽपि तामेव गतिं प्रपन्ना ।
विमुच्य जीवन्नपि यासि मां तद्, दया दयालोस्तव कीदृशीयम् ॥**

---

१. उवक्थ—वचंक् भाषणे इत्यस्य धातोः रूपम् ।
२. हिमानी—हिमपात (हिमानी तु महद्धिमम्—अभि० ४।१३८)

'वत्स ! पति मुझे छोड़कर चल बसे और पुत्रवधू भी दिवंगत हो गई। अब तू अकेला जीवित है और तू भी मुझे छोड़कर चला जा रहा है। तू दयालु है। तेरी यह कैसी दया ?'

३७. त्वमेव जन्मार्णवयानपात्रं, त्वमेव जन्मान्धगृहप्रदीपः।
त्वमेव जन्मैकसहायभूतः, कथं तदा निष्क्रमितुं बदामि ॥

'हे कुलदीप ! तू ही इस जन्मरूपी समुद्र का यानपात्र है, तू ही इस जन्मरूपी अन्धगृह का दीपक है और तू ही मेरे इस जन्म का एक मात्र सहायक है। ऐसी स्थिति में मैं तुझे दीक्षा की आज्ञा कैसे दे सकती हूं ?'

३८- दयस्व मां वीर इवाऽत्र वीर !, गृहाण मा तन् मयि जीवितायाम ।
गवेषय त्वं जनिमञ्जुलास्यं, मनुष्व मां मा वद किञ्चिदत्र ॥

'हे वत्स ! श्रीवीर प्रभु की भांति तू भी मेरे पर दया करके मेरी जीवित अवस्था में तो दीक्षा मत लेना। तू नई सुन्दर वधू के लिए प्रयत्न कर। तू मेरी बात मान और इस विषय में मुझे कुछ मत कह।'

३९. तदा प्रसूमोहमपोहितुं स, प्रशान्तचेताः प्रतिवक्ति वल्गु ।
ज्ञपूर्ववैराग्यरतो मृगाभूर्यथा तथा नम्रगिरा गिरार्च्यः ॥

ज्ञानगर्भित वैराग्य के धारक प्रशान्तचेता भिक्षु ने माता के मोह को निरस्त करने के लिए अपनी नम्र और स्तुत्य वाणी के द्वारा मृगापुत्र की भांति माता को उत्तर देते हुए कहा—

४०. अनन्तकृत्वो भवरङ्गमञ्चे, तनूजमातृप्रभृतिप्रसङ्गाः ।
कृता विमुक्ता नटवत्प्रवेषैरनेन जीवेन मिथः स्वकृत्यैः ॥

'हे अम्ब ! इस संसार रूपी रंगमंच पर माता, पुत्र आदि के संबंध अनन्त बार हो चुके हैं और नटवेष की तरह न जाने इस जीव ने किन-किन के साथ कितनी बार संबंध जोड़ा है और कितनी बार तोड़ा है।'

४१. व्रतान्निरोद्धुं प्रभवा सवित्रि!, तथैव किं दुर्गतितो भवित्री ।
न चेत् कथं निर्जरसं[१] च मृत्युञ्जयं भवन्तं प्रतिषेधयित्री ॥

'हे मात ! जैसे तुम दीक्षा लेने से मुझे रोकने में समर्थ हो तो क्या वैसे ही दुर्गति में गिरते हुए मुझको रोकने में भी समर्थ हो सकोगी ? यदि नहीं तो फिर अजर-अमर गति की ओर जाते हुए मुझको क्यों रोक रही हो ?'

---

१. निर्जरसं—वृद्धावस्था से शून्य।

४२. निजार्थमात्रेण समे स्वकीयास्तदत्यये कोऽपि न कस्य रक्षी ।
सुपक्वधान्येषु समागताम्भोधरं नरः साधु तिरस्करोति ।।

'हे अम्ब ! स्वार्थमात्र से सभी अपने हैं । स्वार्थ की पूर्ति हो जाने पर कोई किसी का नहीं है । कृषि के प्रारंभ में मेघ सत्कृत होता है पर फसल के पक जाने पर यदि मेघ उमडता है तो वह कृषकों द्वारा अत्यंत तिरस्कृत होता है ।'

४३. वधूः समेताऽपि गता तदानीं, पराऽमरीभूय समेष्यते किम् ।
भवन्त एवाऽत्र निरन्वयायन्, निरर्थकः शोकममत्वबन्धः ।।

'हे मां ! आपने नववधू लाने की बात कही, परंतु जो वधू आई थी, वह भी चली गई तो क्या आने वाली दूसरी वधू अमर बनकर आएगी ? इस संसार में कोई किसी के पीछे चलने वाला नहीं है तो फिर शोक और ममत्व-बंध निरर्थक है ।'

४४. पुरा गमी कोऽनुगमी परत्र, प्रतीयते केन विचक्षणेन ।
तदा कथं विश्वसिमि म्रिये चेदपान्तराले ललनेव तत् किम् ।।

'कौन विचक्षण व्यक्ति यह जान सकता है कि पहले मरने वाला कौन है और बाद में मरने वाला कौन है ? तो फिर मैं कैसे विश्वास करूं कि मैं पहले नहीं मरूंगा ? यदि मेरी पत्नी की तरह ही मैं भी आपके जीवन-काल में ही मर गया तो फिर क्या होगा ? '

४५. निवर्त्तयेस्त्वं मरणं मदीयं, गदान् समस्तान् परिवर्जयेश्चेत् ।
जरां शरीरादसुखात् सुखञ्च, ततो निदेशं नहि मार्गयामि ।।

'मां ! यदि तुम मुझे मृत्यु से बचा सकती हो, सारे रोगों को दूर रख सकती हो, शरीर में वार्धक्य न आए, ऐसा कर सकती हो और दुःख को मिटा सुख को ला सकती हो तो फिर मैं दीक्षा के लिए आज्ञा नहीं मांगूगा ।'

४६. न जीवितं मे मरणाश्रितं स्याद्, गदैर्न गात्रं परिमर्दितं स्यात् ।
न यौवनं मे जरसाभिभूतं, हरेन्न सम्पत्तिमिमां विपत्तिः ।।

४७. इमान् मदीयांश्चतुरोऽपि भावान्, प्रपूरयेस्त्वं न ततो ब्रवीमि ।
न दीक्षितुं निष्क्रमितुं न वच्मि, ततोऽन्यथा नो निवसामि गेहे ।।

(युग्मम्)

'मेरा जीवन मरणाश्रित न हो, शरीर रोगों से परिमर्दित न हो, यौवन जरा-जर्जरित न हो और विपत्ति संपत्ति का हरण न करे— मां ! यदि तुम मेरी ये चारों बातें पूरी कर सको तो मैं दीक्षा के लिए, अभि-निष्क्रमण के लिए कभी नहीं कहूंगा और यदि ऐसा न हो सके तो फिर मैं गृहवास में नहीं रहूंगा।'

४८. असाध्यमेतज्जननी निशम्य, जगाद सम्वादमिमं विमुञ्च ।
असंभवात्यर्थमनोमनीषा, जनोपहासाय भवेदवश्यम् ॥

पुत्र की इन चारों असाध्य मांगों को सुनकर मां ने कहा—'वत्स ! इन बातों को छोड़ । असंभावित के लिए अत्यंत उत्सुकता लोक में अवश्य ही उपहासास्पद होती है।'

४९. प्रणीय कर्णातिथितां तदुक्तिं, गभीरवाचा पुनरुत्ततार ।
ततो ज्वलज्ज्वालितविश्ववह्नेर्व्रजन्न वार्यः कृपया भवत्या ॥

माता की वाणी को सुनकर भिक्षु ने गंभीरता से उत्तर देते हुए कहा, 'मां ! सुलगती हुई इस विश्व-वन्हि से निकलने के लिए उद्यत अपने पुत्र को आप कृपा कर न रोकें।'

५०. अतृप्तमेते विषयाः प्रतार्य, वियुज्य गच्छन्ति भवे भवे माम् ।
यतोऽधुना तान् ननु पूर्वमेव, विमोक्तुकामः सुकृताय सद्यः ॥

'ये विषय-भोग प्रत्येक जन्म में धोखा देकर अतृप्त अवस्था में ही मेरे से वियुक्त होकर जाते रहे हैं। अब मैं उनके वियुक्त होने से पूर्व ही अपने कल्याण के लिए उनको छोड देना चाहता हूं।'

५१. यदीष्यते सूनुसुखं तदानीं, समीर्यतां संयमितुं त्वयाऽहम् ।
विधीयते किं समयातिवाहो, विवाह्यतां मोक्षकनी[1] वरिष्ठा ॥

'यदि तुम पुत्र को सुखी देखना चाहती हो तो मुझे संयम ग्रहण करने की प्रेरणा दो। मां ! तुम मेरा पाणिग्रहण मोक्षरूपी श्रेष्ठ कन्या के साथ करा दो। समय का अतिक्रमण क्यों कर रही हो ?'

५२. विबोध्यमानापि न दित्सुराज्ञां, भविष्यदाशाप्रतिबद्धरागा ।
तदा स्वयं श्रीरघुनाथसूरिरवातरत् तत्प्रतिबोधनार्थम् ॥

इतना समझाने पर भी भावी आशाओं से प्रतिबद्ध दीपा मां का अनुराग दीक्षा की आज्ञा देने के लिए तत्पर नहीं हुआ। तब स्वयं आचार्य रघुनाथजी मां दीपां को प्रतिबोध देने के लिए वहां आए।

१. कनी—कन्या (कन्या कनी कुमारी च—अभि० ३।१७४)

५३. भवार्णवात् तर्तुमुदग्रभावादयं समुत्कः किमु वीक्षसे त्वम् ?
प्रयच्छ शिष्टिं भव पुण्यकार्ये, विभागिनी भागिनि ! भद्रभद्रे !

रघुनाथजी ने दीपां से कहा—'हे महाभागिनी ! हे भद्रे ! तुम्हारा यह सपूत संसार-समुद्र को तैरने के लिए उद्यत हो रहा है। तुम क्या देख रही हो ? दीक्षा की आज्ञा देकर इस पुण्य कार्य में तुम भी सहभागी बनो।'

५४. तयोच्यते श्रीगुरुराज ! पुत्रो, मदीय एष क्षितिपालचन्द्रः।
भविष्यति श्रेष्ठतमः प्रभावी, तदाशया तत्र ममावरोधः ॥

दीपां ने कहा—'गुरुदेव ! मेरा यह पुत्र संसार में श्रेष्ठ और प्रभावी राजा बनेगा। इसी आशा से मैं इसकी दीक्षा का निषेध कर रही हूं।'

५५. गुरो ! वचो मे नहि निर्निमित्तं, निजानुभूतं कथयामि तावत्।
निरस्तविक्षिप्तमनाः श्रुताहँ, श्रुतातिथेयं विदधातु सम्यक् ॥

'आर्यवर्य ! मेरा यह कथन निर्हेतुक नहीं है। मैं अपनी अनुभूति आपको सुना रही हूं। आप स्वस्थचित्त होकर, सुनने योग्य मेरे कथन को सम्यक्‌रूप से सुनें।'

५६. विकीर्णसङ्कीर्णसटो[1] बलिष्ठ, उदस्तताटङ्क[2]वदुच्चपुच्छः।
निनादनिर्नादितदिग्गजेन्द्रः, पिशङ्ग[3]नेत्रांशुविहस्तशम्पः[4] ॥

५७. एकोऽपि निर्भीकमयूखवीङ्खः[5], प्रकृष्टनिर्मन्तुक[6]जन्तुशङ्कः।
अद्वैतगौराङ्गविभाविसारी, वितर्कणातीतविभुत्वधारी ॥

५८. नृसिंहसूची नभसाऽवतारी, मदास्यगौहान्तरसद्‌विहारी।
अमुं च गर्भे सुधिया दधत्या, महामृगारिर्मयका व्यलोकि ॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

---

१. सटा—जटा (जटा सटा—अभि० ३।४८०)
२. ताटङ्कः—कुंडल (ताटङ्कस्तु ताडपत्रं कुण्डलं ···—अभि० ३।३२०)
३. पिशंगः—पीतमिश्रित लाल (पिशंगः कपिशो हरिः—अभि० ६।३२)
४. शम्पा—विद्युत् (विद्युत् चला शम्पाऽचिरप्रभा—अभि० ४।१७०)
५. वीङ्खा—गमन (गतौ वीङ्खा विहारेर्य्या···अभि० ६।१३६)
६. मन्तुः—अपराध (अपराधस्तु मन्तुः—अभि० ३।४०८)

'आर्य ! जिस पुनीत रात्री में यह बालक मेरे गर्भ में आया, उसी रात मैंने अत्यंत पुष्ट और बलिष्ठ, अपनी सघन जटा को फैलाने वाले, गोल कुंडल की भांति अपनी पूंछ को शिर पर ऊंची रखने वाले, अपनी दहाड़ से दिग्गज हाथियों को भी स्तंभित करने वाले, अपनी पीली-पीली आंखों की चमक-दमक से विद्युत् का भी तिरस्कार करने वाले, सूर्य-किरणों के समान निर्भीकता से गति करने वाले, निरपराधी जीवों को नहीं सताने वाले, अपनी अद्वितीय शारीरिक प्रभा को चारों ओर प्रसारित करने वाले, अनुपम प्रभुता को धारण करते हुए नृसिंह की सूचना देने वाले विशालकाय केसरी-सिंह को आकाश से उतरकर मेरे मुख-विवर में प्रविष्ट होते देखा ।'

५९. अमीभिरुच्चैस्तमलक्षणैर्यस्तथाविधोऽयं निरणायि भावी ।
स्वयं बुभुक्षुर्भविता यदग्रे, दिगन्तदुर्भिक्ष उदात्तभिक्षुः ।।

'इन श्रेष्ठतम लक्षणों से मैं इस निर्णय तक पहुंच पायी हूं कि भविष्य में मेरा यह पुत्र राजा बनेगा और दिगन्त तक फैलने वाला दुर्भिक्ष भी इसके समक्ष स्वयं भिखमंगा बन जायेगा अर्थात् इसके सौभाग्य के सामने दुष्काल तो टिक भी नहीं पाएगा ।'

६०. यदास्यपीयूषविवर्षणेन, सुधामयी या वसुधा भवित्री ।
परम्परायातदरिद्रताभिर्दवीयसी[1] शीघ्रमनाधमर्णी[2] ।।

६१. अमुष्य पञ्चास्यपराक्रमस्याभिधानमात्रादपशात्रवीयम्[3] ।
पुनः प्रभावात् त्रिदिवोपमाना, ततः कथं भिक्षुममुं करोमि ।। (युग्मम्)

'इसके मुखचन्द्र से होने वाली अमृत वर्षा से सारी पृथ्वी सुधासिक्त हो जायेगी । वह परम्परा से चले आ रहे दारिद्र्य से दूर हो जाएगी तथा शीघ्र ही उऋण बन जायेगी ।

आचार्यवर ! सिंह के समान इस पराक्रमी पुत्र के नाम मात्र से ही यह पृथ्वी शत्रुओं से विमुक्त और स्वर्गोपम बन जायेगी । इसलिए मैं इसको भिक्षु कैसे बनने दूं ।'

६२. ततः स तत्स्वप्नमवेत्य हृष्टो, घनालिघोषादिव नीलकण्ठः ।
पुनः प्रतिध्वान[4]वितानतुल्यं, स्वरेण तारेण समुल्ललाप ।।

---

१. दवीयस्—अत्यंत दूर (अतिदूरे दविष्ठं दवीयस्—अभि० ६।८९)
२. अधमर्णः—ऋणी (अधमर्णो ग्राहकः स्याद्—अभि० ३।५४६)
३. अपशात्रवीयं—शत्रुओं से विमुक्त ।
४. प्रतिध्वानः—प्रतिध्वनि ।

सिंह-स्वप्न की चर्चा सुनते ही मेघघोष से आनन्द विभोर हो उठने वाले मयूर की तरह ही आचार्य प्रमुदित हो उठे और प्रतिध्वनित होने वाले उच्च स्वर में बोले—

६३. न बुध्यसे स्निग्धविदग्धमुग्धे !, किमस्ति साम्राज्यविराजिराज्ये ।
नरेन्द्रलीला[1] नरकार्त्तिकीला[2], नरेश्वरत्वं नरकेश्वरत्वम् ॥

'हे भोली बहिन ! तुम नहीं जानती। साम्राज्य से शोभित राज्य में है क्या ? राज्यलीला नारकीय दुःखों की ज्वाला है और राजेश्वरत्व नरकेश्वरत्व है ।'

६४. सुभूमयद्ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिचरित्रमश्रावि न किं कदाऽपि ।
यतश्चिकीर्षुस्तनयं तथात्वमनन्तरङ्गं किमु ते प्रियत्वम् ॥

'क्या तुमने कभी सुभूम एवं ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का जीवन चरित्र नहीं सुना ? वे विशाल साम्राज्य का उपभोग कर सातवीं नरक में गए। यदि तुम भी अपने पुत्र को वैसा ही बनाना चाहती हो तो कहां है उसके प्रति तुम्हारी अंतरंग प्रियता ?'

६५. भवेच्चयैर्यैरगुणैरपीव, सुधर्मराज्यं यमराजराज्यम् ।
सदैव तैस्तै रणभीछलाद्यैर्भृतं प्रभुत्वं हि किमेह्यमीप्सुः ॥

'ऐहिक प्रभुत्व संग्राम, भय, छल आदि दोषों से भरा पड़ा है। ऐसे प्रभुत्व की तुम क्यों कामना कर रही हो ? ऐसे अवगुणों के चय से तो धर्मराज का राज्य भी यमराज का राज्य बन जाता है ।'

६६. क्षमास्पृशद्भिर्महितः क्षमेन्द्रः, क्षमेन्द्रनाथैरथवा क्षमायाम् ।
त्रिलोकचूडामणिचर्चितांह्रिर्मनोभिभक्त्या श्रमणस्तु नित्यम् ॥

'बहिन ! राजा तो केवल अपनी प्रजा से ही पूजा जाता है और चक्रवर्ती अपने अधीनस्थ राजाओं से, परंतु श्रमण तीन लोक के पुरुषपुंगवों द्वारा सदा हार्दिक भक्ति से पूजा जाता है ।'

६७. महोच्चसत्स्वप्नफलं किमेतत्, क्षणं च जालीय[3]जगत्प्रभुत्वम् ।
प्रदर्श्य लक्ष्मीमिव शाम्बरीयां[4], चिरादधोधः प्रतिपातयेद् यत् ॥

---

१. लीला—विलास ।
२. कीला—ज्वाला (हेतिः कीला शिखा ज्वाला—अभि० ४।१६८)
३. जालीय····—इन्द्रजालीय ।
४. शाम्बरी—माया (माया तु शाम्बरी—अभि० ३।५८९)

'हे दीपे ! क्या तुम इन्द्रजाल के समान क्षणिक भौतिक प्रभुता को पाकर ही इस महान् उच्चतम स्वप्न की पूर्ति करना चाहती हो ? परन्तु यह प्रभुता जादूई लक्ष्मी के समान चमत्कार दिखाकर चिरकाल तक नीचे से नीचे गिराने वाली है।'

६८. ततस्तदायल्लकतां[1] समुज्झ्य, भ्रमात् पराचीन[2]मुखीप्रभूय ।
श्रवाध्वनीनां[3] कुरु मेऽद्य वाचं, प्रमाणपुष्टां वितथाऽपकृष्टाम् ॥

'अतः उत्सुकता को छोड़कर तथा राज्यलक्ष्मी के भ्रम से पराङ्मुख होकर अब तुम मेरी प्रमाणयुक्त तथा सत्य बात को ध्यानपूर्वक सुनो।'

६९. नखायुधस्वप्नफलं सदर्थं, समीहसे चेद् व्रतयैतमाशु ।
कुदृक्कुरङ्गान् रचितुं कुरङ्गानसौ नृसिंहो भविताऽर्हतेषु ॥

'यदि तुम सिंह स्वप्न को सार्थक बनाना चाहती हो तो अविलंब इस बालक को मुनि बनने दो। दीक्षित होकर यह बालक पाषंडरूप कुरंगों को कु-रंग करने वाला होगा और यह अर्हत् शासन में नरसिंह की भांति प्रभावी बनेगा।'

७०. अनाद्यनन्तोद्भवतोयनिम्नाद्, विकल्पकल्लोलितमोहचक्रात् ॥
भवार्णवाद् भावुकतारणार्थमसौ महापोत इवाऽत्र भावी ॥

'यह संसार-समुद्र अनादि-अनन्त काल से जन्म-मरण रूप पानी से गहरा है। यह विकल्पों से कल्लोलित और मोह के आवर्त्तों से युक्त है। इस समुद्र से भव्य व्यक्तियों को पार पहुंचाने के लिए तुम्हारा यह पुत्र महापोत बनेगा।'

७१. गम्भीरमिथ्यातिमिरोर्मिलुप्तजगज्जनालोकसशोकलोके ।
अनूरुसूत[4]प्रतिमोऽस्य बोधः, प्रकाशकारी भविता भयोद्भिद् ॥

'मिथ्यात्व रूप महान अन्धकार से जनता का आत्मिक आलोक लुप्त-प्रायः हो चुका है और यही कारण है कि आज समूचा मानव समाज शोकाकुल है। हे बहिन ! तुम्हारा यह पुत्र भय का उन्मूलन कर अज्ञानान्धकार से व्याप्त इस लोक को अपने दिव्यज्ञान रूप सूर्य से पुनः आलोकित करेगा।'

---

१. आयल्लकम्—उत्सुकता (औत्सुक्यं ···आयल्लकारती—अभि० २।२२८)
२. पराचीनं—पराङ्मुख (पराचीनं पराङ्मुखम्—अभि० ६।७३)
३. श्रवाध्वनीनः—कानों का पथिक।
४. अनूरुसूतः—सूर्य।

७२. व्रतप्रसङ्गा करुणान्तरङ्गा, पवित्रिताङ्गा प्रशमोत्तरङ्गा ।
समानसङ्गोर्ध्वनयावहाङ्गा, प्रवर्तितातः परमेशगङ्गा ।।

'वह इस संसार में परमात्म-वाणी रूप गंगा को प्रवाहित करने वाला होगा। वह वाणी केवल संयम से ही प्रसंग रखने वाली, करुणा से ओतप्रोत, पवित्र अंगों वाली, प्रशान्त रस से तरङ्गित, सार्वजनीन तथा स्वभाव से ही ऊंची बहने वाली तथा औरों को भी ऊंचा उठाने वाली होगी।'

७३. जिनेन्द्रमार्गच्युतकांदिशीक[1]जगन्महारण्यपथस्थितानाम् ।
नृणामयं दर्शयिता सुमार्गं, मरीचिमालीव कृपार्द्रदृष्ट्या ।।

'जैनेन्द्र मार्ग से च्युत, भयाकुल मानव संसार रूपी अटवी में भटक रहे हैं। उनको यह अपनी कृपार्द्र दृष्टि से सूर्य के समान ही सही मार्गदर्शन देने वाला होगा।'

७४. वियोगसंयोगसमीरणेन, क्षिपत्समन्ताद्विषयेन्धनेन ।
प्रदीप्तरागादिदवानलेन, ज्वलज्जगद् यास्यति शांतिमस्मात् ।।

'हे दीपे ! रागद्वेष रूप महान् दावानल से यह संसार सुलग रहा है। इसमें संयोग-वियोग रूप हवाएं चल रही हैं और विषयरूप इन्धन चारों ओर से इसमें पड़ रहा है। ऐसे जलते हुए संसार को तुम्हारा पुत्र ही शांति प्रदान करने वाला, बुझाने वाला होगा।'

७५. कुवासनाध्यासितमोहजाले, जगज्जनानां नयने नितान्तम् ।
स्वबुद्धिनिष्णातनिशात[2]शस्त्रादसौ प्रमार्जिष्यति पुण्यपुञ्जः ।।

'इस संसार में मनुष्यों की आंखों पर कुवासना आदि दोषों से उत्पन्न सघन मोह की झिल्ली छा गई है। यह पुण्यपुञ्ज तुम्हारा पुत्र अपनी निपुण बुद्धिरूप तीक्ष्ण शस्त्र से उसका परिमार्जन कर देगा, आंख की पुतली पर चढी झिल्ली को साफ कर देगा।'

७६. अबोधदुर्बोधविपाशबद्धान्, कदाग्रहैः संग्रसितान् मनुष्यान् ।
निरासिता यो भुजगेन्द्रपाशात्, सुकण्ठमुख्यानिव रामचन्द्रः ।।

अज्ञान और दुर्ज्ञान के पाश से बंधे हुए तथा कदाग्रहों से ग्रसित मानव को यह वैसे ही मुक्त कर देगा, जैसे नागपाश से बन्धे हुए सुग्रीव आदि को श्रीरामचन्द्र ने।

---

१. कान्दिशीकः—भय से पलायित (कान्दिशीको भयद्रुतः—अभि० ३।३०)
२. निशातं—तीक्ष्ण (स्यान्निशातं शितं शातं—अभि० ६।१२०)

७७. कुयुक्तिभिः स्वस्वविबद्धवप्रे, परैः परिक्षिप्तविमुग्धलोकान् ।
विभिद्य तद्द्वारमयं विमोक्ता, विपाटयिष्यन् परिधिं तदीयम् ॥

'अन्यान्य तीर्थिकों ने अपनी कुयुक्तियों से भोले-भाले लोगों को बहकाकर अपने-अपने दलबंदी के घेरे में बांध रखा है। तुम्हारा पुत्र उस दलबंदी के द्वार का भेदन कर, उसकी परिधि को समूल उखाड़कर उन लोगों को मुक्त कर देगा।'

७८. प्रावादुकानन्यतरानजस्रं, विजित्य तत्त्वेन परार्ध्य[1]युक्त्या ।
सुमेरुशैलेन्द्र इवान्तराले, स्थिरत्वमेतोन्नतमस्तकोऽयम् ॥

'तुम्हारा पुत्र अन्यान्य प्रावादुकों को शुद्ध तात्विक युक्तियों से जीत लेगा और उनके बीच अपना शिर ऊंचा किए सुमेरु पर्वत की भांति अडोल रहेगा।'

७९. अतस्त्वमाज्ञामविलम्बमेवोच्चलेन[2] विश्राणय शाणसंवित्[3]!
विधेहि वैयुष्ट[4]विभागिनं मां, त्वरस्व सन्धेहि विदेहमार्गम् ॥

'हे विवेकिनी ! अपने अन्तर् मन से इसे संयम के लिये आज्ञा प्रदान कर, इसे शीघ्र ही मोक्ष के प्रशस्त मार्ग की ओर लगा और जागरण के इस उषाकाल में मुझे भी इसका विभागी बना।'

८०. मतं ततस्तद्वचनं तयाऽथ, व्रतित्वपर्यायसुदुष्करत्वम् ।
निदर्शयन्ती वदति प्रतीत्यै, स्वनन्दनं नन्दितवक्त्रपद्मम् ॥

माता दीपां ने रुघनाथजी की बात स्वीकार कर ली। पर अपने आत्मविश्वास के लिये उसने आनंदित मुख कमल वाले अपने पुत्र को संयम-साधना की दुष्करता बतलाते हुए कहा—

८१. दृढः पथश्चेतनसाधनायाः, कृपाणधारापरिधावनीयम् ।
भुजौजसाब्धेस्तरणं सुदद्भि[5]रयोमयश्रीधरमन्थ[6]चर्व्यम् ॥

'वत्स ! आत्म-साधना का पथ तीक्ष्ण खड्ग धारा पर चलने, भुजबल से समुद्र को तैरने तथा कोमल दांतों से लोहे के चनों को चबाने जैसा कठोर है।'

---

१. परार्ध्यम्—प्रधान, मुख्य ।
२. उच्चलं—अन्तःकरण (स्वान्तं गूढपथोच्चले—अभि० ६।५)
२. शाणसंवित्—कसौटी पर कसा हुआ ज्ञान—विवेक ।
४. वैयुष्टं—प्रभात, उषाकाल ।
५. सुदद्भिः—अच्छे—कोमल दांतों से ।
६. श्रीधरमन्थः—चना । (यथा—हरिमन्थकः—अभि० ४।२३७)

८२. प्रकृष्टनिष्पिष्टसमस्तशत्रुमहोग्ररोषारुणचक्रभृद्भिः ।
चलच्छरासारपतद्भटालिभयङ्करोर्व्यां समरं विधेयम् ।।

'हे वत्स ! संयम-साधना के पथ पर बहना वैसा ही है जैसे बाणों की बौछार से निष्प्राण होकर गिरते हुए सुभटों से भयंकर रणभूमि में समस्त शत्रुओं का नाश करने वाले महान् उग्र और कोपारुण चक्रवर्ती के साथ युद्ध करना ।'

८३. इदं त्वदीयं सुकुमारगात्रं, महाव्रतान्यद्य कथं सहिष्णु ।
अयुक्[1]सुमेरूरुभरं दधत् किं, सुकेतकीकोमलपुष्पपक्ष्म ।।

'वत्स ! तुम्हारा यह शरीर सुकुमार है । यह पांच महाव्रतों के भार को कैसे सहन कर सकेगा ? क्या केतकी पुष्प की कोमल पंखुडी पांच सुमेरुओं का गुरुतर भार वहन कर सकती है ?'

८४. परीषहाणां परितप्तिमेतां, सहिष्यते किं मृदिमाङ्गलक्ष्मीः ।
मृणालिनी[2] नीरबहिःस्थिता किं, सहिष्णुरुद्दामदवाग्निदाहम् ।।

'क्या तुम्हारी कोमल-काया की लक्ष्मी उन परीषहों की उग्र तप्ति को सहन कर सकेगी ? क्या पानी के बाहर स्थित कमलिनी उग्र दावानल के दाह को सहन कर सकती है ?'

८५. उपानहाद्यैः परिवर्जिताभ्यां, पदाम्बुजाभ्यां जितवारिजाभ्याम् ।
कठोरनिम्नोन्नतशर्कराभृद्धराविहारोऽपि विचारणीयः ।।

'अरे वत्स ! इन नंगे और कमल से भी अत्यंत सुकोमल पैरों से कंकरीली-पथरीली और ऊंची-नीची भूमि पर विहार करना भी विचारणीय है ।'

८६. वदान्यतावृत्ति[3]तिरोहितीकृतसुपर्वशाखी[4] त्वमपत्रपिष्णुः[5] ।
निजाभिमानी वरिता कथं तद्, गृहे गृहे भैक्षमतीवचित्रम् ।।

---

१. अयुक्—विषम संख्या - ३,५,७ आदि का वाचक (अयुग्विषमशब्दौ त्रिपञ्चसप्तादिवाचकौ—अभि० १।१५)
२. मृणालिनी—कमलिनी (मृणालिनी पुटकिनी....—अभि० ४।२२६)
३. वदान्यतावृत्तिः—उदारवृत्ति ।
४. सुपर्वशाखी—कल्पवृक्ष ।
५. अपत्रपिष्णुः—संकोचशील (लज्जाशीलोऽपत्रपिष्णुः—अभि० ३।५४)

'अरे वत्स ! अपनी उदार वृत्ति से कल्पवृक्ष को जीतने वाले, संकोचशील तथा स्वाभिमानी तुम घर-घर में भिक्षा कैसे मांग सकोगे ? यह अत्यन्त आश्चर्यकारी प्रतीत होता है।'

८७. विसप्रसूना[1]स्यमवेक्ष्य लुब्धाऽऽगतालिमालमालाचिकुरावलीनाम् ।
सुदारुणं लुञ्चनमात्मवेद्यं, करिष्यसि त्वं कथमेव वत्स !

'वत्स ! कमल के समान तुम्हारे मुख को देखकर, भ्रमरों की तरह मुग्ध बन कर आये हुए इन कोमल केशों का स्वसंवेद्य दारुण लुञ्चन तुम कैसे कर पाओगे ?'

८८. गृहादिबाह्यं द्रविणं सुहेयं, भुजङ्गनिर्मोकवदत्र किन्तु ।
यशःप्रशंसादिकमन्तरीयं, विषाक्तशल्यं ननु दुष्प्रहेयम् ॥

'वत्स ! सर्प की केंचुली की तरह गृह आदि बाह्य धन को छोडना सरल है किन्तु यश-प्रशंसा आदि आन्तरिक विषाक्त शल्यों को छोडना बहुत कठिन है।'

८९. अणुव्रतान्येव ततो गृहस्थः, प्रपालय त्वं शिवतातिरेव[2] ।
मनुष्व वाणीं हितगर्भितां मे, रसायनं सज्जनशिक्षणं यत् ॥

'वत्स ! गृहवास में रहते हुए तुम अणुव्रतों का पालन करो, इसी से कल्याण हो जाएगा। देखो, सज्जनों की शिक्षा रसायन तुल्य होती है। अतः तुम मेरी हितकारी बात को मानो।'

९०. दिशां मुखाम्भोजततिं स्वदन्तमरीचिमालाकुलितां वितन्वन् ।
तदुत्तरं स्पष्टतरं ददाति, स्वलक्ष्यमारुह्य ततोऽतिचारुम् ॥

माता के मुख से संयम की कठिनाइयों को सुन, अपनी दन्त-किरणों के समूह से दिग्-मुख-मंडल को आलोकित करते हुए, अपने लक्ष्य में स्थित दीपां-पुत्र (भीखन) अपनी मां को उसके प्रश्नों का स्पष्टता से उत्तर देने लगे।

९१. किलैककुक्ष्याऽऽयसिमण्डलाग्रे[3], नटा नटन्ति स्वजनैः प्रणुन्नाः ।
सनातनैश्वर्यमभीप्सुरेवं, नटन्नहं तत्र त्वया न वार्यः ॥

---

१. विसप्रसूनं—कमल (अभि० ४।२२७)
२. शिवतातिः—मंगलकारी (शिवतातिः शिवंकरः—अभि० ३।१५३)
३. मण्डलाग्रः—तलवार (तरवारिकौशेयकमण्डलाग्राः—अभि० ३।४४६)

'अम्ब ! इस संसार में अपने सगे-संबंधियों से प्रेरित होकर नट केवल उदरपूर्ति के लिए लोहनिर्मित तलवार की तीक्ष्ण धार पर नाचते हैं। मैं तो शाश्वत ऐश्वर्य को प्राप्त करना चाहता हूं, इसलिए साधना के पथ पर चलने के इच्छुक मुझको आप न रोकें।'

९२. यशःप्रशंसाश्रुतिनामलिप्सां, शुभात्मलक्ष्याद् विनिपातयित्रीम्।
सुदुर्विमोचामपि तत्त्वदर्शी, मुमुक्षुरात्मीयमहोदयाय ॥

'मां ! यश, प्रशंसा, ज्ञान और नाम की लिप्सा शुभ आत्मलक्ष्य से नीचे गिराने वाली होती है। उसे छोडना सरल नहीं है। किन्तु अपने आत्मोत्थान के लिए तत्त्वज्ञ व्यक्ति उस लिप्सा को छोड देता है।'

९३. म्रियन्त एव प्रपतन्ति सिन्धौ, तरन्ति तत्र क्षणिकार्थकामाः।
व्रताब्धिमग्ना अमरीभवन्ति, तरन्नहं किं त्वयका निषिध्ये ॥

'मातुश्री ! धन की क्षणिक कामना से गोताखोर समुद्र में गोता लगाते हैं और कभी-कभी तैरते-तैरते मर भी जाते हैं, पर इस साधना-सिन्धु में गोता लगाने वाला तो निश्चित ही अमरत्व पद को पाता है। अतः ऐसे साधना समुद्र में तैरने वाले मुझको आप क्यों रोक रही हैं ?'

९४. सुशिक्थकक्लृप्तमृदुद्विजन्मा[1]श्चणान् विचर्वन्ति न किं सुमन्त्रैः।
विरागमन्त्राभिनियन्त्रितोऽहं, सुवृत्तमास्वादयितुं सयत्नः ॥

'मंत्राधिष्ठित मोम के दांतों से लोहे के चने भी चबाये जा सकते हैं तो वैराग्य के मंत्र से अभिनियंत्रित मैं सुचरित्र का पालन करने के लिए प्रयत्नशील बनूं तो इसमें बाधा ही क्या है ?'

९५. पुरोक्तपूर्वीयजिनादिसूनुर्जितो न किं बाहुबलीयसा सः।
तथोपसर्गं चतुरन्तचक्रेश्वरं विजेता भविता क्षमाभिः ॥

'भगवान् आदिनाथ के पुत्र बाहुबली ने अपने बल से भरत चक्रवर्ती को भी जीत लिया था, तो मैं भी अपने क्षमाबल से उपसर्ग रूपी चातुरंत चक्रवर्ती पर विजय प्राप्त कर लूंगा।'

९६. संसारकारान्तरचारिभिः किं, न सह्यतेऽसंख्यविपत्तिपंक्तिः।
तदा चिदानन्ददवव्रताय, प्रगाढदुःखैरपि कोऽनुतापः ॥

---

१. जन्मशब्दः अकारान्तोप्यस्ति।

'संसार के कारागृह में रहने वाले बंदी क्या असंख्य कष्टों को सहन नहीं करते ? तब चिदानन्द के प्रदाता चारित्र के लिए यदि प्रगाढ दुःखों को सहना भी पड़े तो इसमें कैसा अनुताप ?'

९७. विपश्चिमैस्तीर्थकरैर्न्नदिष्ठैरुदीर्य सोढा न परीषहाः किम् ?
कियत् तितिक्षुर्गजसौकुमारस्तदा क्व चाऽहं क्व च मार्दवं मे ?

'सुकुमार शरीर को धारण करने वाले अंतिम तीर्थंकर महावीर ने क्या उग्र परीषहों की उदीरणा कर उनको नहीं सहा था ? मुनि गजसुकुमार कितने सहनशील थे ? मां ! इन सबके समक्ष कहां मैं और कहां मेरी कोमलता ?'

९८. यशोर्थकामो विषमाद्रिशृङ्गं, विगाहमानोऽपि न शङ्कमानः ।
तदेर्ययाऽऽर्यक्षितिचङ्क्रमार्हः, कथं न वर्त्ते स्वपरोपकृत्यै ॥

'अम्ब ! यश, अर्थ और काम की प्राप्ति के लिये अनेक पर्वतारोही पर्वतों के उत्तुंग शिखरों पर निःशंक होकर चढते हैं तो क्या ईर्यासमितिपूर्वक मैं इस आर्यभूमि में स्व-पर हित के लिये विहार नहीं कर सकता ?'

९९. भुजङ्गनिर्मोकविमुक्तमानः, सुसिंहवृत्त्या भ्रमरोपमित्या ।
अनो[1]ञ्जनव्रातिकयात्रिकीं तां, न गोचरीं कर्तुमहं श्रमामि ॥

'माताजी ! जैसे सर्प केंचुली को छोड़ देता है वैसे ही मैं भी मान को छोड़ दूंगा । गाड़ी के अभ्यंगन की तरह संयम-यात्रा के निर्वाह के लिये सिंहवृत्तिपूर्वक माधुकरी वृत्ति से भिक्षा करते हुए श्रम और लज्जा की अनुभूति नहीं करूंगा ।'

१००. अमित्रसंदोह इवानिशं ये, धरन्ति कृष्णत्वमनार्जवं च ।
भटाग्रणी तान् किमिवोच्छिनत्ति, महोदयार्थी श्रमणो न केशान् ॥

'अनवरत कुटिलता और कलुषता को धारण करने वाले शत्रु-समूह का जैसे वीर शिरोमणी उच्छेद कर डालता है वैसे ही क्या मोक्षार्थी महाभट श्रमण अन्तर् में कुटिलता एवं कृष्णता को धारण करने वाले केशों का लुञ्चन नहीं कर देगा ?'

१०१. न विग्रहे ये शमिनः सयत्ना, यथा हि दैवे ननु जैमनीयाः ।
प्रयच्छति क्षेत्रमिदं विकृष्टं, तपोग्रसीरेण[2] विमुक्तिसस्यम् ॥

---

१. अनः—शकट (अनस्तु शकटो····—अभि० ३।४१७)
२. सीरः—हल (सीरस्तु लाङ्गलम्—अभि० ३।५५४)

'जैसे जैमिनीय संप्रदाय के अनुयायी देव संबंधी मान्यताओं में प्रयत्नशील नहीं होते वैसे ही मुनि शरीर के प्रति प्रयत्नशील नहीं होते। वे शरीररूप इस क्षेत्र का उग्र तपरूप हल से विलेखन करते हैं और तब वह क्षेत्र विमुक्तिरूप धान्य देता है।'

१०२. भटा रणे तुच्छयशोर्थकामाः, प्रियानसूनप्यचलास्त्यजन्ति।
ततो महानन्दमहोदयार्थी, कथं जिहासुर्न भवामि तांश्च॥

'हे अम्ब! तुच्छ यश और धन के कामी सुभट रणांगण में अडिग रहकर अपने प्राणों की आहुति दे देते हैं। मैं महान् आनन्द और महोदय—मोक्ष का कामी हूं। मैं संयम-निर्वाह के लिए प्राणत्याग कैसे नहीं करूंगा?'

१०३. अणुव्रताध्वा विषमः कृशानां, कृते त्वहं प्राध्वरमार्गमिच्छुः।
अशाश्वतः सौगततत्त्ववन् मे, भवो भविष्यन् सुतरां यतो हि॥

'मां! अणुव्रतों का मार्ग विषम है, वक्र है और वह दुर्बल व्यक्तियों के लिए है। मैं प्राध्वरमार्ग—अविषम मार्ग—मोक्षमार्ग का इच्छुक हूं। जब मैं इस मार्ग का पथिक बन जाऊंगा तब मेरा जन्म-मरण रूप भव सौगत (बौद्ध) तत्त्वों की भांति सदा के लिए अशाश्वत हो जायेगा।'

१०४. वपुःप्रतिच्छायिकया हि कालश्छलोपदर्शीव नरानुयायी।
अतो हितं तत् करणीयमेव, जिनक्रमाब्जं शरणीयमेव॥

'यह काल छद्मदर्शी की तरह शरीर की प्रतिच्छाया के रूप में मनुष्य के पीछे-पीछे चल रहा है। अतः जो हित है उसे साध लेना चाहिए और जिनराज के चरण-कमलों की शरण ले लेनी चाहिए।'

१०५. विभूतिमुद्धूय शिवः शिवार्थी, सुबोधबुद्धोऽक्षणिकोऽत्र बुद्धः।
निजात्मधाता भवितुं विधाता, सदा हृषीकेश[1] इव व्रजामि॥

'मैं विभूति को छोड कल्याणार्थी शिव, सम्यग् ज्ञान के द्वारा शाश्वत बुद्ध, अपनी आत्मा का निर्माण कर विधाता और सदा हृषीकेश—जितेन्द्रिय होकर व्यापक बनना चाहता हूं।'

१०६. पुनर्भवोऽसावपुनर्भवानामहं महानन्दविशालसौधे।
वितीर्य सत्त्वानभयं भवौघात्तपस्यया[2] द्रागऽतिथिर्भवामि॥

---

१. हृषीकेशः—जितेन्द्रिय—हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशो वशिता हृषीकेशः।
२. तपस्या—व्रतग्रहण (तपस्या नियमस्थितिः—अभि० १।८१)

'हे माता ! पुनः पुनः भव-भ्रमण करने वाला यह मैं संयम को ग्रहण कर प्राणीमात्र को अभयदान देता हुआ संयम के द्वारा भवसमुद्र का शोषण कर अपुनर्भवी सिद्धों के महानन्द वाले महान् सौध का अतिथि बनना चाहता हूं ।'

१०७. मनो मनोहृत्य पृथुप्रयासे, कृते कणीयस्तमचञ्चलत्वम् ।
इतं न च प्राह तदाम्बकाऽम्बुरसोद्भवस्रग्विरचय्यमाना ॥

माता द्वारा विपुल प्रयास किये जाने पर भी उनका मन वैराग्य से रेखामात्र भी इतस्ततः नहीं हुआ, तब अपनी आंखों से आंसू बहाती हुई मां दीपां अपने लाल की ओर देख पुनः बोली—

१०८. अतूलनीशार[१]वराशि[२]मञ्चहसन्तिका[३]दीपविकाशवासः ।
कथं हिमर्त्तुं व्ययिताऽहिमेलु[४]रसैन्यसेनापतिवत् सपत्नान् ॥

'वत्स ! बिना सेना का सेनापति जैसे शत्रु-शासक पर विजय नहीं पा सकता, ठीक वैसे ही शीत को सहन न कर सकने वाले तुम तूल की रजाई, पल्यंक, सिरख, अंगीठी आदि के बिना तथा दीप-प्रकाश रहित घर के बिना हिम ऋतु को कैसे बिता पाओगे ।'

१०९. विनाऽऽप्लवं[५] चीवरधावनं च, सुगन्धमाल्यं व्यजनानिलं त्वम् ।
तितीर्षुरुष्णं खरलूसमीरं, कथं पयोधिं तरणीमिवोत्कः ॥

'नौका के बिना नहीं तैरे जा सकने वाले समुद्र की तरह ही तुम स्नान, वस्त्रप्रक्षालन, सुगन्धितमाला और पंखे आदि की हवा के बिना तेज लू के उष्ण पवन वाले इस ग्रीष्म ऋतु को कैसे पार कर सकोगे ?'

११०. रतेः पतेः क्रीडितुमालया वा, घनर्त्तुघस्राः सुविलासयोग्याः ।
पवित्रसंगीतमहत्त्वगोष्ठीरृते त्वया ते कथमेव वाह्याः ॥

'अरे पुत्र ! कामदेव की क्रीडास्थली के समान ये वर्षावास के दिन विलासोपयोगी माने जाते हैं । ऐसे वर्षा ऋतु के दिनों को तुम पुनीत संगीत तथा महोत्सव आदि की गोष्ठियों के बिना कैसे बिताओगे ?'

---

१. नीशारः—रजाई (नीशारो हिमवातापहांशुके—अभि० ३।३३९)
२. वराशिः—सिरख (वराशिः स्थूलशाटः स्यात्—अभि० ३।३३६)
३. हसन्तिका—अंगीठी (अभि० ४।८६)
४. अहिमेलुः—शीत को सहन न करने वाला—हिमं सहमानः हिमेलुः, न सहमानः अहिमेलुः ।
५. आप्लवः—स्नान (स्नानं सवनमाप्लवः—अभि० ३।३०२)

१११. तदुत्तरं स्वां जननीमुवाच, प्रियंवदः स स्वयमेव युक्त्या ।
न कापि चिन्ता च निराशितानामितेषु शीतोष्णजलागमेषु ।।

तब प्रियभाषी पुत्र ने माता को स्वयं ही युक्ति पुरस्सर उत्तर देते हुए कहा—'मां ! निस्पृह व्यक्तियों को शीत, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु के आने पर भी कोई चिन्ता नहीं होती ।'

११२. विशुद्धदृष्टिज्ञचरित्रवस्त्रो विवेकदीपो निगमो[1]ऽग्निपात्रिः ।
अहं प्रभावीति भविष्यतो मे, हिमर्तुकोपोऽपि कथावशेषः ।

'मां ! जिस दिन मैं साधना पथ का पथिक बन जाऊंगा तब विशुद्ध ज्ञान-दर्शन और चारित्ररूप ही मेरे वस्त्र होंगे, विवेकरूप दीप होगा और आगमरूप सिगडी होगी । इन सबसे मैं सशक्त हो जाऊंगा । तब हिम ऋतु के सारे उपद्रव स्वतः नष्ट हो जायेंगे ।'

११३. सुशीलतास्नानपवित्रितस्य, सदोज्ज्वलक्षान्तिनिचोलकस्य ।
विरक्तिदामश्रुतबीजनस्य, निदाघकालेऽपि मुनेः समाधिः ।।

'विशुद्ध शील स्नान से पवित्र, सदा क्षमारूप उज्ज्वल वस्त्रों से आवेष्टित, विरक्तिरूप माला से शोभित और श्रुतज्ञानरूप पंखे से वीजित मुनि के लिए ग्रीष्म ऋतु में भी समाधि ही रहती है ।'

११४. जिनागमाघोषणचिन्तनादिरम्याणि यत्प्रेक्षणकानि नित्यम् ।
भवन्ति तत्त्वाधिगमोत्सवानि, दिनानि मेघर्तुमयानि साधोः ।।

'मां ! मुनि के लिए वर्षा ऋतु के दिन आगमों के अध्ययन, चिन्तन तथा विमर्शयुक्त होते हैं । ये ही मुनियों के प्रेक्षणक मनोरंजक होते हैं । उन दिनों तत्त्वज्ञान रूप नए-नए उत्सव प्रतिदिन होते रहते हैं । वे दिन मुनि के लिए आनन्ददायी ही होते हैं ।'

११५. ततोऽतिचिन्तां परिहाय मातः ! प्रदेहि दीक्षाग्रहणे नियोगम् ।
जलाऽऽविलाक्षी तनयं ततः सा, यथासुखं स्यादिति संजगाद ।।

'अतः हे माता ! अब इस अतिचिन्ता को छोड़ आप मुझे दीक्षा-ग्रहण की स्वीकृति प्रदान करें ।' तब दीपां मां आंखों से आंसू बहाती हुई बोली—'वत्स ! जैसे तुम्हें सुख हो वैसा करो ।'

११६. पुनः समाम्रेडितमभ्यधात् सा, त्वमेव धन्यः कृतलब्धजन्मा ।
त्वमेव मुक्तेव विमुक्तदोषोऽदिदीप उद्दीप्तगुणं स्ववशम् ।।

---

१. निगमः—आगम ।

मां दीपां पुनः बार-बार कहने लगी—'वत्स ! तुम ही धन्य हो। तुम्हारा जन्म ही सार्थक है। तुम ही निर्मल मुक्ता की भांति निर्दोष हो। तुम ही अपने दीप्त कुल को और अधिक उद्दीप्त करने वाले हो।'

११७. न मादृशैर्जन्ममितद्रु[1]मग्नैरनिर्गमार्हैर्जलजन्तुवत् कात् ।
दुराकलं संयमनं ध्रियेताऽबलैरधीशैरिव दुर्गराज्यम् ॥

'हे पुत्र ! मुझ जैसी कायर स्त्रियां तो जलजन्तु की तरह ही इस जन्म-मरण रूप समुद्र से बाहर निकलने में असमर्थ हैं और संयम स्वीकार करना तो मेरे लिये वैसे ही दुष्कर है जैसे किसी निर्बल राजा के द्वारा दुर्गराज्य को ग्रहण करना।'

११८. खगोचराच्छन्न[2]भवान्धकूपं, विलोकयन्नेव विलोकते ना ।
अतो ह्यधोधः पतति प्रसन्नो, निवार्यमाणोऽपि मदान्धवद् वा ।

'यह संसाररूपी अंधकूप इन्द्रिय-विषयों से आच्छन्न है। मनुष्य इसे देखता हुआ भी नहीं देखता। इसलिए वह रोके जाने पर भी मदान्ध की भांति प्रसन्नचित्त से उस कूप में नीचे से नीचे गिरता चला जा रहा है।'

११९. अनादिधाजन्मपरम्पराभिः, स्वबद्धकर्माणुभिरेव वश्यः ।
जनो यथा मूल्यगृहीतभृत्यः, कदर्थितोऽपि क्रयिकैः प्रणेयः ॥

'नाना प्रकार की कदर्थनाओं से कदर्थित होते हुए भी जैसे क्रीत दासों को अपने खरीददार के वश में रहना पड़ता है, वैसे ही अनादिकाल की जन्म परंपरा से बन्धे हुए जीव को इन जड़ कर्मों के वश में रहना पड़ता है।'

१२०. स्वकर्मसंछन्ननिसर्गभावस्ततः स्वतन्त्रो बत ! बम्भ्रमीति ।
समोऽपि लोकोऽत्र परक्रियासु, पिशाचकी वा किमु वातकी वा ॥

'हे वत्स ! प्राणियों का नैसर्गिक भाव अपने-अपने कर्मों से आच्छन्न रहता है। अतः वह परक्रिया— परभाव में स्वतंत्र व्यक्ति की भांति चक्कर लगा रहा है, मानों कि वह पिशाच आदि से ग्रस्त हो अथवा वायुरोग से पीडित हो।'

१२१. सुखं सदा वैषयिकं विमुग्धाः, सुधामिवास्वादयितुं प्रवृत्ताः ।
निकृष्टसंसर्गमिवाऽवसाने, न जानते जन्तुगणा अनिष्टम् ॥

---

१. मितद्रुः—समुद्र (सिन्धूदन्वन्तौ मितद्रुः समुद्रः—अभि० ४।१३९)
२. खं—इन्द्रियं, तस्य गोचरः—विषयः, इति खगोचरः ।

'मूढ मनुष्य सदा वैषयिक सुख को अमृत की तरह मानकर उसका आस्वादन करने के लिए प्रवृत्त होते हैं, किन्तु अन्त में उसका परिणाम वैसे ही अनिष्टकारी होता है जैसे कि नीच व्यक्ति का संसर्ग अन्ततः बुरा ही होता है।'

१२२. विलोभ्यमानोऽपि गृहालवालाद्[१], विरक्तितो निष्क्रमणाभिलाषी।
सरोम्बुपङ्कादिव पुण्डरीको, भव व्रती त्वामनुशास्मि सम्यक्॥

'हे वत्स! कीचड़ से पैदा होने वाला पङ्कज पानी और कीचड़ से सदा निर्लिप्त रहता है, वैसे ही इतने प्रलोभन दिये जाने पर भी तुम इस गृहवास रूपी आलवाल—'थाले' से विरक्त ही रहे और दीक्षा के लिये लालायित भी। अतः अब मैं तुम्हें हृदय से आज्ञा देती हूं कि वत्स! तुम साधना-पथ के पथिक बनो, संयम ग्रहण करो।'

१२३. शिवस्य संदेशमिवाऽतिभव्यं, तदा तदालापसुधारसं सः।
निपीय पुष्टाच्छ्रुतिपत्रपात्रादमाप्यमोदं समवाप हृद्यम्॥

मोक्ष-संदेश के समान अपनी माता का साधना पथ के लिये अति-भव्य संदेश पाकर और उसके आलाप-संलाप रूप अमृत को पुष्ट कर्णपुटों से पीकर भिक्षु परमानंद को प्राप्त हुए।

१२४. अनुज्ञयाऽङ्गे पुलकच्छलात् किं, प्रमेदुरोद्वेलितहर्षसिन्धौ।
शिशुत्वशालाः शफराः समन्तात्, स्फुरन्त्यमी लोलतरास्तरन्तः॥

दीक्षा के लिये माता की आज्ञा पाकर उनका सारा शरीर रोमाञ्चित हो उठा और उनके वे रोमाङ्कुर खड़े ही नहीं हुए अपितु ऐसा लग रहा था कि मानो उनके उस उछलते हुए हर्षसमुद्र में ये चारो ओर छोटी छोटी चपल मछलियां ही तैर रही हैं!

१२५. सरस्वतीं तां जननीप्रयुक्तां, समादधे सारसमाधियुक्तः।
गुरोर्गुणाचारविशुद्धबुद्धेर्हिताञ्चितां शैक्षकवत् स शिक्षाम्॥

श्रेष्ठ समाधियुक्त भिक्षु ने अपनी माता की शिक्षा को आदरभाव से वैसे ही स्वीकार किया जैसे एक विनीत शैक्ष मुनि आचार-संपन्न ज्ञानी गुरु की हितकारिणी शिक्षा को स्वीकार करता है।

---

१. आलवालः—थाला, वृक्ष के चारों ओर पानी ठहरने के लिए बनी पाल (स्यादालवालमावालमावापः—अभि० ४।१९१)

१२६. निदेशं सम्प्राप्य प्रमुदितमनाः दीक्षितमतिः,
समारोहैः प्रौढैः परिजनकृतैः सत्कृतिमितः ।
स्वकण्टालीयाख्यप्रवरनगरात् तन्त्रसहितो,
बगड्यां सत्पुर्यां समवसृतवान् यत्र स गुरुः ॥

दीक्षा की आज्ञा पाकर दीक्षार्थी भिक्षु मुदित मन से अपने परिकरों से परिवृत होकर, पूर्ण समारोह के साथ पौर जनों से सत्कृत होते हुए अपने कण्टालिया नगर से प्रस्थित होकर बगड़ी में आ पहुंचे, जहां आचार्य रुघनाथजी विराजमान थे ।

श्रीनाभेयजिनेन्द्रकारमकरोद् धर्मप्रतिष्ठां पुन-
र्यः सत्यग्रहणाग्रही सहनयैराचार्यभिक्षुर्महान् ।
तत्सिद्धान्तरतेन चारुरचिते श्रीनत्थमल्लर्षिणा,
श्रीमद्भिक्षुमुनीश्वरस्यचरिते सर्गस्तृतीयोऽभवत् ॥

श्रीनत्थमल्लर्षिणा विरचिते श्रीभिक्षुमहाकाव्ये
भिक्षुपत्नीवियोग-दीक्षाग्रहणोत्कटतानामा
तृतीयः सर्गः ।

चौथा सर्ग

प्रतिपाद्य : बगडी में भिक्षु का दीक्षा महोत्सव, गुरु की आज्ञा से आगमों का अध्ययन, सिंघाडपति के रूप में गुरु से पृथक् विहार, पांचवां चतुर्मास बागोर में तथा वहां पिता-पुत्र की दीक्षा ।

श्लोक : १२६

छन्द : इन्द्रवज्रा

वर्ण्यम् :

भिक्षु दीक्षा ग्रहण करने कंटालिया गांव से बगडी आए। दीक्षा महोत्सव ठाट-बाट से वट वृक्ष के नीचे संपन्न हुआ। तात्त्विक थोकड़ों के साथ-साथ आगमों का अध्ययन प्रारंभ हुआ। कल्प-अकल्प का अवबोध विकसित हुआ। गुरु से जिज्ञासाएं कर समाहित होने का प्रयत्न किया। आचार्य रघुनाथजी ने शिष्य भिक्षु की अनुभव वृद्धि के लिए उनको सिंघाडपति बनाकर अन्यान्य नगरों में पावस बिताने भेजा। आपने पहला पावस मेडता, दूसरा सोजत, तीसरा जेतारण और चौथा बलूंदा नगर में बिताया। पांचवां चतुर्मास करने बागोर पधारे। वहां पिता-पुत्र कृष्णोजी और भारीमलजी की दीक्षा हुई। छठा चतुर्मास सादडी में सानन्द संपन्न किया।

चतुर्थः सर्गः

१. श्रेयानथ न्युञ्छित सूरिपार्श्वे, ज्योतिर्विदा दत्तवलक्षलग्ने ।
दीक्षां समादातुमयं प्रवृत्त, आनन्दवृन्दं परितस्तदानीम् ।।

जब वह कल्याण-कामी भिक्षु अपने परखे हुए धर्माचार्य के पास किसी ज्योतिर्विद् द्वारा दिये गये शुभ लग्न में दीक्षा के लिए प्रस्तुत हुआ, तब चारों ओर आनन्द ही आनन्द छा गया ।

२. आचक्षते केचन मुक्तकण्ठा, भाग्योदयः कोऽपि महान् जनानाम् ।
यस्मादमूदृग् भुवनेऽस्ति सज्ज, एको हि विश्वोद्धरणक्षमोऽयम् ।।

उस समय कई नागरिक मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हुए कहने लगे—'यह मानवमात्र का महान् भाग्योदय है कि ऐसा व्यक्ति दीक्षा लेने के लिए तत्पर हुआ है । यह अकेला ही विश्व का उद्धार करने में समर्थ है ।

३. अभ्युद्यतं लोकहितं यमैक्ष्य, ये मानुषास्ते मुखरीबभूवुः ।
तृष्णार्दिता ग्रीष्मविमर्दिताः किं, कालापिका[1] नैव नदन्ति मेघात् ।।

लोकहित के पर्याय भिक्षु को दीक्षा के लिए उद्यत देखकर वे नागरिक वाचाल हो उठे । क्या ग्रीष्म ऋतु के निदाघ से पीडित और तृषा से व्याकुल मयूर मेघ को देखकर वाचाल नहीं हो जाते ?

४. आह्लादिता हार्दिकहृद्यरागैराऽऽगाममाऽऽगाम[2]मनाह्वयस्थाः ।
सभ्या इवाऽन्ये क्रमतः क्रमज्ञाः, प्रक्राम्यमाणाश्चरणक्षणार्थम्[3] ।।

विधि-विधानों से परिचित वहां के नागरिक बिना निमंत्रण ही हार्दिक अनुराग के साथ आह्लादित होकर, आ-आकर शिष्टता पूर्वक दीक्षा महोत्सव की विधियों को क्रमशः संपन्न करने लगे ।

५. केचित् सुगन्धाम्बुभृतार्घ्यकुम्भैर्दीक्षोत्सवार्हप्रवराभिषेकम् ।
उच्चोत्तमस्नानिकविष्टरस्य[4], चक्रुः सुरास्तीर्थपतेरिवाऽस्य ।।

---

१. कालापिकः—मयूर ।

२. आगामं आगामं—आभीक्ष्ण्येऽर्थे णप्रत्ययस्य रूपमिदम् ।

३. क्षणः—उत्सव (महः क्षणोद्धवोद्धर्षा—अभि० ६।१४४)

४. विष्टरः—पीढा, चौकी (विष्टरः पीठमासनम्—अभि० ३।३४८)

कुछ नागरिकों ने उन्हें उच्च और पवित्र स्नान कराने की चौकी पर बिठाकर सुरभित जल से भरे हुए उत्तम कलशों से उनका वैसे ही दीक्षाभिषेक किया जैसे कि सुर-समुदाय तीर्थंकर देव का अभिषेक करता है।

६. अस्यालयत्यागसमं हि नः किं, मुक्तिः प्रबन्धादिति मौलिकेशाः।
स्नानोदबिन्दुव्यपदेशतस्ते, हर्षाश्रुपातं युगपद् वितेनुः॥

इनके गृह-त्याग के साथ साथ हमें भी मुक्ति मिल जायेगी ऐसा सोचकर ही मानो इनके मस्तक के केश स्नानोदक के बिन्दुओं के मिष से हर्ष के आंसू बहाने लगे।

७. उच्चैः प्रणुन्नं प्रतियात्यधोऽधस्तादृग् जडेनाऽलममुष्य सङ्गात्।
प्रारुक्षयन् केऽपि तदङ्गभागात्, सौगन्धिसौमालविशालवस्त्रैः॥

यह जड जल ऊंचा उठाया जाने पर भी नीचे ही गिरता है। ऐसे जड का संसर्ग इस पुरुषोत्तम के लिए उपयुक्त नहीं, यह सोचकर ही मानो उन लोगों ने सुगन्धित एवं सुकोमल बड़े वस्त्र से उनके शरीर को पौंछ दिया।

८. एतस्य वैराग्यवतोभिषङ्गात्, किं तादृशः स्नानजलप्रवाहः।
यस्माद्धि सत्त्वान् परिवर्जयन् स, गत्वैव शीघ्रं श्रयते भवान्तम्॥

ऐसे वैरागी का सम्पर्क करने मात्र से मानो वह जल-प्रवाह स्वयं ही विरागी बन गया और वह अपने प्रवाह के बीच में आने वाले प्राणियों को जलप्लावित न करता हुआ, बहते-बहते वहीं पर भवान्त को प्राप्त हो गया, सूख गया।

९. नानासुवर्णांशुकवेषभूषाप्राश्वद्धरिद्रत्नयदङ्गभागान्।
मोक्षक्षणे वा पितृसू[1]विरागैः, प्रद्योतयन् पौष्करिकप्रतीकान्[2]॥

नाना प्रकार के स्वर्ण-आभरणों और वस्त्रों की वेषभूषा से उनका नीलमणि के समान अङ्ग वैसे ही उद्दीप्त होने लगा जैसे सूर्यास्त के समय संध्या-राग से कमलों की पंखुडियां।

१०. गर्वाद्रिशृङ्गस्थितकल्पवृक्षान्, सम्पातुकैः कैश्चन दिव्यदिव्यैः।
स्वर्णात्तमुक्तामणिमण्डनाद्यैः, शृङ्गारितोऽभीष्टफलप्रदो यः॥

---

१. पितृसूः—संध्या (सन्ध्या तु पितृसूः—अभि० २।५४)
२. प्रतीकः—अंग (एकदेशे प्रतीकोऽङ्गावयवापघना अपि—अभि० ३।२३०)

अभिमान के पर्वत-शिखर पर स्थित कल्पवृक्षों का मानभंग करने के लिए व्यक्तियों ने भिक्षु को यथेष्ट फल देने वाला जानकर दिव्य स्वर्णजटित मुक्ता-मणियों के आभूषणों से अलंकृत किया ।

११. यस्याऽर्घ्यमौलौ कलधौत[1]सूत्रव्याजादसह्यत्वमपोह्य हृष्टः ।
कृष्टात्मरश्मिव्रजपद्मबन्धुः[2], कौसुम्भवेषी शुशुभे स्वयं हि ॥

अपने असह्य ताप को दूर कर, अपनी समस्त रश्मियों का संहरण कर सूर्य स्वयं स्वर्णसूत्र के बहाने कुसुम्भवेश धारण कर उनके मूल्यवान् मस्तक पर सुशोभित होने लगा ।

१२. यद्गोधि[3]पुण्ड्रो[4]पधितः स्वताराः, सम्प्रेष्य दीक्षाक्षणसम्भ्रमोत्कः ।
एवं हि घस्रेऽपि शशी स्वरुच्या, शुक्लाम्बरोऽयं स्वयमम्बरस्थः ॥

उनके भाल पटल पर तारों का किया हुआ तिलक ऐसा लग रहा था मानो कि दीक्षा महोत्सव को देखने के लिए लालायित चन्द्रमा ने तिलक के मिष से अपने तारागण को ही वहां भेज दिया हो और अपनी रुचि से श्वेत कपड़ों को धारण कर स्वयं दिन में आकाश में ठहर गया हो ।

१३. भालाम्बरे चन्दनचन्द्रबिन्दुः, पोस्फूर्यमाणः प्रतिभाति भव्यः ।
पाषण्डखण्डार्थमिमं हि मन्ये, भ्राजिष्णुजिष्णो रिपुजिष्णुचक्रम् ॥

पाखंड का नाश करने के लिए, देदीप्यमान वासुदेव के सुदर्शन चक्र की तरह, उनके भालस्थल पर किया हुआ चन्दन का गोल चन्द्रोपम बिन्दु अत्यन्त रमणीय प्रतीत हो रहा था ।

१४. भ्रूसन्निधौ वृत्ततमालपत्रं[5], मन्यामहे स्वान्तभुवं भटोऽग्रम् ।
हन्तुं स्वनासानलिकाप्रयोगात्, संस्थापितेयं गुलिकेव येन ॥

उनके भ्रूमध्य भाग पर अंकित तिलकरूप बिन्दु ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो कामदेव रूप महान् योद्धा का नाश करने के लिए अपनी नासिका-रूप बन्दूक की नलिका पर गोली ही धर दी हो ।

१५. कर्णाश्रिताभ्यां प्रभया लसद्भ्यां, गण्डद्वये बिम्बितकुण्डलाभ्याम् ।
भेत्तुं कषायांश्चतुरोऽपि येन, चत्वारि चक्राणि किमाश्रितानि ?॥

---

१. कलधौतः—स्वर्ण ।
२. पद्मबन्धुः—सूर्य ।
३. गोधिः—ललाट (भाले गोध्यलिकालीकललाटानि—अभि० २।२३७)
४. पुण्ड्रम्—तिलक (तिलके तमालपत्रचित्रपुण्ड्रविशेषकाः—अभि० ३।३१७)
५. तमालपत्रं—तिलक ।

उनके कानों में पहने हुए दोनों कुंडलों का प्रतिबिम्ब कपोलों पर गिर रहा था, इसलिए चार कुंडलों की सी प्रतीति के कारण ऐसी तर्कणा हो रही थी कि क्या इन्होंने कषाय-चतुष्टय का नाश करने के लिए कुंडलों के मिष से चार चक्रों को तो धारण नहीं किया है ?

१६. विस्तीर्णवक्षःस्थललम्बमानहारावलीप्रोतविशिष्टमुक्ताः ।
दीक्षाविशुद्धाध्यवसायमेघाऽऽमुक्तोदबिन्दुव्रजवद् विभान्ति ।।

जिनके विशाल वक्षःस्थल पर लटकते हुए प्रलम्बमान मुक्तावलियों में पिरोये गये विशिष्ट मोती ऐसे प्रतिभाषित हो रहे थे कि मानो दीक्षा के विशुद्ध अध्यवसाय रूप मेघ से मुक्त पानी के बिन्दु चमक रहे हों।

१७. शेषातिशायी व्रतसारभारे, हस्तेऽस्य तस्माद् वलयं विभाति।
किं वा जगन्मोहभटं प्रणाश्य, येनोद्भटाऽवापमधारि शौर्यात् ।।

महाव्रतों के भार को वहन करने के लिए भिक्षु पृथ्वी के भार को वहन करने वाले शेषनाग से भी बढकर हैं। इसीलिए तो इनके हाथों में ये वलय शोभा पा रहे हैं अथवा अपने शौर्य से संसार के मोहभट का नाश कर इन्होंने शौण्डीर्य के प्रतीक तथा उद्भट वीरों द्वारा प्राप्त किए जाने वाले इन वलयों को धारण किया है।

१८. योगीव मुद्रां कलयन् कलाभिरूर्मि सरस्वानिव सम्प्रबिभ्रत् ।
प्रोत्फुल्लिताम्भोजदलोपमान, एतस्य पाणिः शुशुभे शुभाङ्कः ।।

जैसे योगी मुद्रा से, समुद्र ऊर्मियों से शोभा पाता है, वैसे ही इनका विकसित कमलपत्र से उपमित हाथ कलाओं से सुशोभित हो रहा था।

१९. माणिक्यमुक्ताकनकैर्निबद्धैर्योऽलङ्कृतोऽलङ्करणैर्विचित्रैः ।
आमोदसम्मोदितमञ्जरीभी, रेजे धरायामिव कल्पसालः ।।

माणिक्य-मुक्ताओं से जटित स्वर्ण निर्मित विचित्र आभूषणों से अलंकृत उनका शरीर वैसे ही देदीप्यमान हो रहा था जैसे धरा पर आमोद युक्त मंजरियों से कल्पवृक्ष शोभित होता है।

२०. गन्धैरमन्दैरिव गन्धसारो[1], माकन्द[2]वृन्दैरिव पुष्पकालः[3] ।
निस्तन्द्रचन्द्रैरिव चन्द्रकान्तो, भ्राजिष्णुभूषाभिरयं बभासे ।।

---

१. गन्धसारः—चन्दन (गन्धसारो मलयजश्चन्दने—अभि० ३।३०५)
२. माकन्दः—आम्र (अभि० ४।१९९)
३. पुष्पकालः—वसन्त (पुष्पकालो बलाङ्गकः—अभि० २।७०)

जैसे भीनी-भीनी गन्ध से चन्दन, आम्रवृक्षों से वसन्त तथा निर्मल चन्द्र से चन्द्रकांत मणि सुशोभित होता है वैसे ही भिक्षु उन देदीप्यमान आभूषणों से शोभित हो रहे थे।

२१. **एतस्य वा नः सुषमाऽधिकं किमित्याशया मण्डनमण्डलानि।**
आलोकयन्ति स्वमणीक्षणेभ्यः, प्रीत्या यदाऽऽसेचनक[1]प्रतीकान्[2] ॥

'हम अधिक सुन्दर हैं या भिक्षु का शरीर अधिक सुंदर है'—यह सोचकर आभूषण अपने मणिरूप नेत्रों से उन अवयवों को टकटकी लगाए देख रहे थे जिनको देखने से दृष्टि तृप्त होती ही नहीं।

२२. **वैचित्र्यनैपथ्यमरीचिचक्रैर्भित्ति विना व्योमविशालदेशे।**
चित्राणि चित्राणि विचित्रयन्ति, नाना[3] घनं चारु महेन्द्रचापम् ॥

भित्ति के बिना ही उनके विचित्र वेशभूषा से फूटती हुई किरणों से उस अनन्ताकाश में रंग-बिरंगे विचित्र चित्र चित्रित हो रहे थे। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो बिना मेघ ही आकाश में सुन्दर इन्द्रधनुष चित्रित हो रहा हो।

२३. **तद्विश्रुतापूर्वमहामहेषु, स्वस्वालयान्नागरिकैर्वृतोऽयम्।**
प्राभातिकेऽनेहसि रोहिताश्वाद्[4], विद्योतमानैः किरणैरिवार्कः ॥

उस विश्रुत और अनूठे समारोह में भाग लेने के लिए अपने-अपने घरों से निकल कर लोगों ने दीक्षार्थी को चारों ओर से वैसे ही घेर लिया जैसे अग्नि की उपेक्षा करने वाली प्रत्यूष काल की लाल किरणें सूर्य को घेर लेती हैं।

२४. **स्वर्भूर्भुवः प्रष्ठपरेशपत्र[5]विस्मापकं बन्धुरतोद्धुरीणम्।**
उत्कोचितं यानममुष्य तैस्तैः, शक्रादिकैस्तीर्थपतेरिवार्घ्यम् ॥

लोकत्रय के प्रमुखतम यानों को भी विस्मित कर सकने वाले ऐसे सुन्दरतम यान (वाहन) आपके सामने वहां की जनता ने प्रस्तुत किये जैसे कि शक्रेन्द्र आदि तीर्थाधिनायक तीर्थंकर के लिए प्रस्तुत करते हैं।

---

१. आसेचनकम्—जिसको देखने से नेत्र तृप्त न हों (तदासेचनकं यस्य दर्शनाद् दृग् न तृप्यति—अभि० ६।७९)
२. प्रतीकः—अवयव, अंग (एकदेशे प्रतीकोऽङ्गावयवा—अभि० ३।२३०)
३. नाना—बिना (हिरुग् नाना पृथग् विना—अभि० ६।१६३)
४. रोहिताश्वाद्—रोहिताश्वं—अग्निमुपेक्ष्य इत्यर्थः।
५. पत्रं—वाहन (यानं युग्यं पत्रं वाह्यम्—अभि० ३।४२३)

२५. सौधर्मकल्पाधिपतिर्गजेन्द्रमैशानजेन्द्रो वृषभाधिराजम् ।
अर्हन् यथा दैविकयाप्ययानं,[1] यानं तथा तत् समलङ्करोद् यः ।।

तब आपने उस वाहन को वैसे ही अलंकृत किया जैसे सौधर्मेन्द्र ऐरावण हाथी को, ईशानेन्द्र वृषभ को तथा तीर्थंकर देव-निर्मित शिबिका को अलंकृत करते हैं ।

२६. कल्याणतूर्याणि जनैः प्रमोदात्, सन्ताडितान्येकविधाभिरत्र ।
आपूरयन् सर्वककुब्निकुञ्जान्, यत्पुष्करावर्त्तकगर्जनावत् ।।

तब हर्ष विभोर होकर जनता ने अनेक मंगलमय वाद्य बजाए । उनके सुमधुर नाद से सारे दिग्निकुंज समानरूप से वैसे ही पूरित हो गए जैसे पुष्करावर्त मेघ के गंभीर घोष से पूरित होते हैं ।

२७. आनन्दभेरी पुरतः प्रणादैः, शब्दाद्वितीये भुवने तदाप्ते ।
माङ्गल्यमालाभिरभीक्ष्यमाणो, हर्म्यात् समारोहसमं प्रतस्थे ।।

भिक्षु अपने स्थान से दीक्षास्थान की ओर समारोहपूर्वक प्रस्थित हुए । उस समय अनेक मांगलिक विधियां संपन्न हुईं । आगे-आगे होने वाले शब्दों से प्रतीत हो रहा था कि मानो आनन्द की भेरी बज रही है और उससे सारा लोक शब्दाद्वैतमय बन गया है ।

२८. यानाधिरूढोऽतिशनै शनैः स, श्रेण्या[2] यदा संसरणे[3]ऽवतीर्णः ।
भूमिस्पृशस्तं परिलोक्य लोक्यमाश्चर्यसिन्धौ सुतरां निमग्नाः ।

वे यान पर आरूढ होकर धीरे-धीरे गलियों को पार करते हुए राजमार्ग पर आए । लोगों ने उन दर्शनीय भिक्षु को देखा और देखकर आश्चर्य सिन्धु में डूब गए ।

२९. हृल्लेखतः[4] केचन चारुरङ्गाचार्यन्ति घण्टापथ[5]चत्वरादौ[6] ।
चित्रीयमाणा अपि केऽपि केऽपि, देवायमाना इव निर्निमेषाः ।।

---

१. याप्ययानम्—शिबिका (शिबिका याप्ययाने''''—अभि० ३।४२२)
२. श्रेणी—वीथी ।
३. संसरणं—राजमार्ग (घण्टापथः संसरणं—अभि० ४।५३)
४. हृल्लेखः—उत्सुकता (औत्सुक्यं''''हृल्लेखोत्कलिके—अभि० २।२२८)
५. घण्टापथः—राजमार्ग (अभि० ४।५३)
६. चत्वरम्—बहुत मार्गों के मिलने का स्थान (बहुमार्गी तु चत्वरम्—अभि० ४।५४)

कुछ व्यक्ति उत्सुकता से राजमार्ग तथा बहुमार्गी स्थानों पर नट-विद्या का सुन्दर प्रदर्शन कर रहे थे। कुछ उनको देखने के लिए चित्रित मनुष्यों की भांति स्थिर खड़े थे और कुछ देवों की भांति निर्निमेष बन रहे थे।

३०. शोभामनन्यामुपलक्ष्य तत्र, नानाप्रकारैर्द्विगुणायमानाः।
वाद्यस्वरा व्योमतले प्रसस्रुर्डिम्भा यथा वै पितुरङ्कपाल्याम्॥

ऐसे अनन्य समारोह की दिव्य छटा को देखकर प्रोत्साहित हुए वाद्य-स्वरों ने अपनी गति (ध्वनि) को द्विगुणित करते हुए अनन्त आकाश में वैसे ही फैल गए जैसे अपने पिता की गोद में बालक।

३१. एतत् क्षणात् केपि न वञ्चिताः स्युरेवं विवादाद् गहनालयेऽपि।
वादित्रनादाः शुभदूतदेश्या, आमन्त्रयन्तः परितः स्फुरन्ति॥

'इस महोत्सव से कोई वंचित न रह जाये', इस विशेष प्रयोजन से घर के भीतर बैठे मनुष्यों को भी आमन्त्रित करने के लिए शुभ दूतों की भांति वाद्य-स्वर अहमहमिकया चारों ओर फैल गए।

३२. तद्वृत्तविन्नाः[1] परिशेषमर्त्या, उत्कण्ठिताः के मिलिता न तत्र।
आनन्दतो विस्मृतभिन्नकार्या, नानाविधालापजुषस्तदानीम्॥

इन वाद्य-स्वरों से समारोह की जानकारी प्राप्त कर अवशिष्ट लोग भी उस समारोह में सम्मिलित होने के लिए उत्कंठित हो गए। ऐसे कौन थे जो उस समारोह में सम्मिलित न हुए हों? लोग आनन्दविभोर होकर अन्यान्य कार्यों को भी भूल गए तथा उस समय नानाविध आलाप-संलाप करने लगे।

३३. सम्मर्दनं सम्मदतोन्मदिष्णु, संकीर्णता सम्प्रविकीर्णहर्षा।
वाचालताऽस्मिन् रसनालिकाऽभूत्, शृङ्गारभूतं विगतत्रपत्वम्॥

उस जुलूस की अपार भीड में जो सम्मर्दन हो रहा था, वह भी सम्मद (हर्ष) को ही उद्दीप्त करने वाला था। जो संकीर्णता थी वह चारों ओर हर्ष को ही विकीर्ण कर रही थी। जो वाचालता थी वह रस की नहर बहाने वाली थी और जो निर्लज्जता (उचित निःसंकोच वृत्ति) थी वह भी वहां शृंगार बन गई थी।

३४. मालिन्यमुत्सृज्य विरोधिनोऽपि, वाद्यप्रघोषा मिलिता यदस्मिन्।
मित्रीयमाणा नहि किं भवेयुर्लोकेऽपि पर्वादिषु सभ्यलोकाः॥

---

१. विन्नं—विचारित (विन्नं वित्तं विचारिते—अभि० ६।१११)

ऐसे समारोह में वे विरोधी वाद्य-स्वर भी अपनी अपनी मलिनता को छोड़ मित्रता पूर्वक एक दूसरे की तान (लय) में मिल गये। तो क्या पर्व आदि उत्सवों में शिष्ट एवं भद्र लोग विरोधी भावनाओं को भूल परस्पर मित्रता का व्यवहार करते हुए एक दूसरे से नहीं मिल जाते ?

३५. माहात्म्यमस्याद्भुतमेव किञ्चिन्, मर्त्या विरागाः किमु तद् विचित्रम् ।
रागैर्निजाङ्कानऽपरान् सृजन्तो, जाता अपूर्वा मकरध्वजाश्च[1] ॥

इनके अद्भुत माहात्म्य से कोई मनुष्य विरक्त बन जाये इसमें तो आश्चर्य ही क्या परन्तु जो दूसरों को कामराग से अपने समान रागी बनाते थे वे कामदेव तुल्य व्यक्ति भी अपूर्व विरागी बन गए।

३६. आतापदम्भाद् हृदऽमात्तहर्षं, क्षिप्यन् क्षपाक्षीणकरः[2] समन्तात् ।
पिष्टात[3]पुञ्जं यदि वा प्रभूतं, प्रोड्डाययन् सम्मिलितो नभस्थः ॥

इस समारोह की ऐसी दिव्य छटा देख स्वयं सूर्य भी इतना अधिक हर्षाकुल हो उठा कि वह उस अपार हर्ष को अपने आपमें समाहित नहीं कर सका, इसीलिये उसने इस आतप के मिष से अपने हर्ष को चारों ओर बिखेर कर अथवा सुगंधित चूर्ण को प्रचुरमात्रा में फेंकता हुआ स्वयं समारोह में भाग लेने के लिए आकाश में आ खडा हुआ।

३७. प्रस्तावविज्ञो दिवसेऽवितत्य, गुच्छीकृतानाऽत्मकरान् सुधांशुः ।
सम्प्राहिणोच्चञ्चलरोमगुच्छ-व्याजात्ततस्तद्वियुतो गतः खम् ॥

तब अवसरवादी चन्द्र ने दिन में संकुचित होकर अपनी समस्त किरणों का गुच्छा बना उनको चंचल चामर के मिष से उस विरागी का स्वागत करने के लिये पहले ही वहां समारोह में भेज दिया और स्वयं किरणों से रहित होकर आकाश में आ खडा हुआ।

३८. नार्योप्यरत्या[4] निजनैजसौधादुच्छृङ्खला एत्य गवाक्षमालाम् ।
विभ्राजयन्ति प्रमदाः सवेगाः, पारस्परोत्पीडनमादधानाः ॥

जुलूस को देखने के लिए लालायित ललनाएं उत्सुकता से उच्छृंखल-सी होती हुई, शीघ्रता के कारण पारस्परिक उत्पीडन को सहन करती हुई अपने-अपने मकानों के गवाक्षों को सुशोभित कर रही थीं।

१. च इति अपि।
२. क्षपाक्षीणकरः—सूर्य।
३. पिष्टातः—सुगंधित चूर्ण (पिष्टातः पटवासकः—अभि० ३।३०१)
४. अरतिः—उत्सुकता (औत्सुक्यं····आयल्लकारती— अभि० २।२२८)

३९. तं द्रष्टुमुत्कण्ठितशुभ्रवामा, वातायनाद् बाह्यविनिर्गतास्यैः ।
पद्माकरेषूत्तमपद्मपङ्क्तिसङ्कल्पशीलान् मनुजान् सृजन्त्यः ॥

उस महाभाग को देखने के लिए उत्कण्ठित शुभ्र ललनाएं वातायनों से अपना मुंह बाहर निकालकर देख रही थीं, उस समय मनुष्यों में यह कल्पना हो रही थी कि स्त्रियों की पंक्तियां मानों पद्मसरोवर में पद्मों की खिलती हुई पंक्तियां ही हों ।

४०. काश्चित् समुत्पन्नकुतूहलेन, किं किं किमेतल्लपनाभिरामाः ।
अन्योन्यवेगप्रतिरोधकामा, निध्यातुमुत्काः परिधावमानाः ॥

कुछ स्त्रियां 'यह क्या ?' 'यह क्या ?' कहती हुई तथा एक दूसरे के गतिवेग को रोकने की इच्छुक होती हुई उस विरागी को गहराई से देखने के लिए आगे से आगे दौड़ रही थीं ।

४१. धावत्क्वणन्नूपुरकाञ्चिनादैस्तत्तन्नदद्वाद्यसमानरूपाः ।
जातत्वराः काश्चन बालिकावत्, तं वीक्षितुं हर्म्यतलं समीयुः ॥

उन्हें देखने के लिए कुछ स्त्रियां बालिकाओं की भांति उतावली होती हुईं दौड कर अपने-अपने विशाल घरों की छतों पर एकत्रित होने लगीं । उस समय उनके नूपुरों और करधनियों की ध्वनि उस समारोह में बजने वाले वाद्यों की ध्वनि के समान थी ।

४२. कोऽयं किमर्थं क्व यियासुरुत्क, एवं विधालापकला मिथोऽत्र ।
प्रत्युत्तराण्यर्थपराणि तत्र, कापि प्रगल्भाऽर्पयति प्रबुद्धा ॥

यह कौन है ? यह किस प्रयोजन से कहां जाने के लिए उत्सुक है ? इस प्रकार स्त्रियों में पारस्परिक आलाप-संलाप हो रहा था । तब किसी प्रबुद्ध और निपुण स्त्री ने यथार्थ उत्तर देते हुए कहा—

४३. वैरङ्गिकोऽसौ विषयाद् विरक्तः, संसारसिन्धुं प्रतितीर्षुरेषः ।
धन्यः सखि ! प्रव्रजितुं प्रसत्त्या, निर्याति निर्धूतसमस्तमोहः ॥

यह विरागी है, विषयों से विरक्त है और यह संसार-समुद्र को तैरने का इच्छुक है । यह समस्त मोह को प्रकंपित कर दीक्षा स्वीकार करने के लिये जा रहा है । अतः हे सखि ! यह धन्य है ।

४४. अस्मादृशीनां क्षणरागिणीनां, सध्रीचि[१]! भोगात् प्रविरज्यमानः ।
शश्वच्चिदानन्दविलासरागां, मुक्तिं समादातुमयं प्रयाति ॥

---

१. सध्रीची—सखी (वयस्यालिः सखी सध्रीची—अभि० ३।१९३)

हे सखि ! यह हम जैसी क्षणिक रागवाली स्त्रियों के भोग से विरक्त होकर शाश्वत चिदानन्दविलासोत्पादिनी मुक्ति को प्राप्त करने के लिए जा रहा है।

४५. तास्तास्तदा शान्तहृदोऽनुकूला, वामाः प्रशंसन्ति तमीक्षमाणाः।
धन्योऽस्ति धन्योस्त्ययमङ्गभाजां, यो यौवनेऽस्मिन् श्रमणत्वमीप्सुः॥

तब वे स्त्रियां शांत और अनुकूल होती हुई उस विरागी को देखकर प्रशंसा के स्वरों में कहने लगीं—ओह ! यही मनुष्यों में धन्य है, धन्य है जो इस यौवन के प्रभात में श्रामण्य को प्राप्त करना चाहता है।

४६. एवं हि सर्वत्र यशोभिवादान्, जाजायमानान् प्रणयंश्श्रुताभ्याम्।
यत्राऽपि तत्रापि जनानुरोधैर्निरुध्यमानोऽन्यमनोनुदर्शी॥

इस प्रकार सर्वत्र यशोगान को अपने कानों से सुनता हुआ तथा दूसरों के मनोगत भावों को देखता हुआ वह विरक्तचेता विरागी लोगों के अनुरोध से स्थान स्थान पर रुकता हुआ जा रहा था।

४७. औध्वाङ्गनादर्शनदामदिव्यः, ऊर्वीजनालोचनमालभारी।
आशीर्वचःपूरितकर्णयुग्म, आनन्दमृद्वन्निरगान्नगर्याः॥

छतों पर खडी स्त्रियां उनको एकटक निहार रही थीं और पृथ्वीतल पर खडे लोग आंखें फाड-फाड कर उनको देख रहे थे। चारों ओर से गूंजने वाले आशीर्वाद के वचनों से कान बहरे हो रहे थे। इस प्रकार आनन्द से ओतप्रोत भिक्षु नगर से बाहर आए।

४८. दृङ्गाद् बहिर्द्वीपवतीप्रतीरे, कान्तारनेतारमिवेति रम्यम्।
श्रीभिः पराभूतसमस्तवृक्षं, न्यग्रोधवृक्षं स शुभं ददर्श॥

उन्होंने नगर के बाहर नदी के तट पर एक विशाल शुभ वट वृक्ष को देखा। वह अपनी शोभा से समस्त वृक्षों को पराभूत करने वाला तथा वनराजा के सदृश रमणीय था।

४९. सोऽपि स्वयं नव्यप्रवालनेत्रैरालोकयन् सन्मुखमाश्रयन्तम्।
नानानभःसङ्गमसन्निनादैराह्वाययन् संस्तमिवाऽभिभाति॥

वह वट वृक्ष अपने नव्य प्रवाल रूप नेत्रों के सन्मुख आते हुए इस महाभाग को देख मानो नाना प्रकार के पक्षियों के मधुर नाद से उस वैरागी को आह्वान करता हुआ-सा प्रतीत हो रहा था।

५०. प्रागेव तं वैश्रवणालया[1]ऽगं[2], संभूषयामास ऋषीश्वरः सः ।
तस्माच्च तत्रैव महानुभावादभ्यागतः पर्वपरिच्छदेन[3] ।।

इस नव युवा विरागी के आने के पहले ही आचार्य श्री रघुनाथजी सपरिवार उस वट वृक्ष को अलंकृत कर चुके थे । अत एव वह विरागी ठाट-बाट से पारिवारिक तथा पौरजनों के साथ वहां आ पहुंचा ।

५१. संसारभारानिव भूषणानि, सन्त्यज्य धीरो धृतसाधुवेषः ।
क्षिप्रं तदाचार्यसमीपमस्थात्, मन्ये वपुष्मान् प्रशमो रसोऽयम् ।।

वह धैर्य धुरन्धर भिक्षु संसार-भार के समान ही आभूषणों के भार को अपने शरीर से उतारकर साधु वेष में शीघ्र ही गुरु के सन्मुख आकर बैठ गया । तब ऐसा लग रहा था कि मानो स्वयं प्रशान्तरस ही मूर्तिमान् होकर वहां आ बैठा हो ।

५२. अक्षुण्णवैराग्यसुधाप्रसारैः, सन्तर्पयन् दर्शकदर्शनानि ।
नम्रोऽभ्यधान् नम्रतरं भवन्तो, यच्छन्तु दीक्षां यमिनामधीश ! ।।

अक्षुण्ण वैराग्य सुधा के प्रसार से दर्शक व्यक्तियों की आंखों को तृप्त करता हुआ वह विनीत दीक्षार्थी विनम्र भावों से आचार्य को प्रार्थना करने लगा—'गुरुदेव ! अब मुझे दीक्षा प्रदान करने की कृपा करें ।'

८ ० ८ १
५३. रत्नाभ्रशैलामृतकान्तिमार्गशीर्षाऽसितद्वादशवासरे तैः ।
पञ्चाधिकैर्विंशतिवार्षिकोऽसौ, सन्घावृतैरुच्छ्वसितैरदीक्षि ।।

विक्रम सम्बत् १८०८ मार्गशीर्ष कृष्णा द्वादशी के पुनीत दिन पच्चीस वर्ष के तरुण भिक्षु को संघपति ने समस्त संघ के समक्ष दीक्षा प्रदान की ।

५४. सौम्येन[4] सोमः कमनेन[5] कृष्णो, रेवन्तके[6]नाम्बुजपञ्चशाखः[7] ।
प्राचीनबर्हिश्च[8] यथा जयेन, दीप्तोऽमुनाऽयं रघुनाथसूरिः ।।

---

१. वैश्रवणालयः—वट (स्याद् वटो वैश्रवणालयः—अभि० ४।१९८)
२. अगः—वृक्ष (वृक्षोऽगः शिखरी····अभि० ४ १८०)
३. पर्वपरिच्छदः—दीक्षा समारोह में सम्मिलित होने वाले लोग ।
४. सौम्यः—बुध नक्षत्र (बुधः सौम्यः प्रहर्षुलः—अभि० २।३१)
५. कमनः—कामदेव (कमनः कलाकेलिरनन्यजोऽङ्गजः—अभि० २।१४१)
६. रेवन्तकः—सूर्यपुत्र (अभि० २।१७)
७. अम्बुजपञ्चशाखः—सूर्य ।
८. प्राचीनबर्हिः—इन्द्र (प्राचीनबर्हिः पुरुहूतवासवौ—अभि० २।८५)

ऐसे शिष्य को पाकर आचार्य रघुनाथजी वैसे ही सुशोभित होने लगे जैसे बुद्ध नक्षत्र से चन्द्रमा, मकरध्वज से कृष्ण, सूर्यपुत्र रेवंतक से सूर्य और इन्द्रपुत्र जय से इन्द्र ।

५५. तेजस्विनं शैक्षममुं नवीनं, निर्वर्ण्य निर्वर्ण्य ललामभूतम् ।
मेने स्वयं साधुपतिः स्वकीयं, लोकोत्तमं भाग्यविजृम्भणत्वम् ॥

ऐसे ललामभूत तेजस्वी नये शिष्य को देख-देखकर स्वयं आचार्य ने अपने भाग्योदय को लोकोत्तम माना ।

५६. नंनम्यमाना जनता जजल्प, जाताः कृतार्था अमुना भवन्तः ।
जैवातृकेना[1]ऽङ्गभुवाऽपचिन्ताः, क्षोणीभृतो भाग्यवता यथाऽत्र ॥

गुरु के चरणों में बार-बार वंदना करते हुए लोग कहने लगे—'गुरुवर ! आप इस शिष्य को पाकर वैसे ही कृतार्थ हो गए जैसे किसी दीर्घायु और भाग्यशाली राजकुमार को पाकर राजा निश्चिन्त हो जाता है ।

५७. इत्थं समुल्लापकलापकेन, पीयूषपानं रचयन् स तेन ।
चिक्रीड भूमौ विपिने यथैव, यूथाधिनाथः कलभेन कम्रः ॥

इस प्रकार जनता के आलाप-संलाप का अमृतपान करते हुए आचार्य रघुनाथजी उस शैक्ष शिष्य के साथ वैसे ही विचरण करने लगे जैसे वनप्रदेश में सुंदर गजेन्द्र अपने कलभ के साथ विचरण करता है ।

५८. एष प्रणेयो[2] विनयी नयेन, गुर्विङ्गिताकारविशारदश्च ।
गुर्वादरोप्यद्भुततद्विनेयसंवादिसंवादपथप्रसारी ॥

शैक्ष मुनि भिक्षु अनुशासित, व्यवहार और आचरण से विनीत तथा गुरु के इंगित और आकार को जानने-मानने में निपुण था । गुरु का उसके प्रति आदर—वात्सल्यभाव भी अद्भुत था और वह भिक्षु के विनय का संवादी अर्थात् विनय के अनुरूप तथा उसकी विनयशीलता के संवाद को फैलाने वाला था ।

५९. शिक्षा शुभाऽस्मिन् प्रतिबिम्बितात्मदर्शे प्रमृष्टे किरणावलीव ।
वैराग्यभूषा शुशुभे यदङ्गे, दीक्षार्थसञ्जातवरान् न दभ्रा ॥

---

१. जैवातृकः—दीर्घायु (जैवातृकस्तु दीर्घायुः—अभि० ३।१४३)
२. प्रणेयः—अनुशासित (वश्यः प्रणेयो—अभि० ३।९६)

गुरु की शिक्षाएं उनके स्वच्छ हृदय में वैसे ही प्रतिबिम्बित हो रही थीं जैसे निर्मल दर्पण में रश्मियां और उनके शरीर पर निखरता हुआ वैराग्य उनकी श्रामणीय वेशभूषा से न्यून नहीं था।

६०. तच्छिक्षिताचारविचक्षणस्य, का नाम सूक्ष्माऽनवधानताऽपि।
मन्त्राभिमन्त्रायितमानवस्य, किं राक्षसी यातुमधीश्वरी स्यात्।

गुरु से आचार-विधि की शिक्षा पाने वाले उस विलक्षण शिष्य को सूक्ष्म अनवधानता—प्रमत्तता भी वैसे ही नहीं छू पायी जैसे मंत्र से अभिमंत्रित पुरुष को एक राक्षसी।

६१. एनांसि भूयांस्यऽपि भूरिशक्त्या, स्प्रष्टुं न शक्तानि भवेयुरेतम्।
एणव्रजोऽतीवपरिप्लवः किमेणाधिनाथं सविधं समीयात्।।

प्रचुर पाप अपनी पूरी शक्ति का प्रयोग करके भी मुनि भिक्षु का स्पर्श करने में समर्थ नहीं हुए। क्या अत्यंत चपल मृगों का यूथ भी सिंह के समीप उपस्थित हो सकता है ?

६२. किन्त्वत्र सिद्धान्तयथार्थतायुक्-स्वाचारकल्पप्रतिकल्पकानाम्।
अध्यापनं संस्थगितं पुरैव, पोल्लप्रथोद्घाटनसाध्वसेन।।

उस सम्प्रदाय में पोल खुल जाने के भय से सैद्धान्तिक यथार्थता युक्त साधुओं का आचार-विचार और कल्पाकल्प का अध्ययन-अध्यापन तो पहले से ही स्थगित था।

६३. अभ्यासयेद् वा स्वरुचिप्रकारात्, शैथिल्यसङ्क्लिष्टपरम्परावत्।
जिज्ञासिताभिः स मनेत्तथैव, सह्यार्थि[1]पुंवत् सतताऽभियोगः[2]।।

यदि अध्ययन करवाते तो भी अपना मनमाना तथा अपनी शिथिल परंपरा के अनुरूप ही, तब वे भिक्षु भी जैसे अध्ययन करवाते वैसे ही जिज्ञासु वृत्ति से सतत उत्साह के साथ अध्ययन करते जाते, जैसे कि आरोग्यार्थी पुरुष वैद्य के कथनानुसार ही अपनी प्रवृत्ति करता है।

६४. स्तोकादनाबाधगतिर्बभूव, स्तोकेषु भङ्गेषु समीरवत् सः।
आदित्सुरेषोऽस्ति पुनः पवित्रजैनागमाम्भोनिधिरत्नराशिम्।।

अल्प समय में ही थोकड़ों तथा भङ्गों के अध्ययन में उनकी गति वायु की तरह अनाबाध हो गई, फिर भी पवित्र आगम-सिन्धु की अपार राशि को प्राप्त करने के लिए उनका मन सतत प्रयत्नशील बना रहा।

---

१. सह्यः—आरोग्य (सह्यारोग्ये अभि० ३।१२८)
२. अभियोगः—उत्साह (अभियोगोद्यमौ प्रौढिः ...—अभि० २।२१४)

६५. जैनागमानां पठनं गृहिभ्योजिनैर्निषिद्धं ननु पाठनं च ।
सीमा निबद्धा शमिनां कृतेऽपि, किन्त्वत्र तत्कल्पविपर्ययो हि ।।

जिनेश्वर देव ने गृहस्थों के लिए जैनागमों के पठन-पाठन का मूलतः ही निषेध किया है और संतों के लिए भी आगमों के पठन-पाठन की सीमा निर्धारित की है। परन्तु इस सम्प्रदाय में इस कल्प का विपर्यय ही था— अर्थात् आगमों के अध्ययन-अध्यापन के लिए कोई भी मर्यादा नहीं थी।

६६. तस्माद्यवेतं प्रथमे हि वर्षे, द्रागाऽऽमनन्तं[1] वरपञ्चमाङ्गम् ।
सम्यङ्निभाल्याऽतिशयात् कृतं कैराश्चर्यदोलान्तरदोलनं न ।।

इसीलिए आचार्य रघुनाथजी ने इन्हें प्रथम वर्ष में ही पांचवें अंग आगम भगवती सूत्र का अध्यापन करवाना प्रारम्भ कर दिया। भिक्षु को प्रथम वर्ष में ही भगवती का सम्यग् अध्ययन करते देख, ऐसा कौन था जो आश्चर्य के झूले में नहीं झूला हो !

६७. सूक्ष्मातिसूक्ष्माण्यनुयोजनानि, सैद्धान्तिकानि प्रणयेन बोद्धुम् ।
संरक्षयन् स्वं बहुधा गुरुं स, सन्देहसिन्धौ न निपातुकः किम् ।।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म सैद्धान्तिक व्याख्याओं का विनयपूर्वक अवबोध करने के लिए वे तर्क-वितर्क करते और अपनी बात को सिद्ध कर गुरु को भी अनेक बार संदेह-सिंधु में निमग्न कर देते।

६८. कल्पाकल्पाश्रयपृच्छनाभिरान्दोलितो येन विचारमग्नः ।
किन्त्वऽन्यथा नो स्थितिरेतयोश्च, जाता कदाऽपि प्रबुभुत्सुभावात् ।।

कभी कभी कल्प-अकल्प संबंधी प्रश्नों के विषय में जब आप अपने गुरु से कुछ पूछते तब गुरु स्वयं ही विचारमग्न हो जाते। चाहे कुछ भी क्यों न हो, पर आपकी जिज्ञासा वृत्ति होने के कारण आपमें तथा गुरु में कभी भी किसी प्रकार की अन्यथा स्थिति नहीं बनी।

६९. अत्यल्पकालेन कलिन्दिका[2]ऽस्मै, पात्राय रुच्या गुरुणा प्रदत्ता ।
सङ्ग्राहकेनाऽऽपटुनाऽमुनाऽपि, पीताब्धि[3]पीतस्वगुरूक्तिसिन्धुः ।।

---

१. म्नां अभ्यासे इति धातोः रूपम् ।

२. कलिन्दिका—आन्वीक्षिकी आदि विद्याएं (कलिन्दिका सर्वविद्या— अभि० २।१७२)

३. पीताब्धिः—अगस्त्यमुनि (अगोस्त्योऽगस्तिः पीताब्धिः—अभि० २।३६)

बहुत थोड़े समय में आचार्य रघुनाथजी ने सुपात्र भिक्षु को अपनी इच्छा से सारी विद्याएं सिखा दीं। आप ग्रहण करने में अति दक्ष थे, अतः आपने गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान-सिन्धु को वैसे ही पी लिया जैसे अगस्त्यमुनि ने समुद्र को पी लिया था।

७०. **कल्याणभक्तिः प्रविभक्तिसक्ति[1]र्व्यनक्ति भावित्वममुष्य साक्षात्।**
विज्ञापिकाऽव्यभिचारिकी वित्[2], किं नो परोक्षान्तरितार्थराशेः॥

आपकी काल्याणिक भक्ति और सेवाभावना आपके उज्ज्वल भविष्य की ही ओर संकेत कर रही थी। क्या परोक्ष एवं दूरवर्ती पदार्थों को निर्दोष ज्ञान सिद्ध नहीं करता?

७१. **एतस्य गाम्भीर्यविशालतायुग्, मेधाविमौर्धन्यमवेत्य मर्त्याः।**
अस्मिन् सदा पाटलफुल्लपुष्पे, रोलम्बमाला इव सम्भ्रमन्ति॥

आपकी गंभीरता और विशालता से युक्त मेधाविता और मूर्धन्यता को जानकर लोग आपके पीछे-पीछे वैसे ही घूमने लगे जैसे पाटल के विकसित पुष्प पर भ्रमर मंडराते हैं।

७२. **व्याख्यानविश्राणन[3]शक्तिरस्याऽपूर्वा ततः पञ्चजनाः प्रकृष्टाः।**
नाम्नैव निस्तन्द्रविनिद्रसभ्या, यद्देशनायां भरिता बभूवुः॥

आपमें व्याख्यान देने की कला अपूर्व थी। लोग आपका नाम सुनते ही आलस्य और नींद को छोड व्याख्यान-सभा-स्थल में खचाखच भर जाते थे।

७३. **अग्राग्रतस्तस्य गुरोश्च शश्वत्, संवर्द्धमानं विनयं प्रसादम्।**
आलोक्य सन्घस्य विनिर्विवादादसौ हि नेता भवितेति दृष्टिः॥

इस प्रकार भिक्षु का गुरु के प्रति विनयभाव और गुरु का शिष्य भिक्षु के प्रति कृपाभाव को निरंतर प्रवर्धमान देखकर समूचे संघ की यह निर्विवाद धारणा बन चुकी थी कि भविष्य में यही भिक्षु इस संघ का नेता बनेगा।

७४. **प्राक्पुण्यभाराद् गुरुशिष्ययोः संजातः सुयोगो बुधचन्द्रयोर्वा।**
तीर्णा वयं पारगता भवाब्धेरेवं हि सार्वत्रिकलोकवादः॥

---

१. प्रविभक्तिसक्तिः—सेवाभावना।
२. अव्यभिचारिकी वित्—अव्यभिचारी ज्ञान; निर्दोष ज्ञान।
३. विश्राणनं—दान (अभि० ३।५१)

यह लोकवाणी सर्वत्र फैल गई कि पूर्व सुकृत के संयोग से बुध और चन्द्र नक्षत्र के योग के समान यह गुरु-शिष्य का कैसा सुन्दरतम योग मिला है! इस सुयोग से हम तो इस संसार-समुद्र को तैर गए, उसके पार पहुंच गए।

७५. गम्भीरिमोदारिमभक्तिभावात्, प्रज्ञापराढ्याऽनवरार्ध्य[1]दर्शात्।
एष्यल्लसल्लक्षणया च नाथैः, सङ्कल्पितः स्यादयमेव भावी ॥

आचार्य रघुनाथजी ने भी भविष्य की लक्षणा शक्ति से इस शिष्य की महान् उदारता, गम्भीरता और भक्ति भाव आदि से तथा प्रज्ञावान् व्यक्तियों में उत्कृष्ट प्रज्ञावान् देखकर सम्भवत: यह कल्पना की हो कि यही मेरा भावी उत्तराधिकारी होगा।

७६. योग्यत्वमाध्याय विशिष्टमेतं, सङ्घाटबन्धेन बबन्ध बुद्धः।
मूर्धाभिषिक्तेन कुमारमुख्यो, नो मुद्रयते मुख्यविमुद्रया किम् ॥

गुरुवर ने आपकी योग्यता देख आपको सिंघाडपति के रूप में नियुक्त कर दिया। क्या मूर्धाभिषिक्त राजा अपने प्रमुख राजकुमार को मुख्य मुद्रा से मुद्रित नहीं करता?

७७. तं स्वार्यनीवृत्[2]परिदर्शनाय, सम्प्रेषयामास विकाशकामम्।
भूष्णुं यथा भूपतिमात्मसूनुं, भूपः समायोजितयोजिताङ्गम् ॥

आचार्य रघुनाथजी ने अपने विकासेच्छुक शिष्य भिक्षु को आर्यदेश दर्शन के लिए भेजा। उन्होंने पृथक् विहार करने का वैसे ही आदेश दिया जैसे राजा भविष्य में राजा बनने वाले अपने राजकुमार को नाना प्रकार की योजनाओं में नियोजित करता रहता है।

७८. भास्वत्प्रभाचक्रवदेष तेन, सम्बन्धितोऽपि प्रतिबन्धमुक्तः।
रंरम्यमाणो रमणीयरम्यो, लेभे प्रतिष्ठां जनतासु तासु ॥

सूर्य से संबंधित होता हुआ भी सूर्य का प्रभा-चक्र सर्वत्र स्वतन्त्र रहता है, वैसे ही गुरु से सम्बन्धित होते हुए भी अत्यंत मनभावक मुनि भिक्षु प्रतिबन्ध-मुक्त होकर विहरण करते हुए लोगों में प्रतिष्ठा प्राप्त करते रहे।

७९ संश्रुत्य संश्रुत्य ककुब्[3]निकुञ्जकुक्षिम्भरिश्लोकममुष्य दूरात्।
धाराहतोत्फुल्लकदम्बपुष्पस्मेराननः सङ्घपतिः ससङ्घः ॥

---

१ अनवरार्ध्यम् - मुख्य, प्रधान (अभि० ६।७५)

२. सु+आर्य+नीवृत्—आर्यदेश (देशो जनपदो नीवृत्—अभि० ४।१३)

३. ककुप् —दिशा (दिग् हरित् ककुप्—अभि० २।८०)

समस्त संघ और स्वयं संघपति भी दिग्-निकुञ्ज को परिपूर्ण कर देने वाले आपके यशोगान को दूर से सुन-सुन कर वैसे ही प्रफुल्लित होने लगे जैसे कि मेघ-धारा से प्रफुल्लित कदम्ब का पुष्प।

८०. पार्श्वे कदाचिच्च पृथक् कदाचित्, संरक्षयन् तं परिवर्त्तमानः।
श्रेष्ठी यथा लाभकरं विनीतं, व्यापारदक्षं स्वसुतं प्रवासे॥

आचार्यश्री मुनि भिक्षु का संरक्षण करते हुए कभी उनको पास में रखते और कभी पृथक् प्रवास में वैसे ही भेज देते जैसे श्रेष्ठी अपने कमाऊ, विनीत और व्यापार-निपुण पुत्र को प्रवास में भेजता है।

८१. तत्सद्यशोऽनर्गल[1]डिण्डिमेन, साकं निजायं निरपायमेत्य।
आलोचि नाथेन वसुन्धरायामुद्धूसितं नाम ममैव तेन॥

उनके निर्बाध यशोगान के साथ-साथ अपनी भी प्रशस्त ख्याति को बढ़ते देखकर संघपति ने सोचा कि मुनि भिक्षु ने वास्तव में मेरा ही नाम चमकाया है।

८२. इत्थं द्वयोर्दैष्टिकता[2]ऽतिवाहो, गच्छन् मिथो माधुरिमोद्धुरीणः।
दिङ्मूढयोरिङ्गितयोर्यथैव, न्यक्षक्रियाकाण्डवतोः सतोर्हि॥

इस प्रकार दोनों—गुरु-शिष्य का भाग्यशाली समय निर्बाध मधुरिमा के साथ बीत रहा था। दोनों एक-दूसरे के अनुरूप वैसी ही क्रिया करने लगे जैसे कि दो दिग्मूढ व्यक्ति एक-दूसरे के इंगित और आकार को समझकर करते हैं।

८३. शेषावशेषास्थितयोऽपि भिन्ना, निर्मीयमाणेन तथाविधेन।
एतच्चरित्राधिविनायकेन, विद्योतितो द्योतितसम्प्रदायः॥

ऐसे चातुर्मासिक तथा शेषकालिक स्थिति को अन्यत्र बिताते हुए चरित्रनायक भिक्षु ने इस दीप्त सम्प्रदाय को और भी अधिक दीप्तिमान् बना दिया।

८४. अस्यादिमोयं खलु मेघकालः, प्रावर्त्तताऽऽनन्दितमेडतायाम्।
श्रीसोजतेऽजायत कान्तकीर्त्या, प्रीत्या जनानां रभसाद् द्वितीयः॥

आपका पहला पावस-प्रवास (चातुर्मास) मेडता में आनन्दपूर्वक संपन्न हुआ। आपकी कान्त कीर्ति से प्रभावित होकर जनता ने आपका दूसरा चतुर्मास अत्यंत भक्तिपूर्वक सोजत में करवाया।

---

१. अनर्गलम्—अबाध (अनियंत्रितमनर्गलम्—अभि० ६।१०२)
२. दैष्टिकता—भाग्यशालिता।

८५. जेतारणेऽभूत् सुखतस्तृतीयस्तुर्यो बलूंदानगरे बलिष्ठः।
एवं क्रमादाक्रमतो धरित्रीं, क्रान्तिः समागादिह पञ्चमस्य ॥

तीसरा चतुर्मास अत्यन्त आनन्द के साथ जेतारण में हुआ और चौथा चोमासा बलुन्दा नगर में सम्पन्न हुआ। इस प्रकार क्रमशः विहार करते हुए आपके पांचवे चतुर्मास में क्रान्ति का उद्भव हुआ।

८६. आसीत् तदाऽखण्डितगर्वगर्वी, देशेषु देशो वरमेदपाटः।
वीरत्वलक्ष्मीदृढदुर्गकल्पः, शौण्डीरिम[1]श्रीन्यंवसद् यदत्र ॥

उस युग में अपने अक्षुण्ण गौरव को बनाये रखने वाला तथा समस्त देशों में प्रमुखतम स्थान रखने वाला मेवाड नाम का देश था। वह वीरत्व लक्ष्मी का दृढ दुर्ग था, जहां वीरता साक्षात् निवास करती थी।

८७. तद्देशजा एव न गौरवार्हा, यन्नामतो हिन्दुपदेन वाच्याः।
अद्याऽपि सर्वेऽस्खलिताभिमानैरोजोऽभिपूर्णास्त्वरितं भवन्ति ॥

केवल उस देश के वासी ही उस देश से गौरवान्वित नहीं थे, किन्तु हिन्दु जनमात्र उससे गौरवान्वित हो रहे थे और आज भी उस देश के नाम-मात्र से सभी स्वाभिमान के ओज से आप्लावित हो जाते हैं।

८८. किं यत्र रत्नानि धनानि सन्ति, किं वा विलासाञ्चितमन्दिराणि।
योगीश्वरस्येव निजावलेपे, प्राणानपि प्रोज्झति योऽतिवीरः ॥

क्या वहां रत्न और धन का संचय है ? क्या वहां वैभव और विलास से परिपूर्ण विशाल भवन हैं जिनसे कि वह देश महान् है ? नहीं, किन्तु वह एक महान् पराक्रमी देश है जो अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए एक योगीश्वर की भांति अपने प्राणों का उत्सर्ग करने के लिए सदा तैयार रहता है।

८९. म्लेच्छैरनार्यैरभिभूयमानास्तीर्थैः सुरास्तेऽपि पलायमानाः।
यस्मिंश्छरण्ये शरणायगूढा, नृणां शरण्यैः किमु तस्य चित्रम् ॥

जब म्लेच्छों तथा अनार्यों द्वारा संत्रस्त किये जाने पर देवगण भी अपने तीर्थस्थानों को छोड़ भाग गए और अन्यत्र कहीं आश्रय न मिलने के कारण यही शरणभूत मेवाड़ देश उन्हें शरण देने वाला बना, तो फिर मनुष्यों के लिये यह देश शरणभूत हो तो आश्चर्य ही क्या ?

९०. वैधर्म्यसम्मर्दरजस्वलाभ्रं, दोधूयमानो विजयध्वजैर्यः।
राजन्महादुर्गनरेशकीर्त्तिस्तम्भैरदम्भैर्गिरिच्चित्रकूटैः ॥

---

१. शौण्डीरिमा—वीरता।

यह देश म्लेच्छों के आक्रमण से मलिन बने हुए इस आकाश को अपनी फहराती हुई विजय ध्वजा से परिष्कृत करता रहा है तथा महादुर्ग और निर्दम्भ नरेश्वरों के कीर्तिस्तम्भों से परिवृत उत्तुंग पर्वत पर स्थित चित्तोड दुर्ग अत्यन्त सुशोभित होता रहा है।

९१. संरक्षितुं शीलमनन्तशक्त्या, प्राणाहुतिः क्लृप्तचितानलान्ता।
दत्तेह कीर्त्यै सुसतीसहस्रैः, साकं महाराणकपद्मिनीभिः॥

यह वही चित्तोड है, जहां महारानी पद्मिनी के साथ हजारों नारियों ने अपने सतीत्व की रक्षा तथा नारीत्व की कीर्त्ति के लिए अपनी अनन्त शक्ति को संजोकर जाज्वल्यमान चित्ता में हंसते-हंसते अपने प्राणों की आहुति दे दी थी।

९२. देशो विशेषो विषयान्तरेषु; स्फूर्जज्जयश्रीःपुरुषोत्तमो यः।
स्वातन्त्र्यमन्त्राप्तयशोभिरेष, क्षोणीश्वराणामिव चक्रवर्ती॥

मेवाड़ देश अन्यान्य देशों से विशिष्ट था। यहां के पुरुषोत्तम महाराणा ने अनेक बार जय प्राप्त की थी। अपने स्वतंत्रता के मंत्र से प्राप्त यश-कीर्ति से यह देश राजाओं में चक्रवर्ती की भांति अग्रसर था।

९३. ये कातरास्तेऽपि महोग्रवीराः, स्युर्यस्य वृत्तप्रतिबिम्बमात्रात्।
ख्यातो महाराणकसत्प्रतापसिंहो नृसिंहोप्यजनिष्ट यत्र॥

जिसके जीवन चरित्र का पठन व श्रवण करने मात्र से और जिसके तेजस्वी प्रतिबिम्ब को देखने मात्र से ही कायर भी महान् वीर बन जाता है, ऐसे लब्धख्याति नरसिंह महाराणा प्रताप भी यहीं हुए थे।

९४. आर्यत्वहिन्दुत्ववशासुवृत्तसंस्कारसंरक्षक एक एव।
वीराग्रणीनां निकषायमाणो, दीपायमानोऽरिपतङ्गकानाम्॥

यह देश आर्यत्व, हिन्दुत्व, कुलीन स्त्रियों के सतीत्व तथा उत्तम संस्कारों की रक्षा के लिए बेजोड था, अकेला ही था। यह वीराग्रणी व्यक्तियों के लिए निकषपट्ट तथा शत्रुरूप पतंगों के लिए दीपकतुल्य था।

९५. कैलाशसङ्काशगिरीशगङ्गास्रोतस्विनीनन्दनकाननाद्यैः।
निःशेषदेशेषु विभाति जम्बूद्वीपो यथा द्वीपगणेषु गम्यः॥

यह देश कैलाश गिरि के समान उत्तङ्ग शिखरों से, गंगा की तरह विशाल नदियों से, नन्दन वन के अनुरूप सुन्दर उद्यानों से समस्त देशों से निराला ही प्रतीत हो रहा था जैसे कि समस्त द्वीपों में जम्बू द्वीप।

९६. ऊर्वी प्रशस्या मधुराः सरस्याः, यस्मिन् सुवृक्षा इव पारिजाताः ।
हस्त्यश्वगोधान्यधनप्रपूर्त्तिः, नीवृन्नरेन्द्रो नयनायको यः ।।

इस देश की धरती प्रशस्य थी । यहां मीठे पानी के सरोवर, कल्पवृक्ष के समान अच्छे वृक्ष, हाथी, घोड़े, गाय, धन-धान्य आदि की प्रचुरता थी । ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो यह देश समस्त देशों का राजा और न्याय-मार्ग का नायक ही हो ।

९७. रक्तेन्दुहीराश्ममणेर्निधानं, प्रादुर्भवत्सत्कलधौत[1]खानिः ।
मर्त्या अनङ्गानुकरा हि यत्र, रामा रमाधःकृतकामरामाः ।।

वहां माणिक्यमणि, हीरमणि, चन्द्रमणि आदि के निधान तथा स्वर्ण और चांदी की खानें प्रगट होती रहती हैं । वहां के मनुष्य कामदेव के समान सुंदर और स्त्रियां अपने रूप-रंग से कामदेव की पत्नी रति को भी नीचा दिखाने वाली अर्थात् अतिशय रूप-संपन्न थीं ।

९८. यत्र प्रधानामितपत्तनानि, विद्योतमानानि परिस्फुरन्ति ।
स्वर्गान्निराधारतयैव किं वा, स्रस्तानि यानानि किमेतकानि ।।

वहां ऊंची-ऊंची अट्टालिकाओं से आवेष्टित बहुत ही सुन्दर भव्य नगर थे । ऐसा लगता था कि स्वर्गीय विमान भी स्वर्ग में स्थानाभाव देख यहां पर उतर आये हों ।

९९. माणिक्यलक्ष्मीपुरुषोत्तमाप्ता, प्रासादरम्या जनजीवनीया ।
यस्मिन् सुधासिन्धुरिवोदयादिनामा पुरान्ता नवराजधानी ।।

वहां 'उदयपुर' नाम की नवीन राजधानी थी । वह रत्न, लक्ष्मी, पुरुषपुंगव तथा प्रासादों से रमणीय, जनता के लिए जल की भांति जीवन-दात्री तथा क्षीरसमुद्र की भांति अमृतमयी थी ।

१००. शक्तित्रयेणार्जितसत्प्रतापो, न्यायैकनिष्ठो जगदेकवीरः ।
तत्राऽस्ति राजा जितराजचक्रः, श्रीमान् महाराणकभीमसिंहः ।।

वहां शक्तित्रय के धारक, सत्प्रतापी, न्यायनिष्ठ, महापराक्रमी और राजचक्र को जीतने वाले श्रीमान् भीमसिंह नाम के महाराणा राज्य करते थे ।

---

१. कलधौतम्—चांदी (स्याद् रूप्यं कलधौत····—अभि० ४।१०९)

१०१. माकन्दमालामकरन्दवृन्दस्वच्छन्दगन्धोद्धुरमञ्जरीभिः ।
निष्कुण्ठकण्ठैः कलकण्ठकूजैः, प्रोल्लास्यमानः परितः सदा यः ॥

१०२. नानाद्रुमैर्गुल्मलतावितानैर्नाना सुवर्णादृतपुष्पपुञ्जैः ।
रम्यं वनं यत्र यतस्त्रपाभिर्गोपायितं स्वर्गवनं निरीक्ष्य ॥

१०३. क्रीडातडागः प्रतिबद्धघट्टो, यत्रोत्तमारामनोमनोज्ञः ।
तत्संनिधौ बालुगिरिर्बकाह्वो, मर्यादितो वेदिजया[1] स्थिरोऽतः ॥

१०४. खर्जूरवृक्षास्तटिनीतटान्त, ऊर्ध्वंदमाः[2] कीर्णजटा जटालाः ।
मौनाश्रिताः प्राञ्जलिनो[3] हि यत्र, योगीयमाना इव ते तपन्ति ॥

१०५. एषा पुरी प्राग् विदितैकचक्रा, यत्राऽऽगताः पाण्डुसुता अचक्राः ।
भीमेन शान्त्यै निहतो बकोऽत्र, प्रत्नी[4] यदर्थं भुवि किंवदन्ती ॥

१०६. तस्मिंस्तदा श्रीमति मेदपाटे, माद्यन्महाराजपदाधिकारे ।
बागोरनाम्नि प्रथिते पुरेस्मिन्नेकं चतुर्मासमशिश्रियत् सः ॥

(षड्भिः कुलकम्)

उस मेवाड देश में 'बागोर' नाम का नगर था। वह आम्रवृक्षों के मकरन्द तथा अन्यान्य स्वच्छन्द गन्ध से गर्भित मंजरियों के आस्वादन से निष्कुंठित कंठवाली कोकिलाओं के सुमधुर कूजन से अत्यन्त कमनीय लगता था।

वह नगर सुन्दर उपवन से शोभित था। उस उपवन में नाना प्रकार के वृक्ष तथा रंग-बिरंगें पुष्पों से परिपूर्ण अनेक गुल्म और लताएं थीं। उस उपवन की शोभा को देखकर स्वर्ग का उपवन भी लज्जा से कहीं छुप गया हो, ऐसा प्रतीत हो रहा था।

वहां उत्तम और मनमोहक आराम से परिवृत और सुन्दर घाट से प्रतिबद्ध एक क्रीडा सरोवर भी था, जिसके पास में ही 'बक' नामक बालु का एक पहाड़ था। किंवदन्ती है कि वह द्रौपदी द्वारा मर्यादित किया गया था, अतएव स्थिर रह रहा था (सरोवर में नहीं धंसता था)।

उस नगर के बाहर नदी के तट पर ऊंचे-ऊंचे खजूर के वृक्ष अपनी जटाओं को फैलाए हुए खड़े थे। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो सीधे खड़े-खड़े मौनाश्रित जटाधारी योगी तपस्या कर रहे हों।

---

१. वेदिजा—द्रौपदी (वेदिजा याज्ञसेनी च—अभि० ३।३७५)
२. ऊर्ध्वंन्दमः—खडे हुए (ऊर्ध्वं ऊर्ध्वंन्दमः स्थितः—अभि० ३।१५६)
३. प्राञ्जलः—ऋजु (ऋजुस्तु प्राञ्जलोऽञ्जसः—अभि ३।३९)
४. प्रत्नी—प्राचीन (पुराणं प्रतनं प्रत्न—अभि० ६।८५)

इस नगर के लिए यह प्राचीन किंवदन्ती भी है कि पहले यहां 'एकचक्रा' नाम की प्रसिद्ध नगरी थी, जहां पांच पाण्डव एक बार बिना सेना-बल के साथ आये थे और इसी बालु के टीले पर बक राक्षस का वध कर भीम ने सदा के लिए शान्ति स्थापित कर दी थी।

उस समय वहां मेवाड में 'महाराजा पद'[1] के अधिकार से सुशोभित बागोर नगर में आपने एक चतुर्मास अर्थात् पांचवां चतुर्मास बिताया।

१०७. तत्रैव मूहाभिधदृङ्गवासी, कृष्णाजिदाभादुपकेशवंश्यः।
वंशावतंसी तनयस्तदीयो, भव्योऽतिभव्यो वरभारिमालः॥

१०८. सम्प्राप्तवैराग्यधियौ तदा तौ, श्रीभिक्षुपादानभिवन्द्य सद्यः।
आवेदयाञ्चक्रतुरुल्लसन्तौ, यच्छन्तु शीघ्रं नियमस्थितिं नौ॥

(युग्मम्)

वहां मुंहा गांव के वासी ओसवंशीय कृष्णोजी रहते थे। वंश का मुकुट रूप उनका अतिभव्य पुत्र भारीमाल था। उस समय कृष्णोजी और भारमलजी—दोनों वैराग्यभाव से आचार्य भिक्षु के पास आए, उन्हें वंदना कर उल्लासपूर्ण वाणी से बोले—'भंते ! आप हम दोनों को दीक्षा प्रदान करें।'

१०९. बालो लघीयान् दशवर्षदेश्यः, पृष्टः प्रकृष्टः स सदाशयेन।
किं राजहंसः सहजं विवेकं, दैवात् त्यजेत् पल्वलसङ्गतोऽपि॥

प्रव्रज्या का इच्छुक बालक भारीमाल छोटा था। उसकी अवस्था दस वर्ष की थी। लोगों ने वैराग्य की परीक्षा करने के सद् अभिप्राय से उसे बहुविध प्रश्न पूछे। बालक विवेक से उत्तर देता रहा। मानसरोवरवासी राजहंस भाग्यवश किसी छोटे तालाब के पास आ जाए, फिर भी क्या वह अपना सहज विवेक (क्षीरनीरविवेक) छोड़ देता है ?

११०. धूर्यातिशायी व्रतभारवाहे, मन्दत्वदर्शी कथमेव स स्यात्।
लालायितः संयमलालसाभिरालोकयत् स्वं द्रढिमानमेव॥

वह बालक भी व्रतों के भार को वहन करने में धोरी वृषभ के समान था, तो फिर वह अपनी मन्दता कैसे प्रगट कर सकता था ? अतः उसने अपनी संयम-साधना की तीव्र उत्कण्ठा को प्रगट करते हुए आत्म-दृढ़ता का ही परिचय दिया।

---

१. 'महाराजा पद' का तात्पर्य है कि उदयपुर महाराणा के कोई सन्तान न होने पर बागोर नगर के राजकुमार को ही उदयपुर के महाराणा पद पर प्रतिष्ठित किया जाता था।

१११. प्रकाम्यते दीक्षयितुं ततस्तं, तातेन दृङ्गोपवने व्रतीन्दुः ।
तस्मिंस्तपस्या[1]मुपदातुमुत्कः, स्फूर्जत्समारोहतया प्रतस्थे ॥

उस लघु बालक की संयम के प्रति ऐसी दृढ़ता देख मुनि भिक्षु ने पिता-पुत्र—दोनों को दीक्षित करने की स्वीकृति प्रदान कर दी और नगर के जिस उपवन में उन्हें दीक्षित करने के लिए सोचा गया था उसी उपवन में भव्य समारोह के साथ दोनों पिता-पुत्र उपस्थित हुए ।

११२. कौतूहलाद् भूमितलं समेत्याऽदःपूश्छलात् स्वर्गपुरीं वसन्तीम् ।
विज्ञाय पश्चात् किमिहागतं तदेतद् वनं नन्दनमैक्षि तेन ॥

वहां पर उस दृश्य को देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा था कि कुतूहल-वश इस पुर के मिष से मानो अमरपुरी ही यहां आकर बस गई हो और उसके पीछे-पीछे नन्दनवन भी यहां आ गया हो ।

११३. क्रीडत्कपोतालिमयूरहंसपुंस्कोकिलालापकलाविलासि ।
आदर्शसद्मेव वनं तदेतच्चारित्रमिच्छुः प्रविवेश शान्त्या ॥

वह उपवन क्रीडा करते हुए कपोतों, मयूरों, हंसों और पुंस्कोकिलाओं के मधुर आलापों से विलास युक्त था । ऐसे उस आदर्श गृहरूप उपवन में चारित्र के इच्छुक पिता-पुत्र ने शान्ति के साथ प्रवेश किया ।

११४. शाखाग्रहस्तेष्विह सन्दधानाः, पुष्पप्रवालार्घ्यफलानि वृक्षाः ।
पक्षिस्वनैः स्वागतमातिथेयमस्यातिथेश्चक्रुरुदीर्य हृष्टाः ॥

उस उपवन के वृक्षों ने प्रसन्नचित्त से अपनी शाखाओं के अग्रभागरूप हाथों में पुष्प, प्रवाल तथा अर्घ्यफलों को धारण कर, पक्षियों के निनाद रूप गीतध्वनि से अतिथि का स्वागत-सत्कार किया ।

११५. वन्यैर्नगैः शस्यभरादरोत्कैर्मन्ये विहङ्गारवकीर्त्तिकाव्यैः ।
वातोन्नमन्नैजशिरोभिरेष, एष्यद्व्रतीशत्वधियाभ्यवन्दि ॥

'यह भविष्य में मुनियों का स्वामी होगा,' ऐसा सोचकर ही उपवन के वृक्ष फलों के भार से उसका सत्कार करने के लिये उत्सुक होते हुए तथा पक्षियों के कलरव रूप कीर्तन काव्य की रचना करते हुए एवं वायु से झुकते हुए अपने मस्तक को झुका-झुका कर नमस्कार करते हुए से दिखाई दे रहे थे ।

११६. अन्वेषयन् वट्युपलक्ष्यमेकं, देवालयं तत्र ददर्श दिव्यम् ।
आराममूर्ध्नीव जितान्यवृक्षैः, क्लृप्तातपत्रं च वटं वटाढ्यम् ॥

१. तपस्या—व्रतग्रहण (तपस्या नियमस्थितिः—अभि० १।८१)

वैरागी की दीक्षा शोभायात्रा उस उपवन में पहुंची। खोजते हुए वहां 'वडली का देहरा' अर्थात् वटी या वट से पहचाने जाने वाले एक दिव्य देवालय को देखा। उस उपवन के अग्रिम भाग में वट वृक्षों से समृद्ध एक विशाल वट वृक्ष था जो अपनी विराटता से अन्य समस्त वृक्षों को जीतकर छत्र की भांति वहां छाया हुआ था।

११७. यो न्यक्ष[1]रूक्षेषु महत्वशाली, भूमान् यथा मानवमण्डलेषु।
तद् गौरवात् किन्नु गरुत्प्रकीर्णकैर्वीज्यते स्माऽभ्रगमैः स्फुरद्भिः॥

मनुष्यों में राजा की भांति वह वट वृक्ष सभी वृक्षों में महत्वशाली था। उस महत्व के कारण ही क्या उडते हुए पक्षिगण अपने-अपने पंख रूप चामरों को उस वृक्ष पर डुला रहे हैं?

११८. आगामिकालेऽत्र सुभावितात्मा, संवर्त्तिताऽसौ च शमीश्वरोऽपि।
तत्पल्लवै रागमुदीरयन् किं, शालो विशालोऽयऽमशालताऽत्र॥

यह बालक आगामी समय में भावितात्मा होगा और मुनियों का नेता भी बनेगा, इसीलिये मानो वह विशाल वट वृक्ष अपने नव्य प्रवालों से उसके प्रति अपना प्रेम दर्शाता हुआ चमक रहा था।

११९. त्वग्भिस्तनुत्राणकरो यदर्थं, बिभ्रज्जटालीं जटिलां पिशङ्गाम्।
तन्वंस्तपस्तापसवद् वनान्ते, जातः कृतार्थोऽद्य किमेतमैक्ष्य॥

यह वृक्ष छाल से अपने शरीर की रक्षा करता हुआ, पीली जटिल जटा को धारण करता हुआ और एक तपस्वी की भांति वन के एकान्त में तप तपता हुआ एक योगी की भांति जिस प्रयोजन से समय बिता रहा था, आज उसके दर्शन से कृतार्थ हो गया।

१२०. अन्तर्निविष्टस्फिरविष्किराणां, विस्फारतारस्वरतो वटद्रुः।
वातस्फुरत्पल्लवपाणिभिः किमेतं निजोपान्तमिवाऽऽह्वयन् यः॥

वह वट वृक्ष अपने पर निविष्ट पक्षि-समूहों के तार स्वर से तथा वायु से प्रकंपित पल्लव रूप हाथों से उस बालक दीक्षार्थी को मानो अपने निकट बुलाने के लिए आह्वान करता हुआ-सा दिखाई दे रहा था।

१२१. विस्तीर्णसच्छायतदंह्रिपेषु, बिभ्राजमानं स्वगुरुं जनोघैः।
नेत्राञ्जनीकृत्य समेत्य तत्र, वावन्द्यते स्मैष स बीजियुक्तः॥

सुविस्तृत घनी छायावाले उस वृक्ष के नीचे विशाल मानवमेदिनी के बीच अपने गुरु को सुशोभित देख दीक्षार्थी बालक भारीमाल वहां आए और पिता के साथ गुरु-चरणों में वंदना की।

---

१. न्यक्षः—समस्त (न्यक्षाणि निखिलाखिले—अभि० ६।६९)

१२२. स्वामिन् ! भवाम्भोनिधिपारगस्त्वमस्मादृशानीश ! तथा विधेहि ।
उत्तारयोत्तारय पारयैवं, व्यानञ्ज वार्णो रचिताञ्जलिः सः ॥

वह बालक भारिमाल हाथ जोड़कर बोला—'स्वामिन् ! आप ही इस संसार समुद्र के पारगामी हैं । भगवन् ! हमें भी आप वैसा ही बना दें । आप हमें पार ले जाएं, पार ले जाएं और हमारा उद्धार करें ।

१२३. दीक्षावधेर्वल्गुविधेः शरीरे, किं भूषया कृत्रिमयाऽनया मे ।
इत्थं विचिन्त्यैव तनोर्निजस्य, सर्वाङ्गभूषा विजहेऽमुना किम् ॥

सुन्दर विधि-विधान वाली दीक्षा की अवधि आने पर, यह सोचते हुए कि अब शरीर पर इस कृत्रिम वेषभूषा की क्या आवश्यकता है, बालक भारीमाल ने धारण कर रखे समस्त अलंकारों को एक साथ उत्तर दिया ।

१२४. भालस्थलारोपितहस्तयुग्मो, वैराग्यरागार्चितगात्रभागः ।
पित्रा समं स प्रथमां प्रव्रज्यां, भिक्षोः समीपे समुपाददेऽत्र ॥

वैराग्य के अनुराग से अर्चित गात्रवाला वह बालक अपने दोनों हाथों को भालस्थल पर संयोजित कर अपने पिता किशनोजी के साथ भिक्षु स्वामी के पास दीक्षित हो गया । वे दोनों भिक्षु स्वामी के प्रथम शिष्य बने ।

१२५. बागोरदृङ्गस्य घनागमर्तुं, सम्पूर्य लाभान्मनसोऽतिरेकात् ।
ग्रामानुग्रामं विजहार भिक्षुः, कीर्त्यावदातीकृतविश्वविश्वः ॥

अपनी कल्पनाओं से भी अधिक लाभ से लाभान्वित होकर आपने बागोर नगर के इस चातुर्मास को पूर्ण किया । अपनी निर्मल कीर्ति के द्वारा संपूर्ण संसार को समुज्ज्वल करते हुए वे ग्रामानुग्राम विहार करने लगे ।

१२६. षष्ठं चतुर्मासमुवास चारु, सानन्दतः सादडिपत्तनेषु ।
वैराग्यपीयूषसरस्वतीभिः, प्राप्ता प्रतिष्ठा महिमण्डलेषु ॥

आपने अपना छठा चातुर्मास सादडी शहर में आनन्द पूर्वक सम्पन्न किया और अपनी वैराग्यपूर्ण अमृतवाणी के कारण आप इस महिमण्डल में प्रतिष्ठा को प्राप्त हुए ।

श्रीनाभेयजिनेन्द्रकारमकरोद् धर्मप्रतिष्ठां पुनर्-
यः सत्याग्रहणाग्रही सहनयैराचार्यभिक्षुर्महान् ।
तत्सिद्धान्तरतेन चारुरचिते श्रीनत्थमल्लर्षिणा,
श्रीमद्भिक्षुमुनीश्वरस्य चरिते सर्गश्चतुर्थोऽभवत् ॥

श्रीनत्थमल्लर्षिणा विरचिते श्रीभिक्षुमहाकाव्ये भिक्षुदीक्षामहोत्सव-विहरण-बागोरनगरवर्णननामा चतुर्थः सर्गः ।

पांचवां सर्ग

प्रतिपाद्य : राजनगर वास्तव्य श्रावकों के मन में साधु-संघ के आचार-विचार के प्रति विचिकित्सा····श्रावकों द्वारा वंदन-विधि का परिहार····उनको प्रतिबोध देने के लिए मुनि भिक्षु का राजनगर में आगमन और श्रावकों से विचार-विमर्श ।

श्लोक : १६३

छन्द : वसन्ततिलका

वर्ण्यम्

मुनि भिक्षु ने छठा चातुर्मास सादडी में बिताया। वहां से वे राजनगर मेवाड में गए। इसमें है—राजसमन्द का प्राकृतिक वैभव, अरावली पर्वतमाला तथा मेवाड के प्रतापी और पराक्रमी शाशकों का वर्णन। आगमों के पठन-पाठन से राजनगर के श्रावकों में साधु-संघ के आचार-विचार संबंधी विचिकित्सा और वंदना-व्यवहार का परिहार। आचार्य रघुनाथजी द्वारा श्रावकों को समझाने के लिए अनेक साधुओं को भेजना····अन्त में मुनि भिक्षु को वहां जाने का निर्देश···मुनि भिक्षु द्वारा श्रावकों से विचार-विमर्श तथा यह अन्तर् अनुभूति कि श्रावकों का पक्ष सर्वथा असत् नहीं है। श्रावकों को मुनि भिक्षु पर पूर्ण विश्वास। मुनि भिक्षु का आत्म-मंथन आदि।

पञ्चमः सर्गः

१. श्रेयस्कराण्यथ जिनेन्द्रपदाम्बुजानि,
सम्पूज्य भक्तिभरितो भवनाशनाय ।
व्यावर्णयामि विनयेन नयेन भिक्षु-
द्रव्यर्षिजागरणकारणतामिदानीम् ।।

अब मैं भव-भ्रमण की परिसमाप्ति के लिए भक्तिपूर्ण भावों से परिपूर्ण होकर कल्याणकारी प्रभु-पंकजों में प्रणाम करता हूं और विनयपूर्वक मुनि भिक्षु के भावी-प्रतिबोध के कारणों का न्याययुक्त विवरण प्रस्तुत करता हूं।

२. आचारवेदिपरिवेदितमेदपाटे,
राजादिनाम नगरं नगरं गरीयः ।
पारे गिरां गरिमगौरवमेतदीयं,
बोधिस्थलं यदऽभवद् गणिभिक्षुभिक्षोः ।।

आर्य भूमि के नाम से प्रसिद्ध मेवाड़ देश में राजनगर नाम का बड़ा नगर है। उस नगर का गरिमामय गौरव वर्णनातीत है। वही नगर आर्य भिक्षु का बोधि-स्थल बना।

३. एतद् भविष्यदऽदसीयमुनीश्वरस्य,
नीलारवृन्दसुदृशामरविन्दबन्धुः[1] ।
भावीति सेवितुमनाः सुमनाः समागात्,
सोऽयं समुद्र इह राजसमुद्रदम्भात् ।।

वही नगर भविष्य में मुनि भिक्षु के आन्तरिक नयन कमलों को विकसित करने के लिये सूर्य के समान सिद्ध होगा, ऐसा विचार करके ही मानो समुद्र—राजसमुद्र (राजसमन्द) के मिष से पहले से ही इस नगर की सेवा करने के लिये यहां आ बैठा हो।

---

१. अरविन्दबन्धुः—सूर्य ।

४. पाल्यां परापरग[1]पर्वतपूरुषाभ्यां,
तद्द्योतिचारुचलचामरचञ्चुराभ्याम्[2] ।
यद् बीजयन् पृषतमौक्तिकपूगपङ्क्त्या,
वर्धापयन् स्मितरदः स्थितहंसवंशैः ।।

५. आदाय दक्षिणदले चलचित्रभानुं,
कल्लोलकेलिकलकीर्त्तनकान्तिकान्तः ।
नीराजतां[3] तदिदमीयपुरेशितुर्यो,
निर्मांति पूजक इवाऽर्घ्यजलाभिषेकात् ।। (युग्मम्)

वह राजसमंद उस नगर (राजनगर) रूप राजा की पूजा-अर्चना करने के लिए एक पुजारी की भांति वहां आ बैठा हो, ऐसा लग रहा था । वह अपने किनारों पर पूर्व-पश्चिमगामी दो पर्वतरूपी पुरुषों की चमकरूप सुन्दर और चंचल चामरों को राजा पर निपुणतापूर्वक डुलाता हुआ, उछलते हुए पानी के बिन्दुरूप मुक्ताओं और पूगफलों से वर्धापित करता हुआ, वहां बैठे हुए हंस आदि पक्षियों के मिष से मधुर मुस्कान बिखेरता हुआ, दाहिनी ओर से चलाचल सूर्य के प्रतिबिम्ब से आरती उतारता हुआ, कल्लोलों की उछलकूद से उत्पन्न मधुर संगीत से कीर्त्तन करता हुआ, अर्घ्यजल से अभिषेकपूर्वक अर्चना करता हुआ-सा प्रतीत हो रहा था ।

६. क्षारं निजं पुनरपेयकलङ्कपङ्कं,
श्लिष्टं चिरादनुपयोगिपुटं प्रमार्ष्टुम् ।
एतो[4] यतोऽभिमतवान् न जहाति सङ्गं,
सत्सङ्गतिर्मतिमता परिहीयते किम् ।।

समुद्र चिरकाल से चले आ रहे अपने कलंक—यह क्षार है, अपेय है—को धोने के लिये ही मानो यहां आया और इस नगर की सेवा में संलग्न हो गया । अब वह कभी भी इस नगर का संसर्ग छोड़ना नहीं चाहता । क्या मतिमान् पुरुष कभी सत्संगति को छोड़ना चाहता है ?

७. आदर्शकार्यकरणे कुशलः कलाभि-
स्तस्मात् पुरेण किमसौ सकलोपकृत्यै ।
संस्थापितो निजनिजप्रतिबिम्बमान-
सौन्दर्यमीक्षितुमुदारसुधारदृष्टया ।।

---

१. परापरग—पूर्व-पश्चिम ।
२. चञ्चुरं—निपुण ।
३. नीराजनम्—शस्त्रास्त्रपूजा ।
४. आ—समन्तात्, इतः—प्राप्तः—एतः ।

समुद्र एक आदर्श (शीशा) है। वह अपनी कलाओं के द्वारा आदर्श का काम करने में निपुण है। इसलिए यह तर्कणा होती है कि क्या नगर ने समस्त जनता के उपकार तथा उचित सुधार की दृष्टि से इसको यहां अवस्थित किया है, जिससे कि पुरुष इसमें गिरने वाले अपने-अपने प्रतिबिंबों के सौन्दर्य (अच्छाई या बुराई) को देख सकें।

८. शिल्पप्रकाण्डपरिकल्पितयत्सदाल्या-
मुद्यानमद्भुततमं निखिलर्तुरम्यम्।
पौलस्त्यपूर्भ्रमवशान्महिपीठिकाया-
मुत्तीर्णवल्लसति चैत्ररथं किमेतत्॥

प्रकांड शिल्प-शास्त्रियों द्वारा निर्मित उस सरोवर की पाल पर अत्यंत अद्भुत उपवन था। वह सभी ऋतुओं में मनोहारी था। ऐसा प्रतीत होता है, मानो उस उपवन की छटा को देखकर चैत्ररथ (कुबेर-वन) भ्रमवश राजनगर को ही पौलस्त्यपुर (देवनगर) मानकर भूमंडल पर अवतीर्ण हुआ हो।

९. यं गोमती हृदयवत्सलकारिणीव,
कल्लोलिनी कलकलध्वनिरुच्छ्वसन्ती।
मातेव मोहितमतिर्मधुरै रसोघै-
र्नानानदैः सह सदा परिपोषयन्ती॥

वहां 'गोमती' नामक नदी अनेक छोटे-बड़े नालों के मधुर पानी से परिपूर्ण होकर इस राजसमुद्र में आ मिलती है। वह नदी अपनी कल्लोलों के माध्यम से कल-कल ध्वनि करती हुई, माता की भांति हार्दिक वात्सल्य और ममता दिखाती हुई सदा उसको पुष्ट करती है।

१०. सा पार्वतीह सरिताऽमुमृषिं प्रबुद्धं,
संवीक्षितुं कुतुकिनी स्वयमेव किं वा।
तत्पोषणोपधिधिया मिलिता पुरैव,
नीराञ्चलान्तरकृताऽमितमीननेत्रा॥

यह वितर्कणा होती है कि क्या यह पार्वतीय नदी प्रबुद्धात्मा भिक्षु को देखने के लिए उत्कंठित होकर समुद्र-पोषण के बहाने पहले ही यहां आ गई और अपने जल के अंचल में रहने वाली असंख्य मीनरूपी नेत्र वाली बन गई? (उसने सोचा, दो नेत्रों से देखने में तृप्ति नहीं मिलेगी। अतः उसने मछलियों के मिष से अपने असंख्य नेत्र बना लिए।)

११. सेतौ परान्यदिशि राणकराजसिंह-
सम्बद्धसौधसुषमासहितोच्चशैलः ।
भागे परे श्रुतमहाढ्यदयालुसाधु-
निर्मापितं जिनगृहं नवखण्डमानम् ॥

समुद्र के पूर्व की ओर महाराणा राजसिंह के द्वारा निर्मित सुन्दर सौध की शोभा से सुशोभित उत्तुंग शैल खड़ा है और पश्चिम में प्रसिद्ध धन-कुबेर दयाल-शाह के द्वारा निर्मित नौ खण्ड वाले जिनालय से शोभित शैल-शिखर है। इस प्रकार दोनों ओर खड़े हुए दो शिखरों से समुद्र सुशोभित हो रहा था।

१२. सोपानतीर्थनवचारुचतुष्किकोच्च-
सौधप्रशस्तिपटुतोरणकीर्णकम्रः ।
रिक्तो भृतोऽपि निजसज्जनवत् सदैव,
यत्नोपकृद्यदिह राजसमुद्र एषः ॥

समुद्र की पाल पर बने सोपान सुन्दर घाट, नव चोकियां, राज-प्रासाद, प्रशस्ति और तोरणों से समुद्र की शोभा अत्यन्त निखर रही थी। पर सबसे अधिक विशेषता तो इस समुद्र की यह थी कि चाहे यह खाली हो या भरा, यह प्रत्येक अवस्था में निजी सज्जन पुरुष की भांति उपकारक ही रहा।

१३. अन्येऽपि मानससरोवरसन्निकाशाः,
पद्माकराः पुलकिताः परितोऽप्रमेयाः ।
नानाविहङ्गमरवेन रिरंसुकान्नू-
नाकारयन्त इव तत्र तरङ्गरङ्गाः ॥

इस नगर के चारों ओर मानसरोवर के सदृश जल से भरे-पूरे दूसरे अनेक सरोवर भी थे। वे क्रीडा के अभिलाषी व्यक्तियों को नानाविध विहंगमों के शब्दों के मिष से बुला रहे थे और उनके लिए तरंगों का रंगमंच भी तैयार कर रहे थे।

१४. श्रेणीभवल्ललितलक्ष्मण[1]लक्षलीला-
कूलानुकूलपरिकूजदुदारहंसैः ।
सौम्याः सुभिक्षशुभदूतिगणा इवाऽत्र,
नद्यो भ्रमन्ति जनजीवनजीवनीयाः[2] ॥

१. लक्ष्मणः सारस (सारसस्तु लक्ष्मणः स्यात्—अभि० ४।३९४)
२. जीवनीयः—जीवन के लिए हितकर।

यहां प्राणीमात्र के जीवन के लिए हितकर तथा सुभिक्ष के संदेश को स्थान-स्थान पर पहुंचाने के लिए ये नदियां संदेशवाहिकाएं बनकर चारों दिशाओं में घूम रही हैं। उनके तटों पर सहस्रों सारस और राजहंस श्रेणियां बना-बनाकर क्रीडा करते हुए कलरव कर रहे हैं।

१५. यत्रोन्नमन्मुदिरमेदुरवर्मिताङ्गा-
स्तेजस्तडित्ततिगृहीतनिशातशस्त्राः।
आखण्डलेन रिपुणेव भिदोत्थरोषाद्,
योद्धुं स्थिताः समुदिता गिरयः सयत्नाः॥

इन्द्र के द्वारा अपने पंख काट दिये जाने के कारण कुपित होते हुए मानो ये पर्वत झुकते हुए काले-काले चिकने बादलों का कवच पहन, विद्युत्-रूप तीक्ष्ण धार वाले शस्त्रों को धारण कर, अपने वैरी इन्द्र के साथ युद्ध करने के लिये ही मोर्चा लगा कर खड़े हैं।

१६. आनन्त्यगाम्यपि वियत् किमियत्तयैव,
कौतुहलाच्छ्रमकरा[1] इव तत्प्रमातुम्।
शैला नभस्तलभिदोऽभिदुरा भिदाभी,[2]
रुध्वा स्थिताः सुरपतेः पदवीं प्रगाढाः॥

जैसे एक कर्मकर (पटवारी) जमीन को मापता है वैसे ही यहां के नभस्तल को भेदने वाले अभेद्य पर्वत पृथक्-पृथक् रूप से आकाश को मापने के लिए उसे रोक बैठे और आश्चर्य व्यक्त किया कि क्या अनन्त आकाश इतना ही है! (दूसरे पक्ष में, पर्वतों ने आकाश को अपने शत्रु—इन्द्र के गमनागमन का मार्ग समझ उसको रोक कर उस पर अपना अधिकार जमा लिया।)

१७. सद्वाहिनीपरिवृता अमितस्मितास-
च्छत्राः झरत्सलिलनिर्झररोमगुच्छाः[3]।
स्वस्य स्फुटं क्षितिपतित्वमनिह्नुवाना,
यत्रोन्नता इव नगा नगरोपकण्ठे॥

---

१. श्रमकरः—कर्मकर(पटवारी)।

२. भिदा—दरार (विदरः स्फुटनं भिदा—अभि० ६।१२४)

३. रोमगुच्छः—चामर (चामरं बालव्यजनं रोमगुच्छः प्रकीर्णकम्—अभि० ३।३८१)

नगर के निकट अच्छे प्रवाह वाली नदियों से घिरे हुए, अगणित पुष्पित एवं फलित वृक्ष रूप छत्र को धारण करने वाले, झरते हुए निर्मल झरने रूप चामरों से युक्त वे उन्नत पर्वत अपने राजत्व को स्पष्ट रूप से प्रगट करते हैं।

१८. कुत्रापि नन्दननिकुञ्जवनानि यत्र,
कुत्रापि शाड्वल[1]विशालरसालमालाः।
क्वापीक्षुदण्डपरिमण्डनमण्डितानि,
क्षेत्राणि सर्वसमयानुफलोचितानि॥

कहीं-कहीं नन्दन वन के समान आह्लाद उत्पन्न करने वाले निकुञ्ज वन, कहीं हरे भरे आम्रवृक्षों की पंक्तियां, कहीं लहराते हुए गन्ने की घनी उपज वाले खेत— ऐसे सभी ऋतुओं के अनुकूल फल-फूल देने वाले बगीचे तथा धान्य आदि प्रदान करने वाले खेत हैं।

१९. तत्सागरैर्बहुविधैर्भुवनैर्वनैश्च,
माणिक्य[2]चत्वरचतुष्क[3]सभाप्रपौघैः।
नैपुण्यपुण्यपणिमापणपंक्तिपूगै-[4]
र्घण्टापथैः[5] प्रसृमरं पुटभेदनं[6] तत्॥

वह नगर निकटवर्ती पद्माकरों, नाना प्रकार की अट्टालिकाओं, बगीचों, लाल चोकों, चबूतरों, सभाओं, प्याउओं तथा निपुणता से न्याय पूर्वक व्यापार करने वाली दूकानों की पंक्ति-समूहों एवं राजमार्गों से व्याप्त था।

२०. उत्केशवंशजनरा[7] नरनाकिनन्द्याः,
तस्मिन् वसन्ति विलसन्ति रसन्ति रस्याः।
स्फीतिप्रतीतिनयनीतिपवित्ररीत्या,
व्यापारिणोऽपरिभवा विभवातिरेकाः॥

---

१. शाड्वलः— हराभरा।
२. माणिक्यं —लाल।
३. चतुष्कं —चौराहा।
४. पूगः—समूह।
५. घण्टापथः —राजमार्ग (घण्टापथः संसरणं श्रीपथो राजवर्त्म च—अभि० ४।५३)
६ पुटभेदनम् —नगर (पत्तनं पुटभेदनम्—अभि० ४।३७)
७. उत्केशवंशः—ओसवंशीय।

उस नगर में मनुष्यों और देवों से अभिनन्दनीय ओसवंशीय रसीले लोग निवास करते थे। वे बहुत ही सम्पन्न थे। वे वृद्धि (लेन-देन), विश्वास, न्याय, नीति एवं पवित्र रीति से व्यापार करते हुए सुख एवं समृद्धि से जीवन व्यतीत करते थे।

२१. प्राग् वाटवंशिपुरुषा अपि तत्र मान्याः,
श्रीदाः सदाश्रितधना धनदायमानाः।
नो किन्तु ते त्रिशिरसो न पिशाचवन्तो,
नो रुद्रसौहृदकरा न तथा कुबेराः॥

पूर्वकाल में वहां पोरवंशीय लोग भी मान्य थे। वे धनाढ्य, धन का वितरण करने वाले तथा धनद—कुबेर के सदृश थे। परंतु वे कुबेर की भांति त्रिशिरा—तीन शिर वाले, पिशाचवान् और रुद्रों से मित्रता करने वाले नहीं थे।

२२. जैना निजप्रतिपदा सुहृदा स्वकार्ये,
प्रायो रघुश्रमणशेखरसम्प्रदायाः।
केचित् त्वणुव्रतरता विरताः स्वरीत्या,
केचिद् विकाररहिताः सहिताः क्रियाभिः॥

वे अपनी प्रतिपत्ति (मान्यता) के अनुसार जैन थे और अपना-अपना कार्य करते हुए पारस्परिक सौहार्द से रहते थे। वे प्रायः आचार्य रघुनाथजी के संप्रदाय के अनुयायी थे। उनमें से कुछ अणुव्रती, कुछ अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार वैराग्यवान्, कुछ अन्यान्य विकारों—दोषों से वियुक्त और धार्मिक क्रियाओं से युक्त थे।

२३. तत्तन्नरेन्द्रनिगमान्तरवासिनस्ते,
प्राग्वाटवंशविशदाम्बरतारताराः।
नो केवलैहिकवसुप्रचये हि विज्ञा,
अध्यात्मरत्ननिचयेऽपि ततः प्रकृष्टाः॥

२४. श्रद्धालवो विकचबुद्धिविवेकपद्माः,
श्राद्धाः स्वयं हि सुहृदः पठितुं प्रवृत्ताः।
छात्राः परीक्षणदिनेषु यथा समुत्का,
यद्वैकलव्यवदुदारपराक्रमेण॥ (युग्मम्)

राजनगर वास्तव्य पौरवंशीय गगन के कई चमकते सितारे श्रावक केवल ऐहिक धन-संग्रह के कार्य में ही निपुण नहीं थे, किन्तु आध्यात्मिक रत्नसंग्रहण में भी बुद्धिमान् थे।

वे परीक्षा के दिनों में पढ़ने वाले विद्यार्थी की भांति विकासशील, बुद्धि और विवेक को धारण करने वाले श्रावक स्वयं सूत्रों का अध्ययन करने लगे और एकलव्य के समान अश्रान्त होते हुए अपने कार्य में अनवरत जुटे रहे।

२५. अग्राग्रसूत्रपठनाद्रसतो रसज्ञा,
वाचं च वाचमभितः परिवाचयन्ति ।
मित्राणि मित्रलिखितोत्तमलेखसम्भृत्,
पत्राणि सङ्गतिमितान्यऽसकृद् यथा हि ॥

ज्यों-ज्यों वे सूत्र पढ़ते जाते, त्यों-त्यों वे उन सूत्रों के सरस रस के रसिक होते हुए उन्हीं सूत्रों को बार-बार पढ़ते रहते, जैसे कि किसी अत्यन्त स्नेही मित्र के लिखे हुए सुन्दर (चिर प्रतीक्षित) आलेख पत्र को पाकर एक मित्र उसे बार-बार पढ़ता है।

२६. आकस्मिकागमविलोकनतो नितान्त-
मभ्यन्तरावरणमोक्षणमाशु जातम् ।
षट्खण्डमण्डलमहीपतिदण्डरत्नाद्,
वैताढ्यगह्वरकपाटविघाटनं वा ॥

ऐसे शास्त्रों का निरन्तर चिन्तन-मनन करते रहने के कारण उनकी अन्तरात्मा पर आया हुआ अज्ञान का आवरण वैसे ही दूर हो गया जैसे कि सार्वभौम चक्रवर्ती के दण्डरत्न से वैताढ्य गिरि की गुफाओं पर लगा हुआ कपाट का आवरण दूर होता है, कपाट खुल जाता है।

२७. तेषां तदैव वरमानसमन्दिरेषु,
तत्त्वावलोकलतिका प्रसरीसरीति ।
यत्काकिनीमणिविनिर्मितमण्डलैर्वा,
वैताढ्यपर्वतदरीषु विशिष्टवर्चः ॥

इस प्रकार निरंतर शास्त्राभ्यास करते रहने से उन्हें तत्त्व की प्रकाश-किरण प्राप्त हुई, जिसने उनके मानस-मंदिर को उसी प्रकार आलोकित कर दिया जैसे चक्रवर्ती के काकिनी मणीरत्न से निर्मित प्रकाश-मंडलों से वैताढ्य गिरि की तमिस्र गुफाएं आलोकित होती हैं।

२८. आलोचयन्ति चतुराश्चलिताशयास्ते,
तैः स्वीकृतात्मगुरुभिः स्खलितावदातैः ।
लङ्कापतेर्लघुतमानुजसज्जनाद्याः,
विन्ना विभीषणबृहत्सहजैर्यथैव ॥

वे मेधावी श्रावक प्राप्त तत्त्व के आलोक से अपने स्वीकृत गुरुओं के दोषपूर्ण कार्यों को देखकर वैसे ही विचलित एवं चिन्तामग्न हो गए जैसे राजा रावण की त्रुटियों को देखकर उनका छोटा भाई विभीषण और बड़े भाई तथा अन्य सज्जन पुरुष विचारमग्न हो गए थे।

२९. क्वाऽऽचारगोचरविधिर्व्रतिनां जिनेन्द्रैः,
सन्दर्शितः क्वचन ते गुरवोऽस्मदीयाः ।
क्वाऽहर्पतिद्युतिततिर्जगतां हिताय,
खद्योतपोतकिरणाः क्व च कर्मकुण्ठाः ॥

वे सोचने लगे—कहां तो तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित जैन मुनियों की आचार विधि और कहां हमारे गुरुओं की पालन विधि ! कहां तो समस्त विश्व के हितकारी सूर्य का आलोक और कहां जुगुनुओं की उपयोगशून्य चमक-दमक !

३०. शास्त्रैः प्रशास्तृपटुभिः सहजैरिदानीं,
चक्षुश्चतुष्टयमकारि विकारिणां नः ।
सत्यं किमस्ति किमसत्यमथो विचिन्त्य-
मेवंविधो जनगणे मधुरानुलापः ॥

इन सत्य-दर्शन शास्त्रों ने तो हमारे जैसे अज्ञानियों को भी ज्ञान देकर सहज रूप में चार आंखों वाले बना दिया है, अब हमें सत्य क्या है, असत्य क्या है, इसका निर्णय कर लेना चाहिए, ऐसी सुमधुर भावना का संचार उन श्रावकों में होने लगा।

३१. सूक्ष्मार्थशोधनविधौ न वयं समर्थाः,
स्थूलार्थसङ्ग्रहविधौ तु कथं न शक्ताः।
साक्षादनेकजिनशासनवैपरीत्या-
ऽऽचीर्णा विशीर्णचरिताः श्लथिता इमे च ॥

हम सूक्ष्म अर्थ का अन्वेषण करने में समर्थ नहीं हैं, किन्तु स्थूल अर्थ को जानने के लिए हम समर्थ क्यों नहीं हैं ? हमें यह साक्षात् प्रतीत हो रहा है कि ये मुनि जिनेन्द्र देव द्वारा निषिद्ध आचार में प्रवृत्त होकर अपने चारित्र को जीर्ण-शीर्ण कर श्लथ हो गए हैं।

३२. मस्तिष्कशक्तिसहिताः प्रविवेचयन्तो,
व्याचक्षते समुदिताः श्रमणा इमे नो।
क्व प्रोच्यतेऽन्तरकथा हृदयान्तरस्था,
संश्रावणाय समयोऽनुसमीक्षणीयः॥

गहराई से सोचकर, विचार-विमर्श कर सभी ने यह कहा—ये साधु साध्वाचार से युक्त नहीं हैं। हम अपने मन की अन्तर्व्यथा को कहां प्रगट करें ? उसे अभिव्यक्त करने के लिए हमें अनुकूल समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

३३. आस्तां यदाचरणचिन्तनताविचिन्ता,
सम्यक्त्वसत्कमपि नास्तिकतोदरस्थम्।
नाप्तोक्ततत्त्वतुलिताऽपि विचारधारा,
सारम्भडम्बरपरिग्रहगोचरत्वात्॥

इन साधुओं में साधुत्व की कल्पना तो दूर की बात है, पर सम्यक्त्व की भी कोई भित्ति नहीं है। इनकी विचारधारा भी आरम्भ, परिग्रह एवं आडम्बर से सनी हुई होने के कारण वीतराग तत्त्वानुगामिनी नहीं है।

३४. ते श्रीजिनागमरहस्यविदः प्रबुद्धाः,
खिन्नास्तदाचरणचिन्तनताऽस्थिरत्वात्।
आचारशून्यगुरवः परिवर्जनीयाः,
पारेच्छुकैः प्रवहणं स्फुटितं यथा हि॥

इस तरह तात्कालिक श्रमण संघ की आचार एवं श्रद्धा विषयक स्खलनाओं से खिन्न होकर वे जैनागमों के रहस्यवेत्ता श्रावक यह सोचने लगे कि भवसागर से पार जाने के इच्छुक व्यक्तियों को चाहिए कि वे आचार-विहीन साधुओं को वैसे ही छोड़ दें जैसे समुद्र का पार पाने के इच्छुक व्यक्ति टूटे-फूटे जहाज को छोड़ देते हैं।

३५. राजीं निरीक्ष्य रचयाम इहात्महस्त-
न्यासं तदा मिलति दारुणदीर्घगर्त्ता।
श्रेयान्न सङ्गम उदारधियाममीषां,
प्रेयानपि प्रथिमदुर्गतिदुर्गदर्शी॥

जहां हम थोड़ी-सी दरार समझ कर हाथ रखते हैं तो वहां पर हमें बड़े-बड़े गर्त्त मिलते हैं, अतः इन साधुओं का ऊपर से मीठा लगने वाला यह संसर्ग भी विशाल दुर्गति के दुर्ग को दिखाने वाला और अश्रेयस्कर ही होगा।

३६. नेमे सपिण्डपुरुषा न च बान्धवा नः,
सम्बन्धिनः सगरभाः सहजाः सखायः ।
नैषां तथा वयमपि श्रुतितः परन्तु,
स्वाचारतस्तदनुगास्तमृते किमेते ॥

इनका और हमार जो कुछ भी सम्बन्ध है, वह तो केवल शुद्ध आचार का ही है। अगर वह नहीं है, तो ये हमारे कुछ नहीं। और ऐसे न ये हमारे हैं और न हम इनके हैं। ये न हमारे पिंडपुरुष—पिंडदान करने वाले निकटतम संबंधी हैं, न बन्धु हैं, न संबंधी हैं, न सगे भाई हैं और न मित्र हैं।

३७. एतांच्छ्रितास्तरणतारणतागुणेन,
जन्मोदधेस्तरणतारणकामनाभिः ।
किन्तु स्वयं भवजले पतयालवोऽमी,
संनिःसृताः कथमितस्तरणाभिलाषा ॥

ये मुनि तरण-तारण के गुण से युक्त हैं—यह सोचकर हमने संसार-समुद्र से पार होने और पार उतारने के लिए ही इनका आश्रय लिया था, परंतु ये स्वयं संसार-समुद्र में डूबने वाले हैं, अतः इनसे पार होने की अभिलाषा कैसे की जा सकती है ?

३८. एतान् यदि प्रविदितान् कुगुरून्ममत्वाद्,
हास्याम एव न तदा न निजात्मलाभः ।
एतावतैव न तदीयजघन्यवृत्तेः,
प्रोत्साहिनस्त्वपरपाशनिपातिनोऽपि ॥

यदि इन आचार-शिथिल कुगुरुओं को जानते हुए भी हम ममत्व के कारण नहीं छोड़ पाये तो हमें आत्म-लाभ कुछ नहीं होगा। इतना ही नहीं, हम इनके शिथिलाचार के पोषक भी होंगे और अन्य भोले-भाले लोगों को इस जाल में फंसाने में सहायक बनेंगे।

३९. सम्पर्कसङ्गमनवन्दनसेवनार्चा,
सत्कारमानसहसंवसनादिकानि ।
पाषण्डिभिः कुगुरुभिः पतितैः कृतानि,
पाषण्डताविपरिबृंहणकारणानि ॥

शिथिलाचारी साधुओं का सम्पर्क, संगति, वन्दना, सेवा, अर्चना, सत्कार एवं सम्मान तथा सहवास—ये सारे कार्य शिथिलाचार को प्रोत्साहन देने वाले हैं।

४०. श्राद्धैस्तथाविधकृतिं परिलोक्य केचि-
दन्येऽपि तत्त्वविकलाश्च तथा पतेयुः ।
तत्पातनश्लथितवृत्तविवर्द्धने वा,
पुष्टावलम्बनमयाः खलु ते भवेयुः ॥

तत्त्वज्ञानी श्रावकों द्वारा शिथिलाचारी साधुओं की की जाने वाली सेवा-शुश्रूषा को देखकर तत्त्वज्ञानविकल लोग उसी जाल में फंसने लगेंगे। उनको उस जाल में फंसाने, शिथिलता को वृद्धिगत करने में वे तत्त्वज्ञानी श्रावक ही पुष्ट आलंबन बनते हैं।

४१. तस्माद् दृढान्यमुखदोषसमर्थिकाभि-
स्तद्वन्दनादिभिरलं त्विति शंसितुं तैः ।
श्रद्धालवोऽपि निविडा निविडानुभावाः,
कीदृग्विचाररमणाः परमार्थलक्ष्याः ॥

तथा शिथिलाचारी मुनियों को की जाने वाली वंदना आदि से अन्य मुख्य दोषों का भी समर्थन होता है, वे दोष बढ़ते हैं। इसीलिए भगवान् महावीर के आनन्द आदि श्रावकों ने शिथिलाचारी मुनियों को वंदना आदि न करने का निश्चय किया था। जो श्रावक दृढ और परिपक्व अनुभव वाले होते हैं वे ही सुविचार संपन्न एवं परमार्थदृष्टि वाले होते हैं।

४२. निन्दन्तु वा जगति नः परिकीर्त्तयन्तु,
लक्ष्मीः स्थिरा भवतु वाऽस्थिरतामुपैतु ।
प्राणाः प्रयान्तु यदि वा विलसन्तु सम्यक्,
सत्यात् कदापि चलिता न भवाम एव ॥

अतः संसार में चाहे हमारी निन्दा हो या स्तुति, लक्ष्मी स्थिर रहे या अस्थिर, प्राण जायें या रहें, पर जो सत्य मिला है, उससे परे हमें कभी भी नहीं होना है।

४३. यत्संनिधौ हि सुकृतं भवतीति नैवं,
रुष्टा अपि स्वकरणीं नहि नेतुमीशाः ।
तस्मादसङ्ख्यविरताविरता इवाऽत्र,
गेहे स्थिता हि सुकृतं रचितुं समर्थाः ॥

साधुओं की सन्निधि में ही धर्मध्यान होता है, ऐसी बात नहीं है। ये मुनि रुष्ट हो जायेंगे तो भले हों। ये हमारी कृतकरणी को विफल नहीं बना सकेंगे। साधुओं की अनुपस्थिति में भी द्वीपान्तरों में असंख्य तिर्यंच श्रावक हैं। हम भी घर में बैठकर धर्मध्यान करने में समर्थ हैं।

४४. श्रद्धाधनैर्भविजनैर्जिनराजराज्या,
सम्यक्त्वदूषणहरैः समशीलवृत्तैः ।
हेया कुसङ्गतिरियं भृतदोषपोषा,
संसर्गजा जगति दोषगुणा भवन्ति ॥

'संसर्ग से ही दोष और गुण होते हैं' नीतिकार की इस उक्ति को ध्यान में रखते हुए उन सम्यक्त्व के दूषणों का परिहार करने वाले भव्यजन श्रद्धालु श्रावकों ने राग-द्वेष से परे होकर शिष्टतापूर्वक पार्श्वस्थ—शिथिलाचारी साधुओं के सम्पर्क को दोष बढ़ाने वाला जानकर छोड़ने का निर्णय किया ।

४५. उत्सूत्रिण: स्वयमिमे कुपथं प्रविष्टा,
अस्मादृशान् किमुत तारयितार एते ।
घोरे वने प्रपतिता जनुषान्धपान्था:,
किं ते हि विस्मृतपथान् सुपथं नयेयुः ॥

ये मुनि स्वयं ही उत्सूत्र की प्ररूपणा करने वाले और उन्मार्गगामी हैं । ये हम जैसों का क्या उद्धार करेंगे ? क्या सघन वन-प्रदेश में प्रविष्ट जन्मान्ध व्यक्ति भूले भटके पथिकों को सही मार्ग दिखा सकते हैं ?

४६. येऽस्माभिरभ्युपगता गुरवो न हेया,
भ्रष्टव्रता अपि कदाऽपि यथा तथा वा ।
नेदृक्कदाग्रहपरैर्भवितव्यमेव,
सत्याग्रहैः सहृदयैः परिवर्त्तनीयम् ॥

हमने जिनको गुरुरूप में स्वीकार कर लिया, वे कैसे भी हों, चाहे वे व्रतों का पालन न भी करते हों, फिर भी उन्हें छोडना नहीं चाहिए । सत्यान्वेषक एवं विवेकी पुरुष को ऐसा दुराग्रह नहीं रखना चाहिए । गुरु को बदलने में नहीं हिचकना चाहिए ।

४७. लोकापवादहृतये हृदयेन हृद्यान्,
सांसर्गिकानुपगतान् परिपृच्छ्यमाना: ।
नो केऽपि सत्समवधानकरा अभूव-
न्नन्धानुकार्यकलया किमु हृन्निवेश: ॥

लोकापवाद से बचने के लिए सम्पर्क में आने वाले विद्वान् व्यक्तियों से वे मनोयोगपूर्वक विचारों का आदान-प्रदान करते रहते, परंतु अन्धानुकरण की प्रवृत्ति में रत रहने के कारण वे आगन्तुक विद्वान् न तो शंकाओं का समाधान ही कर पाते और न अपनी बात को हृदय में ही बिठा पाते ।

४८. दावानले ज्वलनतो विषपानतोऽपि,
स्वाचारहीनगुरुसेवनमुग्रमेवम् ।
आलोच्य तैस्तदनगारगुणच्युतेभ्य-
स्त्यक्तोऽपि वन्दनविधिः स्फुटमात्मशक्त्या ॥

विष की घूंट पीने और दावानल की आग में जलने से भी अधिक खतरनाक है—आचारहीन साधुओं की उपासना। ऐसा विचार कर श्रावकों ने उन साधनाहीन साधुओं को वन्दना करनी छोड़ दी। यह उपक्रम उनकी आत्मशक्ति का परिचायक था।

४९. दुःश्राव्यवाचिकमिदं मरुमण्डलस्थैः,
संश्रुत्य तै रघुवरैर्व्यथितैर्व्यचिन्ति ।
किं संप्रवृत्तमवितर्क्यमतीवचित्रं,
सञ्जीवितेऽपि मयि मर्मणि वेधकारि ॥

जब राजनगर के श्रावकों द्वारा संबंध-विच्छेद की मर्मवेधी, असंभावित और अतर्कित घटना का दुःखद समचार मरुधर में विचरते हुए आचार्य रघुनाथजी के कानों तक पहुंचा तो वे अत्यन्त खिन्न हुए। उन्होंने सोचा, आश्चर्य है कि ऐसी मर्मवेधी घटना मेरे जीवित रहते हुए भी घटित हो गई!

५०. एकैकबोधनमपि स्फिरदुष्करं तत्,
तद्यूथरूपगमनेन कथं न खेदः ।
श्राद्धा नवाः क्वचन किन्तु चिरन्तना ये,
तेऽपीत्थमेव ननु यान्ति परिक्षिपन्तः ॥

एक-एक श्रावक को प्रतिबोध देकर समझाना भी अत्यन्त कठिन है तो इस प्रकार श्रावकों का समूह रूप में वन्दन-विधि का परित्याग करना खेद का विषय कैसे नहीं हो सकता? जब ये पीढियों के पुराने श्रावक भी आक्षेपपूर्वक हमें छोडते जा रहे हैं तो नये श्रावकों के बनने की तो आशा ही क्या!

५१. कौलीन[1]मीदृगिह संस्फुटनं जघन्य-
मीदृग् जनप्रवदनं कदनं[2] सतां च ।
ईदृग् विसृत्वरगता खलु भावनापि,
किं विष्टपे न गुरुगौरवनाशनाय ॥

१. कौलीनं—जनप्रवाद (जनप्रवादः कौलीनं····—अभि० २।१८४)
२. कदनं—प्रतिघात (प्रमथनं कदनं निबर्हणम्—अभि० ३।३४)

महापुरुषों के लिए ऐसा जन-प्रवाद, संघ का टूटना, निंदा और प्रतिघात जघन्यतम होता है। इस प्रकार शिथिलाचार की भावना का फैलना भी क्या गुरु के गौरव का नाश करने वाली नहीं होती ?

५२. तस्मिन्नुपर्युपरिचिन्तनचित्रचित्तैः,
प्रत्यायिता निजमते प्रथमाः प्रसिद्धाः ।
सन्तः प्रकाण्डकृतिनो बहुवारमैक्ष्य,
सम्प्रेषितास्तदवबोधनबद्धकक्षाः ॥

राजनगरीय श्रावकों की इस उलझन में उलझे हुए आचार्य ने अनेक बार अपने गण के गणमान्य, ख्यातिप्राप्त, विश्वस्त एवं विद्वान् साधुओं को वहां भेजा जो उन श्रावकों को समझाने के लिए कटिबद्ध थे।

५३. ते सत्यसुन्दरशिशोर्गलघोटकाः स्व-
पक्षान्धकृत्यकरणाचरणाञ्चिचित्ताः ।
तर्कोन्नताः सुमधुरा अपि तत्स्वपाशे,
प्रक्षेपणाय सफला ननु केऽपि नासन् ॥

राजनगर भेजे गये साधु तर्क-निपुण एवं सुमधुर भाषी होते हुए भी पक्षपात की तमिस्र वृत्ति वाले एवं सत्य की भ्रूण हत्या करने वाले होने के कारण वास्तविकता से परे रहे। अतः वे उन ज्ञान-प्राप्त श्रावकों को अपने जाल में फंसाने में सफल नहीं हुए।

५४. द्वौ द्वौ मिथः प्रगुणितौ प्रभवन्ति नित्यं,
चत्वार एव गुणितेषु जनेषु तांस्तान् ।
त्रीन् पञ्च वा कथमपीह कथापयेच्चेद्,
ब्रूयुः शठान् प्रति विहाय मनीषिणः के ॥

दो को दो से गुणन करने पर चार ही होते हैं। पर यदि कोई तीन या पांच कहलाना चाहे तो मूर्ख या पक्षपात के दुराग्रह में फंसे हुए व्यक्ति के अतिरिक्त कौन समझदार व्यक्ति ऐसा कह सकता है ?

५५. मिथ्योत्तरैरतरलं तरलायमानं,
जाजायते न सुमनः सुमनः कदाऽपि ।
तस्मात् स्थितानऽवितथानुपलक्ष्य केचित्,
तत्पक्षगा जितजिता इति घोषयन्ति ॥

आगन्तुक मुनियों के मिथ्या उत्तरों से उन सत्यग्राही श्रावकों का मन डावांडोल नहीं हुआ। इसलिए उनको अपने विचारों में स्थिर देखकर गुरु-पक्षधर श्रावकों ने यह घोषणा कर दी कि हमारे मुनि जीत गए, जीत गए।

५६. निर्यौक्तिकं किमपि ते प्रतिजल्पयेयु-
स्तत्तथ्यतथ्यमिति सम्प्रवदन्ति केचित्।
ब्रूयुः सयौक्तिकमितश्च तथापि मिथ्या-
मिथ्येति संकुलवचोभिरुदीरयन्ति ॥

कुछ अंधभक्त श्रावक उन अन्य श्रावकों की युक्तिसंगत बात को भी 'मिथ्या है, मिथ्या है'—ऐसा कहकर तथा अपने मुनियों की असंगत बात को भी 'तथ्यपूर्ण है, तथ्यपूर्ण है'—ऐसा कहकर कोलाहल करने लगे।

५७. एतेऽधिकाः कुत इता गुरुतोऽपि यस्मात्,
पृच्छन्ति देशविरता अपि तर्कयन्ति।
श्रद्धाधनेन निधना विधिना विधूता,
निर्भर्त्सयन्ति बहु केचन तर्जयन्ति ॥

कुछ लोग कहने लगे—क्या ये गुरुओं से भी आगे बढ़े हुए हैं जो श्रावक होते हुए भी ऐसे तर्क-वितर्क करते हैं? कुछ कहते—ये तो श्रद्धा-धन से दरिद्र हो चुके हैं, ये भाग्य से आहत हो गए हैं। इस प्रकार बहुत सारे लोग उन श्रावकों की भर्त्सना करने लगे और कुछ लोग उनकी तर्जना करने लगे।

५८. एते समाजशिखराः प्रखराः पुराणाः,
स्तम्भप्रभाः कुशलकर्मठकार्यकाराः।
एतेषु संघविवधो[1] विवधोपयोगा,
एते दृढाः परिवृढाः[2] परिपक्वपक्वाः ॥

इस प्रकार करने वाले वे श्रावक आचार्य के द्वारा इन शब्दों में प्रशंसा पाने लगे—ये समाज के अग्रणी, प्रखर और पीढियों के श्रावक हैं। ये आधार-स्तंभ सदृश तथा कर्मठ कार्यकर्त्ता हैं। संघ का भार इन्हीं पर है। ये अन्यान्य भार के लिए उपयोगी तथा पके-पकाए दृढ नेता है।

---

१. विवधः—भार (भारे विवधवीवधौ—अभि० ३।२८)
२. परिवृढः—नेता (नेता परिवृढोऽधिभूः—अभि० ३।२२)

५९. अग्रेसरान् प्रमुखकार्यपदाभिषिक्तान्,
साक्षात्प्रभावविवशान् परतः स्वतो वा ।
कांश्चित्कथं कथमपि स्वमतानुकूल-
चारान् प्रचारकपदान् प्रणयन्ति तन्त्रैः ।।

कुछ श्रावकों को प्रमुख कार्यकर्ता एवं अग्रेसर बनाकर, कुछ श्रावकों को अपने व्यक्तिगत प्रभाव से, कुछेक को माता, पिता, सगे-सम्बन्धियों के दबाव से तथा कुछेक व्यक्तियों को ज्यों-त्यों अपने अनुकूल आचरण वाले बनाकर अपनी रीति-नीति का प्रचार करने वाले प्रचारक बना दिया ।

६०. एवं क्षतव्रतगणा अपि तान् गृहस्थान्,
वर्द्धाप्य वल्गु निजहस्तयितुं यतन्ते ।
फुल्लास्ततोऽमततदिङ्गिततानुसारि-
कोलाहलं कलयितुं प्रणवाश्च तेऽपि ।।

इस प्रकार उन शिथिल साधुओं ने उन भोले-भाले श्रावकों को बढ़ावा दे-देकर अपना बनाने का प्रयत्न किया । वे श्रावक उन साधुओं को चाहते हों या नहीं, पर उनकी बातों से फूलकर उनके इंगित के अनुसार यत्र-तत्र कोलाहल करने में निपुण हो गए ।

६१. सत्यास्ततोऽथ परिलोच्य विचिन्तयन्ति,
कीदृक् समानयुगली मिलिताऽनयोश्च ।
ये यादृशा श्लथतरा गुरवः सगर्वाः,
श्राद्धा इमे पि च तथा शिथिलत्वपोषाः ।।

उन सत्यप्रेमी श्रावकों ने पर्यालोचन कर चिन्तन किया कि कैसी समान जोडी मिली है, इन दोनों की । जैसे श्लथ गुरु हैं, वैसे ही शिथिलता के पोषक ये श्रावक हैं, जो अपने आप में गर्व का अनुभव करते हैं ।

६२. केचिद् गतानुगतिकाः सरलस्वभावाः,
दृष्ट्यातिचारुचतुरा अपि नो वदन्ति ।
द्वेषो न राग इति केऽपि समानभावाः,
कल्पापकल्पकरणाकरणे समानाः ।।

कुछ सरल स्वभावी एवं गतानुगतिक थे । कुछ बहुत अनुभवी होते हुए भी मौनावलम्बी एवं राग-द्वेष से परे होकर उपेक्षा दृष्टि वाले थे, और कुछ कल्प या अकल्प कुछ भी सेवन करे, हमें इससे कुछ भी लेना-देना नहीं, ऐसी भावना वाले भी थे ।

६३. जानन्त एव ननु केऽपि तथापि तैस्तैः,
संवर्द्धिता निजमहत्वयशोर्थकामाः ।
अन्धान्धिलानुकरणे करणैः प्रसक्ताः,
व्यक्तित्ववर्द्धनपराश्चटुताप्रचाराः ॥

जानते हुए भी कई व्यक्तियों को बड़प्पन की भूख, साधु-प्रदत्त सम्मान, व्यक्तित्व की छाप, जनप्रिय बनने की लालसा आदि-आदि प्रलोभनों में पड़ने के कारण मिथ्या विचारों का समर्थन करना पड़ा और उसमें अपने मन, वचन व काया को लगाना पड़ा ।

६४. एतादृशो हि सचिवाः सुदृशां विचारान्,
श्रोतुं विधातुमपि नो ददते कदाऽपि ।
बेडां प्रबोड्य विरता भवितार एते,
धिग् धिग् तथाविधजनान् चटुचाटुकारान् ॥

जहां ऐसे चापलूस एवं स्वार्थपरायण व्यक्तियों का बोलबोला हो, वहां सज्जन पुरुषों के सद्विचारों का श्रवण और आचरण में आने की बात ही क्या ! आखिर ऐसे व्यक्ति नाव को डुबोकर एक ओर खिसक जाते हैं । ऐसे चापलूस व्यक्तियों को धिक्कार है ।

६५. सच्छ्राद्धयोः समधिगम्य मिथस्तदा तत्,
प्रश्नोत्तराणि पुरमेकमपि द्विधासीत् ।
किञ्चित् प्रशंसति जनान् स्वसतोऽपि किञ्चित्,
स्तोका ऋता जगति शाश्वतिकी प्रवृत्तिः ॥

साधु और श्रावकों के बीच होने वाले इन प्रश्नोत्तरों ने राजगनगर की जनता को दो भागों में विभक्त कर दिया । कुछ सत्यान्वेषक श्रावकों के समर्थक और कुछ साधुओं के समर्थक बन गए । जगत् में सत्यग्राही लोग थोडे ही होते हैं, यह शाश्वतिकी स्थिति है ।

६६. केचिद् यथार्थविदुरा अपि किन्तु भीताः,
सामाजिकक्शिमदुर्व्यवहाररीत्या ।
केचिद् भविष्यदवलोचनलोचनाश्च,
केचित्प्रपञ्चमवगम्य तटस्थभूताः ॥

कुछ यथार्थवेत्ता होते हुए भी समाज के कुत्सित व्यवहार से भयभीत होते हुए, कुछ भविष्य में इसका परिणाम क्या होगा ऐसा सोचते हुए और कुछ इस प्रपंच से दूर रहते हुए तटस्थ रहने में ही लाभ समझते थे ।

६७. कुर्वन्ति यत् किमपि नो गुरवोऽभ्युपेता-
स्तत् सर्वमेव सुषमाञ्चितमभ्युपेयम् ।
तथ्येषु तथ्यमुररीकरणीयमस्मा-
दृक्षैरणुव्रतिजनैर्न च शङ्कनीयम् ॥

कुछ सोचते, हमारे द्वारा अभिमत गुरु जो कुछ करते हैं, उसे उचित मानकर स्वीकार कर लेना चाहिए। हम जैसे अणुव्रती श्रावक उसे तथ्यपूर्ण मानकर उसमें ननुनच और शंका नहीं करनी चाहिए।

६८. सम्यक्त्वभूषणगुणेषु जिनैरजल्पि,
निःशङ्कता हि परमोच्चगुणः प्रगुण्यः ।
तत्तेषु संशयपराः प्रकृतेः परस्तान्,
मस्तिष्कशक्तिशटिताः प्रशठा नटा वा ॥

भगवान् ने भी निःशंक रहने को सम्यक्त्व का एक परम उच्च गुण माना है, अतः जो संशयशील होता है वह अपने पागलपन, मस्तिष्क की खरावी, मूढता एवं अभिनय को ही प्रगट करता है।

६९. अन्येऽपि केऽपि च कुतोऽपि च यत्र तत्र,
स्वाचार्यदूषणनिरीक्षणलक्षणा ये ।
तेऽपि प्रकुण्ठितधियो हि तथाविधाश्च,
संसारसागरनिमज्जनमेषमाणाः ॥

कुछ व्यक्ति कहते—'जो कोई कहीं, जहां-तहां अपने आचार्य के दूषणों को देखते रहते हैं, उनकी तो बुद्धि ही भ्रष्ट हो गई है। वैसे मनुष्य संसार सागर में डूबने के मार्ग की गवेषणा करते हैं।

७०. एषां विदन्ति विदुराः स्वयमेत एव,
नैतत्प्रपञ्चपतनं गृहिणां शुभाय ।
अस्मादृशैर्भगवतामभिवन्दनीयो,
वेषो हि किं तदितराश्रवदृष्टिपातैः ॥

इन साधुओं की ये साधु स्वयं जानें। हम गृहस्थों को तो इनके प्रपञ्च में पड़ना अच्छा नहीं है। हमारे लिए तो साधुवेश वन्दनीय है। दूसरे दोषों को देखने से हमें क्या प्रयोजन ?

७१. प्रत्यूचिरे तदनुतांस्तरसा तदानी-
मालोचलोचनविचक्षणलक्षणास्ते ।
नैवं कदापि भवितुं भुवनेषु शक्यो,
यत् स्वीकृतोऽपि कुगुरुर्न विवेचनीयः ॥

उन लोगों की बातों को सुनकर वे चिन्तनशील और विवेकी श्रावक बोले—'संसार में यह कभी मान्य नहीं है कि स्वीकृत गुरु यदि कुगुरु हैं तो उन्हें नहीं छोडना चाहिए।'

७२. जातिप्रथा न कुलवंशपरम्परैषा,
नो गात्रपात्रकृतशङ्कुमुखाकृतिश्च।
यद्धीयते न कथमेव कृतेऽपि यत्ने,
किन्त्वेष मोक्षनिगमः कुगुरुर्न सेव्यः॥

यह न जातिप्रथा ही है और न कुल और वंश की परंपरा ही है, तथा यह न पशुओं के शरीर को दाग कर बनाया गया चिह्न ही है कि प्रयत्न करने पर भी न मिटे। मोक्षमार्ग का कथन है कि कुगुरु सेव्य नहीं होते।

७३. स्पष्टेषु दोषनिकरेषु निरीक्षितेषु,
प्रेक्षावतां प्रकृतितो भवति प्रमर्शः।
सन्देहनं न तदिदं तदपोहनं च,
नो दूषणं भवति किन्तु विभूषणं तत्॥

विचारशील व्यक्तियों की यह स्वाभाविक प्रकृति है कि वे स्पष्ट रूप से दीखने वाले दोषों का विचार-विमर्श करें। यह संदेह नहीं, किन्तु संदेह का अपनयन है। उनकी ऐसी प्रकृति दूषण नहीं, भूषण है।

७४. अक्ष्णोर्निमीलनमथो[1] विदितेषु तेषु,
तत्त्वसत्त्वहतमानवमुख्यमौर्ख्यम्।
यत् तत्तदात्मपतनं मथनं गुणानां,
कर्त्तव्यताच्यवनमुद्गमनापनाशः॥

दोषों को देखते हुए भी उनसे आंखें मूंद लेना तो तत्त्वज्ञान से विकल एवं सत्त्वहीन व्यक्ति की वज्रमूर्खता है। यह उसके आत्मा का अधःपतन, गुणों का हनन, कर्त्तव्य-विमुखता और उन्नति के प्रशस्त पथ का अवरोधक है।

७५. कस्यापि भूरिचलनं हि न तन्महत्वं,
स्याच्चेत्तदा व्यसनमत्र महत्त्वशालि।
द्वित्रा हि तैर्विरहिताः किल सार्वभौमै-
स्तत्त्वैस्तके किमु भवेयुरहोऽतितुच्छाः॥

१. अथो इति अव्ययम्—संशये, आनन्तर्ये, विकल्पे—इत्याद्यर्थेषु।

किसी वस्तु का अधिक प्रचलन ही उस वस्तु के महत्त्व का सूचक नहीं है। यदि उसी को महत्त्व का सूचक माना जाए तो व्यसनी महत्त्वशाली माने जायेंगे क्योंकि वे अधिक संख्यक हैं तथा व्यसनमुक्त जो दो-चार हैं, अत्यल्प संख्या में हैं, उनका महत्त्व नहीं होगा।

७६. शुष्कं सरस्तदपि मे त्विति संविभाव्य,
कस्तन्मृदं मृदुतरामपि संस्वदेत।
को वात्मसंभवगदं विगदं न कुर्यात्,
को वा निपीतगरलं निरलं[1] न जह्यात्॥

पानी न होने पर भी 'तालाब मेरा है'—ऐसा मानकर कौन चतुर व्यक्ति उसकी मृदु गीली मिट्टी खायेगा? कौन अपने शरीर में पैदा होने वाले रोग को अपना मानकर दूर नहीं करेगा और कौन अज्ञात दशा में पीये हुए गरल का ज्ञान होने पर उससे छुटकारा नहीं पाएगा? (वैसे ही सद्गुरु के भ्रम से स्वीकृत कुगुरु को कौन चतुर आदमी नहीं छोड़ेगा?)

७७. शङ्कावतां समवधानविधां विनैव,
येषां शिरोविकृतमित्यपि भाषणं तत्।
मिथ्याङ्करोपणमतोऽत्र परत्र ते हि,
तद्वत् कलङ्ककलिता भवितुं यतन्ते॥

शंकाओं का समाधान किए बिना ही जो व्यक्ति शंकाशील व्यक्तियों पर 'इनका मस्तिष्क अस्त-व्यस्त है,' ऐसा मिथ्या कलंक लगाते हैं, वे भविष्य में स्वयं वैसे कलंक से कलंकित होने का प्रयत्न करते हैं।

७८. पर्याप्तमेतदनगारप्रपञ्चपातै-
रेवं प्रलापि मनुजाः प्रतिपत्परास्ताः[2]।
न क्षेमयोगकरणे प्रभविष्णवस्ते,
लोकद्वयेऽपि परिहासपदं प्रविष्टाः॥

'साधुओं के प्रपंच में न पड़ना ही श्रेयस्कर है,' ऐसा कहने वाले लोग बुद्धिशून्य, योगक्षेम करने में असमर्थ और उभयलोक में परिहास के पात्र बनते हैं।

---

१. निरलम्—अज्ञात दशा में।
२. प्रतिपत्—बुद्धि।

७९. तेषां त एव विविदुस्त्विति वावदूकैः,
संवेदनीयमिदमात्मिकशुद्धबोधैः ।
आत्मीकृताः कथमिमे कथमिज्यमाना,
निर्मीयते किमुत बालिशताविलासः ।।

'साधुओं की साधु जानें'—ऐसा कहने वाले अपने शुद्ध आत्म-संवेदनाओं के आधार पर सोचें कि उन्होंने इन गुरुओं को कैसे स्वीकार किया और क्यों ये उनके द्वारा पूजे जाते हैं ? ऐसा न सोचना मूर्खता है ।

८०. वेषोऽभिवन्द्यविषयोऽविषयार्थिनां चे-
दाकल्पकल्पितविदूषकसन्नपीज्यः ।
नीरागयागपरभागविभागभग्नं,
नेपथ्यमिज्यमहिमानमुपैति नैव ।।

मोक्षार्थियों के लिए सिर्फ वेष ही अभिवन्द्य हो तब तो वेष बनाकर आया हुआ बहुरूपिया (विदूषक) भी वन्दनीय होना चाहिए, पर तीर्थंकरों के तीर्थ चतुष्टय में गुणशून्य वेष पूजार्ह नहीं होता ।

८१. एतान् प्रसादयितुमात्महितं निहत्य,
मिथ्यात्वसेवनमिदं मतिमान् क एता ।
को भस्मसात् स्वभवनं प्रकरोति लोक-
कीर्त्यै विना जगति मूर्खशिरोवतंसम् ।।

मूर्ख शिरोमणी के अतिरिक्त कौन व्यक्ति ऐसा होगा जो अपने घर को जलाकर, राख कर, संसार में कीर्ति प्राप्त करना चाहेगा ? वैसे ही अपने साधुओं को प्रसन्न रखने के लिए कौन बुद्धिमान् व्यक्ति अपने आत्महित का हनन कर मिथ्यात्व का सेवन करेगा ?

८२. इत्थं दृढान्तरहृदां सुहृदां वरैस्तै-
र्मूकीकृता ऋतनयोत्तरतारतम्यैः ।
अन्तर्विविक्षव इवाऽभिविडाब्वपोषा,
क्षोणीं खनन्त उदरम्भरयोऽभवंस्ते ।।

उन सत्यनिष्ठ श्रावकों के सत्य एवं न्यायपूर्ण उत्तरों से निरुत्तर हो, वे शिथिलाचार के पोषक उदरंभरी श्रावक पैरों से जमीन कुरेदने लगे, मानो कि वे लज्जा से भूमिगत हो जाना चाहते हों ।

८३. तद्द्वेषभाग्भिरभिभूतिविभूतिभूतै-
नैंजानुगाः कुलपरम्परनामजैमाः ।
व्युद्ग्राहिता त इह तान् ग्रसितुं प्रणुन्नाः,
प्रोत्साहिता ननु सुरोचनवन्नियुक्ताः ।।

अब साधुओं ने इन श्रावकों की इस पराभूति से खिन्न हो कुलपरम्परा के अपने अनुयायी श्रावकों को उन सत्यनिष्ठ श्रावकों के विरुद्ध भड़काया और उन्हें दुःख देने की प्रेरणा दी, जैसे कि पाण्डवों के विपक्ष में दुर्योधन ने सुरोचन को ।

८४. तेऽपि प्रभाविरहिता रहिता विवेकैः,
क्लिश्यन्ति तानुपहसन्ति तुदन्त्यऽतन्ति ।
निन्दन्ति संपिशुनयन्ति विनाशयन्ति,
व्यर्थं द्विषन्ति विवशा बहु भीषयन्ति ।।

वे विवेकशून्य और निष्प्रभ श्रावक भी इस प्रकार प्रेरित होकर उन श्रावकों को क्लेश पहुंचाने लगे, उनका उपहास करने लगे, उनको कष्ट देने लगे, उनको इधर-उधर करने लगे, उनकी निन्दा और चुगली करने लगे। वे व्यर्थ ही द्वेष करते हुए उनके विनाश के लिए प्रयत्न करते थे और उन्हें विवश जानकर नाना प्रकार से डराते-धमकाते थे ।

८५. सम्बन्धसन्धिपरिभेदभिदेलिमाः स्व-
जातेस्तिरस्कृतिकृतेऽपि न पृष्ठगाः स्युः ।
दुर्वारवारसमये ऋणमार्गणाद्यैः,
संक्लेशितुं निकषितुं न हि तेऽवशेषाः ।।

वे पक्षान्ध श्रावक इतने आगे बढ़ गये कि आर्थिक संकट उत्पन्न होने पर दिये हुए ऋण को मांगना, किये हुए वैवाहिक संबंधों को तोड़ना आदि से उनको संक्लेश पहुंचाने, उनकी कसौटी करने तथा जाति-बहिष्कार करने पर भी उतारू हो गए ।

८६. तैः पत्रलै[1]र्नवनवाभिरुदीरणाभि-
र्व्युद्ग्राह्य तत्परवशा विवशा विधाय ।
ताभिः प्रकारितमहाकलहोत्प्लवाद्यै-
रस्पर्शिता न निहिता पुरुषार्थिनोऽपि ।।

---

१. पत्रलं—शिथिल, ढीला (द्रप्सं पत्रलमित्यपि—अभि० ३।७०)

उन शिथिल साधुओं ने इन श्रावकों को विवश करने के लिए नाना प्रकार के मार्ग अपनाये पर सफल नहीं हुए, तब उनकी स्त्रियों को बहका कर, अपने पक्ष में कर, घर में क्लेश पैदा कर दिया और इस प्रकार पारिवारिक क्लेश से भी उन पुरुषार्थी श्रावकों को अछूता नहीं छोड़ा।

८७. यद्यन्मिथो विनिमयस्थगनप्रकारैः,
कां कां न दुर्व्यवहृतिं प्रतिधित्सवस्ते।
तां तां त एव सुविदन्ति परन्तु लब्ध-
धर्माध्वनि स्थिरतराः सुतरामवात्सुः॥

जीवन व्यवहार की आवश्यक वस्तुओं के आदान-प्रदान में भी रुकावटें डालकर ज्यों-त्यों कर उन्हें उनके मार्ग से विचलित करने की चेष्टाएं की गईं। अपनी साध्यसिद्धि के लिए और क्या क्या दुर्व्यवहार किये गये यह तो वे ही जान सकते हैं, पर सत्पथ को उपलब्ध वे श्रावक अपने मार्ग पर और अधिक अटल हो गए।

८८. पार्श्वस्थवन्दनमुचोऽथ विचिन्तयन्ति,
ये त्वागताः श्लथतमाः श्लथतां प्रचेतुम्।
चेष्टन्त एव यतयस्तदुपासकास्तान्,
साहाय्ययन्ति तदितः किमु नः शुभाशा॥

पार्श्वस्थ मुनियों की वन्दना छोड़ने वाले उन सत्यानुयायी श्रावकों ने सोचा, जो मुनि यहां आए हैं, वे शिथिलतम हैं और अपनी शिथिलता को ढांकने का प्रयत्न कर ही रहे हैं। उनके उपासक उनकी इस प्रवृत्ति में सहयोग दे रहे हैं। ऐसी स्थिति में हमारे कल्याण की क्या आशा की जा सकती है?

८९. ये शिक्षका अपि च शिक्षकतां विहाय,
प्रान्तोत्पथे प्रथयितुं प्रयतन्त इत्थम्।
किं संस्क्रियेत सकलान् सदृशीप्रकृत्य,
लुण्टाकतां यदि सरन्ति सदा शरण्याः॥

यदि शिक्षक अपने शिक्षकपन को छड़कर उन्मार्ग में ले जाने वाले हो जाएं और सबको अपने जैसा बना कर संस्कारित कर दें तो उनसे क्या लाभ हो सकता है? यदि डाकुओं का निग्रह करने के लिए जाने वाले स्वयं डाकू बन जाएं तो फिर शरण देने वाला कौन होगा?

९०. अद्यैव किं कलियुगं कलयेत् स्वकेलीं,
नन्दन्ति यत्र पतिताः श्लथिता द्विजिह्वाः ।
आदर्शनीतिवृषशीर्षकनामपृष्ठे,
पापप्रजा फलति पुष्पति फुल्लतीति ॥

आज यहां पतित, श्लथ और दुष्ट व्यक्ति आनन्दित हो रहे हैं। आदर्श, नीति और धार्मिक अनुष्ठानों की ओट में पापी दुनिया फलित, पुष्पित और विकस्वर हो रही है। प्रतीत होता है कि कलियुग अभी से यहां क्रीडारत हो गया है।

९१. एते हि निन्दकवरा इति लाञ्छयित्वा-
ऽस्मत्तो परान् पटुतया विनिवारयन्ति ।
श्रोतव्यमेव न यदुक्तमयुक्तमेवं,
व्युद्ग्राहयन्ति निजपोल्लविमुक्तिभीभिः ॥

वे अपनी पोल खुल जाने के भय से ही पटुता के साथ लोगों को यह कह कर हमारे से दूर रखने लगे हैं कि ये निन्दक हैं, इनका कहना अनुचित है, इनकी बात सुननी ही नहीं चाहिए। इस प्रकार वे अपने बचाव के लिए लोगों को सचाई से दूर रखने लगे हैं।

९२. आ एक एव पुनरस्त्यवशेषशेषो,
यस्य प्रवृत्तिरमला प्रबला विरक्तौ ।
दैवात् स भिक्षुरिह भो ! उदयात्तदानीं,
वाष्पं विमुञ्चयितुमुत्प्रवणा भवामः ॥

उन श्रावकों ने आगन्तुक मुनियों की इस एक जैसी प्रवृत्ति को देख निराश होकर सोचा, अब तो सिर्फ एक मुनि भिक्षु ही ऐसे रहे हैं जो विरक्ति के मार्ग में अत्यन्त निर्मल और प्रबल हैं। अगर वे हमारे भाग्योदय से यहां पर आ जाएं तो कम से कम मन की भाप तो उनके सामने निकाल ही लें।

९३. तत्राश्रुतः श्रवणशष्कुलिकीलकल्पो,
राट्पूरुदन्त उदितो रघुराजकेन ।
श्रद्धालवो न नमिताः शमिताः स्वशिष्यैः,
साधीयसी स्थितिरिहान्यतराऽपि नास्ति ॥

जब रघुनाथजी ने राजनगरीय श्रावकों की इस कर्णकटु घटना को सुना तो उन्हें मालूम हुआ कि न तो वहां के श्रावकों ने वन्दना ही शुरू की, न शिष्य मुनियों ने उनको समाहित किया और न वहां दूसरी परिस्थितियां भी अनुकूल रहीं।

९४. पश्चात्ततोऽतिचतुरं चतुरन्तकारं,
विश्वासपात्रमतिमात्रसुपात्रमात्रम् ।
आत्मीयमन्त्यमनगारगुणाग्रगण्यं,
भिक्षुं स्वशिष्यमुकुटं प्रकटं बभाषे ॥

तब आचार्य रघुनाथजी ने अति चतुर, वीतरागकल्प, अपने शिष्यों में मुकुटोपम, अनगार के गुणों में अग्रणी, पूर्ण सुपात्र एवं विश्वस्त मुनि भिक्षु को बुलाकर स्पष्ट रूप में कहा —

९५. त्वं याहि भूपतिपुरं त्वरितं ततस्त्यां-
स्तांश्छ्रावकान् परिहृतप्रणतीन् पटीयः!
सम्बोध्य साम[1]चरणाच्चरणेऽस्मदीये,
संयोजयेः समुपयोज्य पुनः प्रयुक्तिम् ॥

'हे निपुण मुने ! तुम शीघ्र राजनगर की ओर प्रस्थान करो और वंदन-व्यवहार न करने वाले वहां के श्रावकों को समझाकर, मधुर भाषा में सान्त्वना देकर, नाना युक्तियों से प्रतिबोध देकर, गुरु-चरणों में पुनः वन्दना करने लगे, वैसे उनको संयोजित करो ।'

९६. एवं प्रशास्य प्रहितो मुनिपञ्चकेन,
तेषामिमानि विदितान्यभिधानकानि ।
द्वौ भारिमालवरटोकरजीतिसञ्ज्ञौ,
द्वौ वीरभाणहरनाथसुनामधेयौ ॥

इस प्रकार आदेश देकर आचार्य रघुनाथजी ने मुनि भिक्षु को इन चार मुनियों के साथ राजनगर भेजा । वे मुनि ये हैं—१. मुनि भारिमालजी, २. मुनि टोकरजी, ३. मुनि वीरभाणजी, ४. मुनि हरनाथजी ।[2]

९७. सोऽपि स्वयं स्वगुरुमोहविमोहितात्मा,
गुर्विङ्गिताश्रितगतिर्मतिमान् महीयान् ।
तल्लक्ष्यसिद्धिकरणे करणत्रिकेण,
सत्त्वैकसिद्धिसहितः सुहितश्चचाल ॥

मुनि भिक्षु का अपने गुरु के प्रति अत्यन्त मोह था । वे इंगिताकार संपन्न, बौद्धिक संपदा से युक्त और महान् थे । वे गुरु के अभीष्ट कार्य को सिद्ध करने के लिए तीन करण, तीन योग से संकल्पित और सुसमाहित होकर वहां से प्रस्थित हुए ।

---

१. साम—मधुर भाषा से शांत करना, सान्त्वना देना (साम सान्त्वना—अभि० ३।४००) ।

२. ये चारों मुनि भिक्षु द्वारा दीक्षित थे ।

९८. आत्मप्रबोधसविरोधनिरोधनिष्णा[1],
माङ्गल्यमग्नसमविघ्ननिघातनिघ्ना:[2] ।
प्रारम्भतो ललितलाक्षणिकैरलक्ष्या,
इष्टा बभूवुरखिलाः शकुनास्तदानीम् ।।

आत्म-जागरण के विरोधी कारणों का निरोध करने में दक्ष, समस्त विघ्नों पर प्रहार करने के लिए आज्ञाकारी, अत्यन्त मांगलिक, शुभ शकुन हुए जो कि प्रारम्भ में शकुन-शास्त्रविशारदों से अविदित होते हुए भी मूकरूप में भावी सफलता की ओर संकेत कर रहे थे ।

९९. गन्धद्विपेन्द्रगमनः कमनक्रमकृ[3]-
दैशानवाहनसमानमनोज्ञदृष्टिः ।
अध्येतुमाशु सहजान्वितशल्यशत्रु-,
गंच्छन्निवाऽखिलजनैरवतर्क्यते स्म ।।

वे गंधहस्ती की गति से गमनशील, ब्रह्मचर्य की शक्ति से युक्त, ईशानेन्द्र के वाहन के समान मनोज्ञदृष्टि वाले मुनि भिक्षु राजनगर की ओर जा रहे थे । तब सभी लोगों ने ऐसी वितर्कणा की कि मानो युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ अध्ययन करने जा रहे हैं ।

१००. उद्योगितां प्रसरितां मुखमण्डलं च,
प्रोत्साहतां न सहते सुभगं शरीरम् ।
किं कारणं किमिति दर्शकमानवाना-
मन्योन्यमेवमभितो मधुरोऽनुलापः ।।

उस समय उनके चेहरे से टपकती हुई उद्योगिता, शरीर से टपकता हुआ अत्यन्त उत्साह देख लोगों के मन में नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प पैदा हुए । वे परस्पर मधुर आलाप करने लगे—क्या कारण है ? आज ऐसा क्यों हो रहा है ? आदि-आदि ।

१०१. योऽसौ विलोकिततमो बहुधा परन्तु,
नेदृग् दशाऽस्य नयनातिथितां गता नः ।
एवंविधः कलकल[4]ध्वनिरुल्ललास,
सिद्धिं गमिष्यति नवामपि कामऽपूर्वाम् ।।

---

१. निष्णः—चतुर ।
२. निघ्नः—पराधीन (नाथवान् निघ्नगृह्यकौ—अभि० ३।२०) ।
३. कमनक्रमः—ब्रह्मचर्य की शक्ति ।
४. कलकलः—कोलाहल, भनभनाहट (कोलाहलः कलकलः—अभि० ६।४०) ।

लोगों में यह भनभनाहट होने लगी—'हमने भिक्षु को अनेक बार देखा है, परन्तु इनका ऐसा रूप हमने पहले कभी नहीं देखा। यह अवस्था इस बात की द्योतक है कि इनको अपूर्व नई सिद्धि उपलब्ध होगी।'

१०२. आवेदयन्तु घटनां घटितां यथार्थां,
पृच्छंति तत्र मनुजा बहुसंशयानाः।
एष क्व याति किमिवात्र निबन्धनीयं,
कर्णेषु कर्णकलिताश्च मिथो लपन्ति ॥

कुछेक श्रावक यथार्थ घटना से अपरिचित होने के कारण संशयशील थे। वे एक दूसरे के कानों पर कान (मुंह) लगा कर परस्पर पूछने लगे—वास्तव में बात क्या है ? ये भिक्षु कहां जा रहे हैं ? इसमें क्या रहस्य छिपा है ? आदि-आदि।

१०३. प्रत्युत्तरन्ति तरसा प्रसृता च वार्त्ता,
युष्माभिरन्तरगतैर्न कथं विवेद्या।
एते चरित्रशिथिला इति कुत्सयद्भि-
स्त्यक्तेनपूर्[1]बहुजनैर्ननु वन्दनाऽपि ॥

१०४. तान् बोद्धुमुद्यतमतिर्गुरुभिः प्रणुन्न,
एष प्रयाति मुनिभिक्षुरपारकीर्त्तिः।
आचार्यशासनरतो विरतोऽभियोगै[2]-
र्योगैर्युगान्तरगतिः प्रगतिप्रकर्षः ॥ (युग्मम्)

इस प्रकार पूछने पर कुछ श्रावक उत्तर देते हुए बोले—'आप सभी अन्तरंग श्रावक हैं। बात इतनी फैल चुकी है, फिर भी आप नहीं जानते ! राजनगर के श्रावकों ने इन साधुओं को आचार-शिथिल जानकर, इनकी कुत्सा करते हुए वंदन-व्यवहार भी छोड़ दिया है।'

'अतः आचार्य के आज्ञाकारी, विरत, अत्यन्त उत्साही, ईर्यापूर्वक गमनशील, प्रगति परायण, अपारकीर्ति के धनी मुनि भिक्षु आचार्य रघुनाथजी द्वारा प्रेरित होकर उन श्रावकों को प्रतिबोध देने के लिए जा रहे हैं।'

---

१. ईनपूः—राजनगर।

२. अभियोगः—उत्साह (अभियोगोद्यमौ प्रौढिरुद्योग—अभि० २।२१४)।

१०५. व्याचक्षते श्रवणतः श्रुतदृष्टसाराः,
केचित्ततस्तदनुमोदनकृद्वचोभिः ।
नूनं प्रयातु सुतरां भवतात् कृतार्थो,
योग्योऽयमेव कुशलश्च तथाविधायाम् ॥

भिक्षु के सामर्थ्य से पूर्णतया परिचित कुछेक श्रावक उनके गमन की बात सुनकर, उसका अनुमोदन करते हुए बोले—'ये अवश्य जाएं। ये अपने लक्ष्य में सफल हों। ये ही ऐसे कार्यों के लिए योग्य हैं, कुशल हैं।'

१०६. एवं जनोदितमितेतरतारतीव्रं,
श्लोकामृतं मृतसमस्तसपत्नयत्नम् ।
पेञ्जूषपत्रपुटकैः परिपीयमानो,
मेवाडदेशसहृदेशमुपाययौ सः ॥

समस्त विपरीत प्रयत्नों का नाश करने वाले, जनता के द्वारा उच्च ध्वनि से उच्चारित (आशीर्वचनरूप) यशोगान को सुनते हुए भिक्षु मेवाड के निकटवर्ती प्रदेश में पहुंचे।

१०७. पादोनयोजनविशालतमा प्रमाभि-
र्गव्यूतषाष्टिकसमष्टिसमप्रयामा ।
अभ्रंलिहा विलिखिताम्बरलेखलेखा,
प्रेङ्खोलिताखिलखलारिनरेन्द्रवृन्दा ॥

वहां समस्त दुष्टों एवं शत्रु राजाओं को थर्राने वाली, आकाश का चुम्बन करती हुई, क्षितिज के उस पार अमर पथ से भी आगे बढ़ने वाली, प्रायः तीन कोस चौड़ी और साठ कोस लंबी अरावली पर्वतमाला है।

१०८. धर्मध्वजाऽस्खलितशृङ्खलितैव शश्वत्,
सश्वापदा पदपराऽऽप्रतिपालयित्री ।
राष्ट्रावनेऽसकृदभीष्टसदुर्गदुर्गा,
यन्मेदपाटवरवाटकपाटकल्पा ॥

वह पर्वतमाला धर्मध्वजा वाली, अस्खलित गिरिशृंखला और श्वापदों से युक्त, राष्ट्र की रक्षा के लिए अनेक अभीष्ट दुर्गों से दुर्गम, मेवाड के मार्ग के लिए कपाट-तुल्य तथा शरणागतों का विधिवत् प्रतिपालन करने वाली है।

१०९. स्मृत्वा स्वभेदनविरोधममर्षवर्षा,
मेदस्विनीं यदवनीं प्रविलोक्य वीराम् ।
आखण्डलस्य पदवीं प्रतिरोध्य जेतुं,
दुर्गं दृढं विदधती परितः स्थितेव ॥

वह पर्वतमाला इस मेवाड धरा को रक्षण योग्य एवं वीरभूमी जानकर तथा इन्द्र के द्वारा किए गए अपने भेदन का स्मरण कर, क्रोध करती हुई, इन्द्र के मार्ग को रोक मानो उसे जीतने के लिए चारों ओर मजबूत दुर्ग बना कर स्थित थी ।

११०. **सद्यो रसाल[1]मृदुमञ्जुलमञ्जरीभि-**
र्माधुर्यधुर्यमधुकण्ठपिकादिकूजैः ।
सुस्वागतं विदधतीव मुनेः सुवाता-
दुद्धूयमानतरुमस्तकतो नमन्ती ॥

सद्यस्क आम्र की मृदु-मंजुल मंजरियों के कारण कोयल की अत्यन्त सुमधुर कूजन से ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो वह पर्वतमाला मुनिवृन्द का स्वागत-गान गा रही है और मन्द-मन्द पवन से हिलती हुई वृक्ष-शाखाओं से उनको वन्दन कर रही है ।

१११. **एष्यच्छुभं किमपि निर्झरनिर्निनादै-**
र्वाचालितेव परिसूचयितुं त्वराभिः ।
यत्पुण्यतः प्रशमितेव तदा भवन्ती,
मुक्ता भयादरवलीगिरिमालिकाऽगात् ॥

उस पर्वतमाला में यत्र-तत्र कलकल करते हुए निर्भर बह रहे थे । इस निनाद के मिष से वह पर्वतमाला किसी भावी शुभ की सूचना देने के लिए मुखरित होकर शीघ्र ही सामने आ गई । वह भिक्षु के पुण्य-प्रभाव से पूर्ण शांत और भयमुक्त हो गई थी ।

११२. **आक्रम्यतां सुखसुखेन समाधिमग्नो,**
मार्गस्थसंवसथपत्तनपत्तनानि ।
संस्पर्शयन्नवविदन् परितः प्रवृत्तं,
निर्णाथनाथनगरं कृतवान् सनाथम् ॥

वे समाधिस्थ भिक्षु अपने सामने आने वाली उस अरावली पर्वतमाला को पार कर सुखपूर्वक मेवाड़ में प्रविष्ट हुए और अपने गन्तव्य स्थल के बीच आने वाले गांवों तथा नगरों का स्पर्श करते हुए तथा चारों ओर के नये वातावरण की जानकारी प्राप्त करते हुए राजनगर पहुंचे—अनाथ राजनगर को सनाथ बना डाला ।

---

१. रसालः—आम्र ।

११३. आनन्दसिन्धुलहरीप्रसृता तदानीं,
तं सेवते परिचिता जनताऽभ्युपेत्य ।
चञ्चच्चटुत्वचलचारुचकोरचक्रं,
चन्द्रं मरीचिरुचिरं सुचिरादिवेक्ष्य ।।

उस समय राजनगर में आनन्द की लहर व्याप्त हो गई । जो उनसे परिचित थे, वे श्रावक आए और उनकी उपासना में ऐसे तल्लीन हो गए जैसे चिर प्रतीक्षित चन्द्रमा की मनोहारी किरणों को देखकर आनन्दित, प्रियालापी, चञ्चल और सुन्दर चकोरों का समूह तल्लीन हो जाता है ।

११४. ते श्रावका अपि गभीरसुधीरधुर्या,
यत्संनिधौ सुविधिनाध्युषिताः समेत्य ।
दूरप्रदेशपरियातपितुः समीपे,
स्वात्मीयबालकगणा इव सानुरागाः ।।

वे गंभीर और धीराग्रणी श्रावक अनुरागपूर्वक उनके पास आकर विधिपूर्वक वैसे ही बैठ गए, जैसे कि दूर देश से समागत पिता के पास उनके बालकगण आकर प्रेमपूर्वक बैठ जाते हैं ।

११५. केचिद् वयं हि निविडाः किल[1]कर्णधाराः,
प्रोढा इति स्वकमहत्त्वनिदर्शनार्थम् ।
सङ्केत्य तान् जगदुरज्ञहतान्धभक्ता,
एते भवत्सु भगवन् ! परिशङ्कमानाः ।।

कुछेक अंधभक्त श्रावक स्वयं को समाज के वरिष्ठ कर्णधार मानते हुए अपनी प्रौढता और महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए उन श्रावकों की ओर संकेत करते हुए बोले—'भगवन् ! ये आपके आचार-विचार के प्रति सशंक हैं ।'

११६. शङ्काऽद्य नो नहि मनाक् परिरक्षणीया,
पृच्छन्तु मुक्तमनसा तरसा यथेष्टम् ।
निष्काश्यतां च भवताप्यवतावदातं,
पञ्चायतिं विदधतीति मुधैव केऽपि ।।

फिर श्रावकों की ओर उन्मुख होकर बोले—'अब आप लोग जो कुछ पूछना चाहें, वह मुक्तभाव से पूछें और तनिक भी शंका को अपने हृदय में न रखें ।' फिर मुनि भिक्षु से बोले—'भगवन् ! आप भी इनकी रक्षा करते हुए इनकी शंकाओं का निराकरण करें ।' इस प्रकार कुछेक श्रावक व्यर्थ ही पंचायत करने लगे, बकवास करने लगे ।

१. किल—इवार्थे ।

११७. सान्त्वय्य तान् सहृदयो हृदयेन तावत्,
पप्रच्छ यूयमिह किं परिसंविहानाः ।
यस्मात् प्रणामपरिशीलनमप्यपोह्य,
वर्त्तध्व एतदभिनूतनमतीवचित्रम् ।।

तब सहृदय मुनि भिक्षु ने हार्दिक सान्त्वना देते हुए उन्हें पूछा—'क्या आप हमारे आचार-विचार के प्रति संदेहशील हैं? इस संदेह के कारण ही आपने वंदना-व्यवहार को छोड़कर नए व्यवहार को अपनाया है, यह आश्चर्य है ।

११८. प्रोचुः प्रसह्य विरताऽविरतास्तदा ते,
शङ्का भवेदनुपलक्षितगोचरेषु ।
विस्पष्टदोषविषयेषु भवत्सु सा किं,
निःशङ्कतास्ति शिथिलाः शिथिला भवन्तः ।।

तब वे श्रावक हठात् बोले—'भंते! शंका वहां होती है, जहां अस्पष्टता हो। परन्तु स्पष्ट रूप से दोषों का सेवन करने वाले आप साधुओं के प्रति शंका कैसे हो सकती है? उसमें तो निःशंकता है। आप आचार में शिथिल हैं, शिथिल हैं।'

११९. कर्णावतंसकरणे कलिताशयश्चे-
च्छ्रोत्रे विभूषयितुमिच्छुरयं समूहः ।
ॐमित्यवादि मुनिना तदितः स्फुटंहृ-
दुद्घाट्य रक्षयति शैक्षकवद् यदग्रे ।।

'यदि आप हमारे विचारों को सुनना चाहें तो हम अपने विचारों को आपके कानों तक पहुंचाने की कोशिश करें।' ऐसा सुन भिक्षु स्वामी ने 'हां' कह कर स्वीकृति प्रदान कर दी। तब उन श्रावकों ने भी मुनि भिक्षु के समक्ष अपना दिल खोलकर वैसे ही रख दिया जैसे एक शैक्ष—नवदीक्षित मुनि अपना दिल खोलकर गुरु के समक्ष रख देता है।

१२०. श्राद्धा जिनेन्द्रसमयात् समयान्नवन्त[१],
आवेदयन्ति विनयन्तितरां तदेत्थम् ।
वाक्कीलका नयपतेः पुरतः प्रमाण-
धारानिदर्शनपुरस्सरतो यथाऽत्र ।।

---

१. समयान्—संकेतान् ।

वे श्रावक जैनागमों से अनेक प्रमाणों को निकाल-निकाल कर भिक्षु स्वामी के समक्ष विनयपूर्वक वैसे ही प्रस्तुत करने लगे जैसे न्यायालयों में न्यायाधीश के समक्ष वकील कानूनी-धाराओं को प्रस्तुत करते हैं।

१२१. साधोः पथादपसृताः प्रसृता दुरध्वे,
दिङ्मूढवत्तत इतः स्वयमेव तावत् ।
अस्मादृशान् यदि तथा न हि निर्मिमीरन्,
मन्यामहे तदपि वो महती कृपा नः ॥

'इन शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि आप दिग्मूढ बन, इधर-उधर भटकते हुए साधना-पथ से दूर होकर उन्मार्ग की ओर चले जा रहे हैं। यदि आप, कम से कम, हमें उन्मार्ग में न ले जाएं तो हम लोगों पर आपकी यह महती कृपा होगी।'

१२२. नो साधुता भवति भाति विभाति कापि,
वेषेन किं धरति यं च विदूषकोऽपि ।
जीवो न किं जगति जीवनशक्तिशून्यः,
शृङ्गारितोऽपि करवीर[1]निवेशनीयः ॥

'यदि आचारशून्य वेषमात्र से ही साधुता होती या शोभित होती तो साधुवेश तो एक विदूषक भी धारण करता है। परन्तु वेशमात्र से क्या? क्या वस्त्राभूषणों से अलंकृत होने पर भी चेतनाशून्य जीव को श्मशान में नहीं ले जाया जाता?'

१२३. रम्यो भवान् भवति चारुविरागताऽपि,
तत्सङ्गतस्त्वमपि किन्तु न साधु साधुः ।
दोषा[2]भिषङ्गमरतोऽमरतोऽपि मह्यः,
किं नो कलङ्ककलितो ललितोऽपि चन्द्रः ॥

'आप रम्य हैं। आपमें विरागता भी अच्छी है। किन्तु इस शिथिल संघ के सहवास के कारण आप भी यथार्थ में साधु नहीं रहे। ललित चंद्रमा देवताओं द्वारा पूज्य होता है। परन्तु रात्री के साथ संगमरत होने के कारण क्या वह कलंकित नही हो जाता?'

---

१. करवीरम्—श्मशान (श्मशानं करवीरं स्यात्—अभि० ४।५५)।
२. दोषा—रात्री (उषा दोषेन्दुकान्ता—अभि० २।५७)।

१२४. कल्पापकल्पकथनं विधिवद् यथार्थं,
संवीतमेव यदि वोच्यत उत्प्रतीपम् ।
पोल्लप्रकाशनभिया च निजस्य सम्यक्,
पालिः पुरैव सलिलाद् भवता निबद्धा ॥

'साधुओं के लिए क्या कल्प्य और क्या अकल्प्य है ? आदि-आदि, तो आप लोगों ने (आज कल के साधुओं ने) बतलाना ही बन्द कर दिया। यदि कहीं बतलाये जाते हैं तो वह विपरीत रूप से, जिससे कि अपनी पोल खुलने का भय न रहे। इस प्रकार आपने पानी आने से पहले ही पाल बांध दी है।'

१२५. स्वप्नक[1]प्रबोधनविचेष्टनमाक्रियेत,
किं जाग्रतां जगति जागरणं गरीयः ।
चेतं प्रचेतमभितोऽभ्युपयाथ यूयं,
दोषांस्ततः किमिव किं प्रतिपादयामः ॥

'आपने जान-जानकर दोषों को स्वीकार किया है और अपने चारों ओर उनका ढेर लगा दिया है। हम किन-किन का प्रतिपादन करें। सोये हुए व्यक्ति को जगाने का प्रयत्न किया जा सकता है, परन्तु जागते हुए को जगाना कैसा ?'

१२६. चारित्रधर्मजनकाय भवद्भिरित्थं,
दत्तो जलाञ्जलिरलीकवलीक[2]वासात् ।
वन्दामहे कथमतो भवतो भवार्त्ताः,
पूजा गुणानुगुणिता जिनशासनेषु ॥

'असत्य रूपी वलीक (ओलती) पर निवास करते हुए आप लोगों ने चारित्रधर्म रूप पिता को तो जलाञ्जली ही दे दी है। अतः भवभ्रमण के भय से भयभीत होने वाले हम आप लोगों को वन्दना कैसे करें ? क्योंकि गुणानुरूप पूजा ही जिनशासन में अभिहित है।'

१२७. शास्त्रावगाहनतया परिचीयते वः,
श्रद्धापि शास्त्रविहिता महिता न मान्यैः ।
संवर्त्तते क्व च तदा श्रमणत्वसत्त्वं,
बीजं विना पि किमु पुष्पफलोपपत्तिः ॥

---

१. स्वप्नक्—सोने वाला (स्वप्नक् शयालुर्निद्रालुः—अभि० ३।१०६)।
२. वलीकः—ओलती, छप्पर का किनारा।

'हम शास्त्रों का अवगाहन कर यह जान पाए हैं कि आपमें मान्य व्यक्तियों द्वारा अनुमोदित और शास्त्रसम्मत श्रद्धा (सम्यक्त्व) भी नहीं है। तो फिर श्रामण्य की तो बात ही क्या? बिना बीज के पुष्प और फल की उत्पत्ति ही कैसी?'

१२८. प्रक्षालिता गुरुतरा इव गण्डशैला[१],
दोषा इमे नयनगोचरतां गता नः।
ये राजसर्षपसमा विषमाः कियन्त,
अस्मादृशैः कथमहो परिलक्ष्यमाणाः ॥

'ये वर्षा में धुले हुए चट्टानों के समान स्पष्ट दीखने वाले बड़े-बड़े दोष हैं जो कि हमारी आंखों के सामने हैं, पर राई के समान अत्यन्त छोटे-छोटे दोष कितने हैं, यह हमारे जैसे व्यक्ति कैसे जान सकते हैं?'

१२९. जानीमहेऽनुमितितो गणना न तेषां,
तत् सौक्ष्म्यसूक्ष्मिककथोपकथैव का स्यात्।
ब्रूडन्ति यत्र मदमत्तमतङ्गजाश्चे-
दौरभ्रकादिगणना किमु तत्र गण्या ॥

'हम अनुमान प्रमाण से यह जान पाए हैं कि जहां बड़े दोषों की कोई गणना नहीं है वहां सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म दोषों की तो गणना ही कैसे हो सकती है? जिस पानी में मदोन्मत्त बड़े-बड़े हाथी डूब सकते हैं वहां भेड़ों के डूबने की तो गणना ही क्या?'

१३०. ब्रूमो वयं सविनया भवतेऽद्य किं कि-
माचारसारकृशिमामहिमा भवत्सु।
विज्ञेषु किञ्च बहुना प्रविचारणीयं,
मा वञ्चयन्तु सरलाशयशेमुषीन् नून् ॥

'हे मेधाविन्! हम सविनय आपसे निवेदन करते हैं कि आपके सामने हम आचार-शैथिल्य की किन-किन बातों को कहें? आप विज्ञ हैं। आपको अधिक क्या बताएं? आप सोचें और सहज-सरल व्यक्तियों के साथ प्रवंचना न करें।'

१३१. दृष्ट्वा गुरुत्वमनुमानबलेन पृष्ठे-
लग्ना वयं च भवतां तदभावसिद्धे।
त्यक्ता गृहीतकुपथा इव वीक्षणाद्यैः,
सम्बन्धबन्ध इह कश्चरणच्युतैर्नः ॥

१. गण्डशैलः—चट्टान (गण्डशैलाः स्थूलोपलाश्च्युताः—अभि० ४।१०२)।

'अनुमान से आप लोगों को गुरुत्व गुण युक्त समझ कर ही हमने आपको अपनाया था, पर जब प्रत्यक्ष दर्शन आदि से गुरुत्व का अभाव सिद्ध हुआ तब हमने आपको वैसे ही छोड़ दिया जैसे कुमार्ग का भान होने पर पथिक उसे छोड़ देता है। जो चारित्र से भटक गए हैं उनके साथ हमारा कैसा संबंध ?'

१३२. एष प्रणामपरिहारकथावशेष-
स्त्वत्तो न गोप्यमवितं हृदयादिवाऽत्र ।
तस्मात् यथार्थचरितात् स्वयमुत्तरन्तु,
सन्तारयन्तु लघु वोऽपि शरण्यभूतान् ॥

'वन्दन परिहार की वह अशेष कथा आपके सामने वैसे ही स्पष्ट है जैसे कि मन के समक्ष अपना अच्छा या बुरा कृत्य। अतः आपसे यही अपेक्षा है कि आप शीघ्रातिशीघ्र शुद्ध संयम की आराधना करते हुए स्वयं भवपार पहुंचें और आपकी शरण में आने वाले हम लोगों को भी शीघ्र पार पहुंचाएं।'

१३३. नेत्रादृतेऽपि किमु कोऽपि पदार्थसार्थ-
मालोकते समवलोकयते च भिन्नान् ।
पोतात् पृथक्[1] पृथुपयोनिधिपारमाप्तुं,
स्वं वा परानपि च नेतुमधीश्वरः कः ॥

'क्या नेत्र-विहीन कोई व्यक्ति स्वयं पदार्थ-सार्थ को देख सकता है या दूसरों को दिखा सकता है ? जहाज के बिना कोई व्यक्ति अथाह समुद्र के पार न स्वयं जा सकता है और न दूसरों को पार पहुंचाने में समर्थ हो सकता है।'

१३४. धैर्यादृतेऽपि धरणिर्धरणिस्पृशः स्वां,
धत्तेऽपि धापयति किं परिवर्त्तनाभिः ।
औष्ण्यादृतेऽपि च चलाचलचित्रभानुः,
स्वस्तप्यते किमु परान् परितापयेत ॥

'बिना धैर्य के क्या यह धरा डांवाडोल होती हुई अपने को तथा अपने आश्रित प्राणियों को धारण करने में सफल हो सकती है ? स्वयं बिना तपे क्या यह रविमण्डल उष्णता के अभाव में दूसरों को तपा सकता है ?'

---

१. पृथक्—बिना।

१३५. किं स्वःकलाविकलितोऽपि कलाधिनाथ,
उद्योतते द्युतिधरानितरान् विदध्यात् ।
चैतन्यविह्वचलितः किमु चेतनः स्यात्,
स्वान्योपकारकरणं करणं कदापि ॥

'क्या दिव्य कलाओं से विकल चन्द्रमा कभी उद्योतित हो सकता है ? क्या वह दूसरों को उद्योतित कर सकता है ? क्या अपना और पर का उपकार करने में साधनभूत करण—शरीर चैतन्य-विकल होकर प्राणवान् हो सकता है ?'

१३६. एवं गृहीतपरिहीनमहाव्रता ये,
यूयं विना चरणतश्चरणाञ्चितानाम् ।
आत्मात्मनामपि च कूटकलाकलापैः,
कुत्रापि नो तरणतारणतां तनुध्वम् ॥

'इसी प्रकार स्वीकृत महाव्रतों का परिहार करके संयम साधना के अभाव में न तो आप अपना और न आपको संयमी मान पूजने वालों का ही मिथ्या कला-कलापों के द्वारा उद्धार कर सकते हैं ।'

१३७. तस्माद् दयस्व दयनीयदशां प्रदृश्य,
त्रायस्व विश्वमखिलं निखिलं[1] विधेहि ।
अभ्यर्थयाम उचितोचितचैत्यचिन्ता-
च्चैकस्त्वमेव विभुरार्यविचार्यवर्यः ॥

'इसलिए धर्मशासन की इस दयनीय अवस्था को देखकर आप दया करें और धार्मिक जगत् को खोखलेपन से रहित कर उसकी रक्षा करें । हमारी इस विवेक एवं विचार पूर्वक की गई उचित प्रार्थना को स्वीकार करें, क्योंकि प्रशस्त विचारों के धनी आप ही ऐसा करने में समर्थ हैं ।'

१३८. सम्यक्त्वदर्शनमृते नहि सद्विवेको,
नो तं विना सुचरितं जिनसम्मतं च ।
नाना[2] सुमन्दिरमणिर्महिमन्दिरं किं,
नो तद्धिरुक्[3] तिमिरसन्ततिसन्निकारः ॥

'हे मुने ! सम्यक्दर्शन के अभाव में सम्यग् ज्ञान नहीं होता और सम्यग् ज्ञान के अभाव में जिनेश्वर देव द्वारा सम्मत संयम नहीं होता । जैसे दीपक के बिना भूतल-स्थित मन्दिर में प्रकाश नहीं होता और प्रकाश के बिना तिमिर का भी नाश नहीं होता ।'

---

१. निखिलः—शून्यता रहित, खोखलेपन से शून्य ।
२. नाना—बिना ।
३. हिरुक्—बिना (अभि० ६।१६३)

१३९. तस्मात्तदर्थमवलोकय लोकनाथ !,
लोकस्य पोतपतनं प्रविलोमवातात् ।
नोपेक्षणीयमधुना यदपेक्षणीय-
मर्हन्नियोगलकुडाद् भव पोतवाहः ॥

'हे लोकनायक ! जनता की यह नैया प्रतिकूल वायु से प्रेरित होकर इस संसार समुद्र में डूब न जाए, आप इस ओर ध्यान दें। यहां पर आपकी अपेक्षा ही वांछनीय है, न कि उपेक्षा। अतः हे महामुने ! आप भगवदाज्ञा रूप डांड को हाथ में लेकर जनता की इस नैया के खवैया बनें।'

१४०. न्यायः समैः परिहृतो हृत ! पञ्चमारे,
त्वां प्रेक्षते विशरणः शरणं शरण्य !
प्राणान्ततोऽपि परिपालय तं वरेण्य !,
नास्तिक्यमेष्यति न चेच्च्युतचेतनान्तम् ॥

'आज इस कलिकाल में न्याय को आश्रय देने वाला कोई भी नहीं है। सभी उसको छोडते जा रहे हैं। हे शरण्य ! वह अब आपकी ओर सतृष्ण नेत्रों से देख रहा है। आप अपने प्राणों का व्युत्सर्ग करके भी न्याय की रक्षा करें। अन्यथा नास्तिकता का चारों ओर बोलबाला हो जायेगा।'

१४१. प्रामाणिकाध्वरहितं निहितं भवेद् य-
दस्माभिरैहिकजनैस्तदुदीरणीयम् ।
अन्तर्ज्वलज्ज्वलनतो ज्वलितं ज्वलद्भिः,
क्षन्तव्यमेव भवताऽनुचितं यदुक्तम् ॥

इस प्रकार उन लोगों ने अपने अन्तर् मन की सारी भावनाओं को मुनि भिक्षु के सामने स्पष्ट रूप से रखीं और निवेदन किया—'हे महामानव ! यदि हम लोगों द्वारा कोई भी प्रमाणशून्य बात रखी गई हो तो आप उसे बतलाने की पूर्ण कृपा करें। साधु संघ के दोषों को देखकर हमारे हृदय में जो दुःख की ज्वालाएं भभक रही हैं और उन्हीं ज्वलाओं की भभक से यदि कोई कटु एवं अनुचित शब्द का प्रयोग हुआ हो तो आप क्षमा प्रदान करें।'

१४२. योग्योत्तराय भवता प्रयतिष्यतेऽत्र,
शङ्कात्रिशङ्कुशकलप्रमितापि नो नः ।
इत्याशया वयमिमे निभृतान्तरङ्गा-
स्तद्वारवीक्षणपरा निपुणं वसामः ॥

'अब आप समुचित उत्तर प्रदान करेंगे इसमें तो कोई संशय का लेश भी नहीं है। हम इसी आशय से मन में पूर्ण संतोष का अनुभव करते हैं और उसी अवसर की प्रतीक्षा करते हुए सुखपूर्वक रह रहे हैं।'

१४३. चातुर्यमार्यमविकार्यमजर्यमाप्य,
तैः श्रावकैर्विशदतथ्यसुपथ्यवाग्भिः।
ईदृक् कृतः श्रमणभिक्षुरितस्ततो वा,
द्रष्टुं स्वदृष्टिमपवर्त्तयितुं क्षमो न ॥

इस प्रकार उन श्रावकों की चतुरता, शिष्टता, सहजता एवं स्वस्थता के साथ उच्चारित सत्य एवं पवित्र वाणी ने भिक्षु स्वामी के मानस को ऐसा डांवाडोल कर दिया कि वे तत्काल किसी एक निर्णय पर नहीं पहुंच सके।

१४४. तत्सन्मुखेषु किल केवलदत्तदृष्टि-
स्तेभ्यो हि वीक्षणपरोऽपरलक्ष्यशून्यः।
द्वैविध्यपाशपतितः परिषत्प्रतिष्ठः,
कृत्यापकृत्यपथमाकलितुं न शक्तः ॥

मुनि भिक्षु परिषद् में बैठे-बैठे श्रावकों की ओर देख रहे थे और वे श्रावक एक मात्र मुनि भिक्षु की ओर देख रहे थे। मुनि भिक्षु दुविधा में फंस गए। वे उस समय कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य पथ का निर्णय करने में असमर्थ थे।

१४५. एतेऽतिमात्रमतिमात्रसुपात्रसत्याः,
कल्प्येत चैव कथमत्र मया ह्यसत्याः।
भागे परेऽपि गुरवो गुरवो मदीया,
भ्रष्टा व्रतादिति कथं प्रतिपादयामि ॥

मुनि भिक्षु ने सोचा, एक ओर ये श्रावक हैं जो सही-सही बात कह रहे हैं, इन्हें मैं झूठे कैसे कहूं! दूसरी ओर मेरे गौरवास्पद गुरु हैं, उनके लिए भी मैं कैसे कहूं कि वे व्रतों से च्युत हो चुके हैं।

१४६. आकर्षति प्रकटमेकत एव सत्य-
मेकत्र तत्र गुरुगौरवमानपूजा।
एकत्र सत्यपुरतः प्रणतोत्तमाङ्ग-
मेकत्र मान्यमतदुष्करमोचनं च ॥

एक ओर सत्य मुझे स्पष्टरूप से आकृष्ट कर रहा है तो दूसरी ओर गुरु के गौरव, मान और पूजा का व्यामोह है। एक ओर सत्य के प्रति मैं नत-मस्तक हूं तो दूसरी ओर स्वीकृत मान्यता का परित्याग भी दुष्कर हो रहा है।

१४७. कुर्वेऽत्र किं किमु न वेति विकल्पकल्प-
वृन्दारकत्रिपथगाशतशोऽभिषेकैः।
दूरेस्तु निर्मलभवत्वमहो! परन्तु,
जातोऽपवित्रित इवाऽवमचिन्तनेन॥

वे कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का निर्णय करने के लिए नाना प्रकार के संकल्प-विकल्पों की तरंगों वाली दिव्य गंगा में गोते लगाते रहे, पर निर्मल होना तो दूर रहा वे विपरीत चिन्तन के कारण अपवित्र ही बने रहे।

१४८. चाणूरवन् मम विपोथयिता कुमारा-
च्चाणूरमल्लप्रतिमल्ल इवायमेव।
अद्यावधौ मम तरस्त्विवति चिन्तयित्वा,
दोलायतिस्म किमिमं हतमोहमल्लः॥

मोहमल्ल ने सोचा कि जैसे प्रतिपक्षीमल्ल श्रीकृष्ण ने चाणूरमल्ल को मारा था, वैसे ही यह भिक्षु मुझे भविष्य में मार डालेगा। अभी तो मैं शक्ति-संपन्न हूं। अतः शक्ति रहते मुझे इसे आन्दोलित कर देना चाहिए, वश में कर देना चाहिए।

१४९. एवं न चेत् किमिह तत् तरलायितोऽसौ,
विज्ञस्वकीयशिथिलाचरणेपि धीरः।
किं वोत्पथे वहति वाहयते परांश्च,
जानन्नपि प्रबलभाविवशेन यद् वा॥

यदि ऐसा नहीं होता तो अपने शैथिल्य का ज्ञान होने पर भी वे धीर पुरुष चञ्चल नहीं होते। पर जानते हुए भी वे उत्पथगामी हुए और अन्य श्रावकों को भी उसी मार्ग में ले चले। या हम यों कहें कि यह सब भवितव्यता के कारण हुआ।

१५०. जिह्वानिपेन[1] बहिरन्यवचोविलास-
पीयूषमिश्रितवितथ्यहलाहलं तान्।
वैश्वस्तिकान् स्वगुरुमोहमहोदयेन,
प्रावर्त्तत प्रचितभिक्षुरयं निपातुम्॥

---

१. निपः—कलश, घडा (कलसः कलशो निपः—अभि० ४।८५)

यदि ऐसा नहीं होता तो ऊपर अमृत और भीतर से हलाहल से भरे हुए जिह्वारूपी कलश से वाणी रस का पान उन विश्वस्त श्रावकों को करवाने के लिए वे तैयार नहीं होते। पर गुरु के प्रति महान् मोह का उदय होने से ही उन्हें ऐसा करने के लिए विवश होना पड़ा।

१५१. स्वात्मप्रवञ्चनविपञ्चनमाचरन् स,
प्रत्यायितानऽपि हि वञ्चयितुं तदानीम्।
आत्मीयसङ्घनिजसङ्घपतिप्रमाणं,
प्रत्युत्तरं प्रियतरं वितताार किञ्चित्॥

अपने आपको तथा अपने पर विश्वास रखने वालों को धोखा देते हुए उन्होंने वही प्रिय उत्तर दिया जो अपने संघ एवं संघपति को अभीष्ट था।

१५२. संरक्षणीयमनिशं व्यवहारमुख्यं,
युष्मादृशैः प्रणमनं न कदापि हेयम्।
विश्वास्य विश्वसितशान्तसरस्वतीभिः,
सम्यक् पुनः समवधित्सुरुवाच चारु॥

इस प्रकार विश्वस्त एवं शान्त वाणी के द्वारा उन्हें विश्वास दिलाकर कहा—'मैं पुनः तुम्हारी शंकाओं का समाधान करने का इच्छुक हूं, पर तुम सबको वन्दन व्यवहार की इस उत्तम पद्धति को बनाये रखना है, वंदन-विधि का परिहार नहीं करना है।'

१५३. शङ्कापशल्यपरिहारपथं प्रहाय,
संतोष्य तोष्यततिभिर्बत ! मन्त्रिता वा[१]।
सत्यं निगीर्य परिदीर्य विशीर्य सारं,
तेनाऽऽहिता सपदि ते गुरुवन्दनायाम्॥

शंका निराकरण के प्रशस्त पथ को छोड़ अपनी मंत्रवत् मुग्ध बनाने वाली वाणी के द्वारा उन श्रावकों को झूठा विश्वास दिलाकर मुनि भिक्षु सत्य को निगल गए और उसको विदीर्ण और जीर्ण-शीर्ण कर डाला। इस प्रकार वे वन्दना छोड़ने वाले उन श्रावकों को अपनी कुशलता से गुरु-वन्दन करवाने में सफल हो गए।

---

१. इवार्थे।

१५४. आचार्यपक्षमभिरक्षयितुं ह्यनेन,
छद्मस्थता व्यवसितात्मगतार्थरूपे ।
मिथ्यात्वपक्षपरिपुष्टसमर्थनाय,
मिथ्याश्रये स्थितिरकारि विकारिणाऽत्र ।।

वास्तविकता को जानते हुए भी गुरु के मोह में फंसे हुए मुनि भिक्षु ने छद्मस्थता के कारण आचार्य के मिथ्या पक्ष को जीवित रखने के लिए भेदनीति को अपनाकर असत्य का पूरा-पूरा समर्थन किया और मिथ्यात्व में ही रमण करते रहे।

१५५. मिथ्याप्रवाहवहनप्रलये लयेन,
पूर्णप्रकाशबलसम्बलसङ्कुलेन ।
यद्वा परिस्थितिवशाद् विवशेन तेन,
स्वान्यप्रतारणविषं विषमं निपीतम् ।।

मिथ्या प्रवाह में प्रवाहित होते रहने के कारण या पूर्ण प्रकाश, सामर्थ्य या सम्बल की कमी के कारण या किसी परिस्थिति की प्रतिकूलता से विवश होने के कारण अपने को तथा दूसरों को प्रवञ्चित करने वाले इस जहरीले घूंट को भी वे पी गए।

१५६. सीमां पदस्य च गुरोरनगारताया-
स्त्रातुं भवन्नपि मुनिः प्रविहाय तत्त्वम् ।
तच्छ्रावकाऽवितथशुद्धविचारभावाः,
मिथ्याप्रमाणविषयीप्रकृता ह्यनेन ।।

त्राता होते हुए भी श्रमण भिक्षु ने अपने पद, गुरु के गौरव और साधुता की सीमा का उल्लंघन कर सत्य और विशद विचार वाले उन श्रावकों को मिथ्या प्रमाणित कर डाला।

१५७. उक्त्वैव तन्न विरराम परन्तु साक्षात्,
सिद्धार्थनन्दनवचोविपरीतरीतिम् ।
आचारगोचरमगोचरखण्डनार्हं,
जानन्नपीह परिमण्डितवानऽखण्डम् ।।

इतना कहकर ही वे विरत नहीं हुए, परन्तु अपने संघीय आचार-गोचर को महावीर के वचनों के विपरीत जानते हुए भी उसे अक्षुण्ण बताया और उसका इस रूप में प्रतिपादन किया कि वह लोगों को अखंडित प्रतीत होने लगा।

१५८. तादृग्भविष्यजिनशासनभास्वताऽपि,
सूत्राद् विरुद्धमिदमाचरणं च चीर्णम् ।
चित्रं परं किमपरं विदुषां समाजे,
यद्भाविने प्रभविने च नमो नमोऽस्तु ॥

भविष्य में होने वाले जिनशासन के सूर्य मुनि भिक्षु ने सूत्रों के विपरीत यह आचरण किया। विद्वत् समाज में इससे बडा और क्या आश्चर्य हो सकता है ? परंतु क्या कहा जाए ? भवितव्यता को बार-बार नमस्कार है।

१५९. भावापभावपरिवन्दनबोधशून्या-
स्ते द्रव्यवन्दनविधिं व्यवलोक्य केचित् ।
हृष्यन्ति तानुपहसन्ति विदूषयन्ति,
काक्वा वदन्त्यवनताः प्रणता भवन्तः ॥

द्रव्य वंदना और भाव वंदना के प्रतिबोध से विकल कुछेक व्यक्ति श्रावकों के द्रव्य-वंदना-व्यवहार को देख प्रसन्न हुए, कुछेक उपहास करने लगे, कुछेक उन पर दोषारोपण करने लगे और कुछेक व्यक्ति व्यंग्य ध्वनि में कहने लगे—आप इन साधुओं के चरणों में अवनत हो गए ! प्रणत ही गए !

१६०. संवृत्तमेतदिह किं विहितं मया किं,
तत्तत्त्वमान्तरतरं हृदयेन विन्दुः[1] ।
गम्भीरतां विशदयन् विशदावदातैः,
साद[2]प्रवादपृथुलो[3] न बभूव भिक्षुः ॥

यह क्या हो गया ? मैंने क्या कर डाला ? इस प्रकार आन्तरिक तत्त्व का हृदय से वेदन करते हुए मुनि भिक्षु ने विशदता और स्वस्थता के साथ गंभीरतापूर्वक उस पर विचार किया। वे न अत्यन्त प्रसन्न ही हुए और न अत्यंत विषादग्रस्त ही हुए।

१६१. तत्कालमूचुरिह तेऽन्वभिवन्दमानाः,
संदेहता व्यपगता न परास्मदीया।
किन्तु त्वदीयजिनभक्तिविरक्तिकृष्टा,
वन्दामहे पुनरनागतविश्वसित्या ॥

---

१. वेदनशीलो विन्दुः ।

२. सादः—विषण्णता (विषादोऽवसादः सादो विषण्णता—अभि० २।२४६)

३. पृथुलं—विशाल (पृथूरु पृथुलं व्यूढं—अभि० ६।६६)

उस समय पुनः वंदन-व्यवहार को प्रारंभ करने वाले श्रावकों ने कहा—'हे महामुने ! यद्यपि हमारी शंकाएं मिटी नहीं हैं, किन्तु आपकी जिनेश्वर देव के प्रति आस्था, भक्ति और वैराग्य से आकृष्ट होकर तथा भविष्य में आप सत्य-पथ का अनुसरण करेंगे, ऐसा विश्वास कर आपको वन्दना कर रहे हैं।'

१६२. मेधाविमुख्य ! परिलोकय लोकय त्वं,
मा प्रत्ययं गमय रक्षय साधुवादम् ।
सार्थं विधेहि सुतरां निजभिक्षुनाम,
सत्याग्रही सहृदयो भव सत्त्वशाली ॥

'हे मेधाविन् ! आप चारों ओर ध्यान से देखें, बार-बार देखें। आप अपने भिक्षु नाम को सार्थक बनाएं और सत्य के आग्रही बनने में पूर्ण पराक्रम करें तथा सहृदय बनें। आप जनता के विश्वास को न खोएं। आप संयम की रक्षा करें।'

१६३. मिथ्याप्ररूपणसमं वृजिनं[1] न चान्य-
दालोच्यतां पुनरनन्यदृशा भवद्भिः ।
एवं निवेद्य स गणः समलङ्चकार,
स्वं स्वं शमेन सदनं सदनन्तकीर्त्तिम् ॥

'भंते ! मिथ्या प्ररूपणा करने के समान दूसरा कोई पाप नहीं है। आप वास्तविक दृष्टि से पुनः विचार करें।' इस प्रकार उन अनन्तकीर्ति भिक्षु को निवेदन कर वे श्रावक गण शांतिपूर्वक अपने-अपने घर चले गए।

श्रीनाभेयजिनेन्द्रकारमकरोद् धर्मप्रतिष्ठां पुनर्
यः सत्याग्रहणाग्रही सहनयैराचार्यभिक्षुर्महान् ।
तत्सिद्धान्तरतेन चारुरचिते श्रीनत्थमल्लर्षिणा,
श्रीमद्भिक्षुमुनीश्वरस्य चरिते सर्गोऽगमत् पञ्चमः ॥

श्रीनत्थमल्लर्षिणा विरचिते श्रीभिक्षुमहाकाव्ये राजनगरश्राद्धानां प्रणतिपरिहारः, भिक्षोस्तत्र गमनं, श्रावकैः सह तत्त्वविमर्शः, यथातथा श्रावकसमाधानमित्येतत्प्रतिपादकः पञ्चमः सर्गः ।

---

१. वृजिनं—पाप (कल्मषं वृजिनं तमः—अभि० ६।१७)

छठा सर्ग

प्रतिपाद्य : श्रावकों को दिए गए मिथ्या प्रत्युत्तरों से मुनि भिक्षु का मानसिक संवेदन। तीव्र शीतज्वर की असह्य पीड़ा से मनोमन्थन और सत्यमार्ग की अभिव्यक्ति का संकल्प।

श्लोक : १३४

छन्द : तोटक

वर्ण्यम्

मुनि भिक्षु ने राजनगर के संशयशील श्रावकों को सुना और उन्हें अवास्तविक किन्तु गुरु-मोह जनित उत्तरों से तात्कालिक समाधान देकर संतुष्ट कर दिया। उसी रात में वे तीव्र ज्वर से आक्रान्त हुए। सोचा, 'यदि इस समय मेरी मृत्यु हो जाए तो कैसी दुर्गति होगी, क्योंकि मैंने असत् प्ररूपणा कर सच को झूठ और झूठ को सच किया है। यह महानतम पातक है।' उन्होंने संकल्प किया—**'यदि मैं ज्वरमुक्त हो जाऊं तो निर्भीकतापूर्वक यथार्थमार्ग की प्ररूपणा करूंगा, फिर चाहे मुझे कितने ही कष्ट क्यों न सहने पड़ें।'** संकल्प फलवान् बना। मुनि भिक्षु ज्वरमुक्त हो गए।

षष्ठः सर्गः

१. प्रणिपत्य जिनं जितरागगणं, गणराजनिषेवितसेव्यपदम् ।
पदपद्मशिलीमुखजालजगज्जगदीशमनीशमनीषिमतम् ।।

२. अथ भिक्षुमुनेः प्रतिबोधविधा, सुविधाजनकं जनकञ्जहिते ।
प्रतिपाद्यविवक्षुरपक्षतया, विवृणोम्यधुनात्मिकजागरणम् ।।

(युग्मम्)

राग-द्वेष के विजेता, गणधरों से पूजित, जगत् के अधिनायक, मनीषि-मान्य तथा परमेश पद को अलंकृत करने वाले जिनेश्वर देव को नमस्कार करता हूं, जिन के पादपद्मों में समस्त संसार भ्रमर की तरह विहरण करता है। अब मैं भव्य प्राणियों के सहज उद्धार के लिए महामना भिक्षु स्वामी के प्रतिबोध का कारण बतलाकर, निष्पक्षदृष्टि से उनकी आत्म-जागृति पर प्रकाश डाल रहा हूं।

३. अथ तेषु गतेषु जनेषु तदा, मुनिराजमनोजितमारमनः ।
प्रतिवाक्यजुगुप्सितवेदनया, व्यथितं मथितं कुथितं श्लथितम् ।।

उन सत्यनिष्ठ श्रावकों के चले जाने के बाद, उनको दिए गए मिथ्या प्रत्युत्तरों की जुगुप्सित पीड़ा से महामना भिक्षु का कामविजयी मन तिलमिला उठा और वह अत्यन्त व्यथित, विलोड़ित, कुथित एवं शिथिल हो गया।

४. अविकल्पमकल्प्यमजल्प्यमहो, सहसा सबलं निबलत्वमभूत् ।
उदिता प्रतिवञ्चनपातकता, किमुवारयितुं किमु चेतयितुम् ।।

उनका सबल मन कल्पनातीत एवं वचनातीत निर्बलता से सहसा पराभूत हो उठा, मानो दिए गए मिथ्या प्रत्युत्तरों की पातकता ही उनको ऐसा करने से रोकने के लिए चेतावनी देती हुई उदित हुई हो।

५. तदसौख्यमसोढुमनूरुपतिः, समवेदनताल्पतया विमतिः ।
अनलाहुतरुक् तरसा तरसा, निजतीर्थततौ तततीव्रगतिः ।।

मिथ्या प्रत्युत्तरों से खिन्न-चेता भिक्षु की असह्य व्यथा से व्यथित होता हुआ तथा उनके प्रति अपनी संवेदना प्रगट करता हुआ मानो उनकी (भिक्षु की) वेदना को देखने में असमर्थ होता हुआ, स्वयं तेजोहीन बन वह सहस्ररश्मि सूर्य अपनी रश्मियों को अग्नि को उपहृत कर—लाल होकर शीघ्रातीशीघ्र अपने तीर्थस्थान—अस्ताचल की ओर तीव्रगति से जाता हुआ दृष्टिगत हो रहा था।

६. जगतः किरणानवकृष्य निजान्, कमलानि विमुद्रय सुमुद्रय रयात् ।
विरचय्य सुशोकितकोकगणान्, नयनप्रगतिं प्रतिरोध्य नृणाम् ॥

७. निजमण्डलकुण्डलमण्डनतो, हरितं वरुणस्य विभूषयितुम् ।
भ्रमणातिपरिश्रमखिन्नमनाः, शयनेच्छुरिवायमपायमृते ॥

(युग्मम्)

अस्तंगत होते हुए सूर्य ने संसार से अपनी किरणों को समेट कर, स्वयं संकुचित हो, सूर्यविकासी कमलों को संकुचित कर डाला। उस समय चक्रवाक के समूह शोकमग्न हो गये तथा मानवों की दृष्टि निरुद्ध हो गई। सूर्य अपने मंडलरूप कुंडल से वरुण दिशा को अलंकृत करने तथा अपने भ्रमण के अतिश्रम से खेदखिन्न मन को विश्राम देने के लिए निर्विघ्नरूप से शयन करने की इच्छा से अस्ताचल की ओर चला गया।

८. अदसीयकथापकथाकथनं, कलितुं व्रजतीव विदेहविभौ ।
अथवा जिनधर्मविलोपकतामसहिष्णुरिवैति गिरौ गहने ॥

अथवा ऐसा लगता है कि सूर्य विदेह क्षेत्र में विहरमान श्री सीमन्धर स्वामी के पास इन महामुनि की दिन में घटित घटना को यथावत् कहने के लिए चला गया हो या जैन धर्म की इस पराभूति को सहन न कर सकने के कारण गिरि के गहन गह्वर में जा छिपा हो।

९. छलतो बलतो मलतो दलतः, कथमेव भवन्त इह प्रबलाः ।
वितथा अपि चित्रमवेत्य तपः, परितप्तुमिवाद्रिगुहामुपयन् ॥

अथवा छल, बल, मलिनता एवं गुटबन्दी से मिथ्याभाषी श्रावक कैसे पनपते जा रहे हैं, मानो इससे परितप्त होकर ही यह सूर्य तप तपने के लिए गिरि गुफा में प्रस्थित हो गया हो।

१०. कुमतेः कुमतिकरवाललवादमुना विधिना जिनधर्महतिम् ।
अवलोक्य सुदुर्लभमुद्धरणं, विरजन्नपराद्रिमिवाधिवसन् ॥

अथवा पाखण्डियों की कुमति रूप तीक्ष्ण धार वाली तलवार से जैन धर्म की हत्या होती देख और उसका उद्धार भी दुर्लभ जानकर मानो यह सूर्य सुदूरवर्ती अस्ताचल पर्वत पर जा बसा हो।

११. इदमुत्तरतापवितप्ततनुर्घनघर्ममपोहितुमारतितः ।
सवनेप्सुरगाधसमुद्रजले, प्रविशन्निव भाति कराकुलितः ॥

अथवा भिक्षु मुनि द्वारा दिए गए मिथ्या प्रत्युत्तरों के संताप से संतप्त सूर्य अपनी शारीरिक गर्मी को दूर करने के लिए स्नानेच्छु हो अपनी किरणों को समेट कर अपार समुद्र जल में प्रवेश करता हुआ-सा दिखाई दे रहा था ।

१२. न हि कोऽप्यवबोधयितुं प्रभवो, यदि कोपि भवेत् शृणुयादिह कः ।
तुमुलं प्रचिकीर्षुरृतेन समभिति शोकहतः स्खलितांह्रिरिव ॥

अथवा इस संसार को प्रतिबोध देने में कोई समर्थ नहीं है, यदि कोई है भी तो उसकी सुनने वाला कोई नहीं, यह सोचकर शोकाकुल सूर्य सत्य का पक्षधर बन, व्याकुलता से शब्द करता हुआ लंगड़े की भांति लड़खड़ाता-सा जाता हुआ नजर आ रहा था ।

१३. क्रमशः स्वकरानपहाय खरान्, परिवृत्य मनोरममण्डलकम् ।
परिसंवृतशुक्लहरिद्ररुचिः, शुभशोणसमः प्रविभूय जवात् ॥

१४. रुचिराचरणं च दुराचरणैश्चरितं चरितच्युतचेतनकैः ।
हतघातकपातकपिञ्जरितं, जिनराजमतं बहुमन्थरितम् ॥

१५. अतिभावतमः पतितं भुवनं, प्रतिभाल्य भयाकुलमार्यकुलम् ।
हृदयान्तरसंभृतसंतमसं, निरसन् बहु बाह्यतमश्छलतः ॥

१६. अधमाधमशंकुरसंकुलितं, समयं समवेत्य तथा कुनयम् ।
ग्लपयन् ग्लपिताननतस्तरणिरिह भारतवर्षमपास्य गतः ॥

(चतुर्भिः कलापकम्)

अथवा दुराचरणशील तथा चरित्रभ्रष्ट मनुष्यों द्वारा उत्तम आचार-विधि का हनन, हत्यारे पापियों द्वारा जिनमत को जर्जरित व मन्थरित, विश्व को मिथ्या अन्धकार से अभिव्याप्त एवं आर्यकुलों को भय-विह्वल तथा युग को अधमाधम हिंसकों एवं अन्यायियों से अभिव्याप्त देखकर हृदय में जो क्रोध उभर रहा था उसको बाह्यतम के मिष से बाहर निकालता हुआ सूर्य ग्लानिपूर्वक खिन्नानन से अपनी तीक्ष्ण किरणों को समेट कर, अपने मण्डल को घुमाता हुआ, गोल, शुक्ल, हरिद्र एवं लाल होता हुआ इस भारत को छोड़ अन्यत्र चला गया ।

१७. क्षयिणं क्षयिणं दयनीयतमं, तलिनं मलिनं बलिनं तरणिम् ।
स्फुटमस्तमितं शमितं समिनं, समवेक्ष्य तमस्तिमिरारिपतिम् ।।

१८. सहसैव समग्रमुदग्रमहो, रिपुराज्यमदस्तिमिरं जगृहे ।।
उपलभ्य निजीयशुभावसरं, नयते नहि कः कमनीयफलम् ।

(युग्मम्)

उच्च आकाश में गमनशील व बलिष्ठ सूर्य को क्षीणतर, दयनीय, दुर्बल, मलिन, श्रान्त एवं संकुचित अवस्था में स्पष्ट रूप से अस्त होता हुआ देख, उस अंधकार ने सहसा उसके विशाल साम्राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया। ऐसा शुभ अवसर पाकर कौन भला अपने ईप्सित कार्य को सिद्ध नहीं करेगा ?

१९. लसदम्बरशम्बरशम्बरके, तिमिरोर्मिमिषात् प्रससार तमः ।
अमिलत्प्रतिरोधकरो न कुतः, श्रमिताऽश्रमितासुमतां सुखदम् ।।

अब वह अंधकार चमकते हुए आकाश-सिन्धु के जल में काली-काली कल्लोलों के मिष से चारों ओर फैल गया। वह श्रान्त और अश्रान्त सभी प्राणियों के लिए सुखद था, इसलिए किसी ने उसका प्रतिरोध नहीं किया।

२०. क इहैक उदस्तमुपैतितरां, क इहैक इयर्त्युदयं प्रकटम् ।
विकसन्तकि केपि कषन्तकि के, परिवर्तनशीलमिदं भुवनम् ।।

इस दुनियां में जहां एक का ह्रास होता है तो एक का विकास भी। एक कुम्हलाता है तो एक खिलता भी है। इसीलिए तो यह संसार परिवर्तनशील है।

२१. अहमस्मि महाशुभभाग्यवती, मुनिभिक्षुरयं धृतधीरधृतिः ।
मयि नेष्यति बोधमिति प्रमुदा, रजनी मुदिताऽमुदितान्तकरी ।।

यह धैर्यधारक धीर पुरुष मुनि भिक्षु मेरी अवस्थिति में (रात में) बोधि प्राप्त करेगा, इसलिए मैं परम सौभाग्यवती हूं, ऐसा विचार कर वह प्रसन्न रात्री सबकी खिन्नता को नष्ट करती हुई प्रमुदित हो उठी।

२२. तत एव शशाङ्कसुदीपरुचिं, विरचय्य किमूडुसमूहसुमम् ।
अरविन्दति चन्दति नन्दतकि, वियदीन्दति भन्दति विन्दति या ।।

२३. अथ तत्र हि सत्वरतीव्रतरः, शिशिरज्वर उत्सुकतां विदधत् ।
तनुतेऽतनुभिक्षुतनाऽवतनु, प्रतनुत्वमुदित्वरमुग्रतरम् ।।

(युग्मम्)

इसीलिए रात्री चंद्रमारूपी दीपक को प्रज्वलित कर तारकगणरूपी सुमनों से कमल की भांति सुशोभित होकर चमक रही थी। उसने आकाश को प्रकाशमय, शुभ्र तथा स्वच्छ बना डाला।

उसी रात में शीतज्वर ने उत्सुकता के साथ भिक्षु के बलिष्ठ शरीर को तीव्रता से आक्रान्त कर डाला और उसे अत्यन्त दुर्बल बना दिया।

२४. शिशिरे तुहिनाचलशीतलता, परिशीलितमीलितमारुतिकम्।
लगति स्फिरशीतमतीतमतं, वपुरुच्छलति ज्वलति ज्वरतः॥

उस समय उन्हें शिशिरकालीन हिमगिरि की शीतलता के समान शीतमिश्रित वायु की ठंडक से तीव्र सर्दी लग रही थी। उनका समूचा शरीर उछल रहा था और साथ-साथ ज्वर से जल भी रहा था।

२५. घनघोरकठोरकृपाकृपणकुपितारिकृपाणकुपात इव।
मथनोन्मथनं व्यथनोद्व्यथनं, समगादऽसुखं विमुखं प्रमुखम्॥

अति निष्ठुर हृदय वाले कुपित शत्रु की तीक्ष्ण तलवार से लगी हुई मार्मिक चोट की तरह ही उस तीव्र शीत ज्वर से उनके अप्रिय एवं असह्य वेदना हो रही थी। उनका शरीर अत्यन्त उन्मथित और व्यथित हो रहा था।

२६. नहि सीदति साधुजनो व्यथनान्, निजकर्मविपाकमवेत्य महान्।
कृतकर्मफलं विफलं रचितुं, ह्यनुभूतिमृते नहि कोपि विभुः॥

संतजन व्यथा से खिन्न नहीं होते। वे जानते हैं कि यह स्वकृत कर्मों का ही विपाक है। किए हुए कर्मों के फल को भोगे बिना कोई भी प्राणी उनको विफल नहीं कर सकता।

२७. धृतिधारिधुरंधरभिक्षुमुनिः, सहते सहनः समभावतया।
तडिता घनवेगरयैर्निहतः, कलते किमु मेरुरुदेजनकम्॥

धैर्य धारण करने में धुरंधर सहनशील महामना भिक्षु उस ज्वरोत्पन्न वेदना को समभाव से सहते रहे। क्या मेघ के प्रचंड वेग के साथ विद्युत् से आहत होकर मेरु पर्वत कभी प्रकंपित होता है?

२८. समयज्ञफलं समिते समये, प्रशमोपशमामृतशीलनता।
स्थिरतां भजते समराभिमुखे, स हि वीरवरो रणधीरवरः॥

समयज्ञता और सहनशीलता का परिचय तो समय आने पर ही मिलता है। वही सच्चा वीर एवं प्रशस्त योद्धा है जो युद्ध के मोर्चे पर डटा रहता है।

२९. दरदैन्यदशापरिदर्शनतः, परिदेवनतः परिकर्षणतः ।
परतापनतोऽर्त्तिरपैति नहि, समतापरिवेदनमेव शुभम् ।।

प्रत्येक व्यक्ति के समक्ष अपनी दयनीय दशा को दिखाना, विलाप करना, अपने आपको कोसना तथा औरों को दुःख देना—इन प्रवृत्तियों से कभी भी दुःख का अवसान नहीं होता। उसके अवसान का एकमात्र उपाय है, परिताप को समतापूर्वक सहन करना।

३०. उदितेषु पुराकृतकर्मसु सत्सहनं गहनं परमप्रशमात् ।
महतां महतां सुकृतैककृतामिदमेव महत्त्वमुदारतरम् ।।

परम उच्च कोटि के महानतम सुकृत का सम्पादन करने वालों के लिए भी पुराकृत कर्मों के उदय से होने वाले दुःखद कर्म-विपाक को उपशांत भाव से सहन करना ही श्रेयस्कर होता है।

३१. प्रशमीशपुरन्दरभिक्षुमुनिः, पुरुषे पुरुषोत्तमभिक्षुमुनिः ।
अवितन्द्रमुनीन्द्रमृगेन्द्रमनाः, क्षमते परितापकतापमिमम् ।।

कष्टसहिष्णु व्यक्तियों में अग्रणी, पुरुषों में पुरुषोत्तम, जाग्रत-मुनियों में मृगेन्द्र के समान महामना मुनि भिक्षु उस संतापकारक ताप (ज्वर) को समभाव से सहन करते रहे।

३२. परिवर्धयतीव भयं रचयन्, ज्वर एष विशेषतरस्तरसा ।
तुहिनोऽपि ततो द्विगुणो द्विगुणः, परिकम्पितगात्रमुदग्रतरम् ।।

ज्यों-ज्यों वह ज्वर अपने विशेष फटाटोप से भय उत्पन्न करता हुआ बढ़ता जा रहा था त्यों-त्यों शीत भी द्विगुणित गति से वृद्धि पा रहा था। इसके फलस्वरूप मुनिश्री का शरीर और अधिक थरथराने लगा।

३३. नहि तिष्ठति साधुभिराकलित, उपचारपरैऽपरैऽरसकौ[१] ।
सुमनोभिरनन्तरयत्नकरैरधिकाधिकवेलितसिन्धुरिव ।।

देवताओं द्वारा प्रचुर प्रयत्न किये जाने पर भी जैसे समुद्र की वेला अपनी उछल-कूद से विरत नहीं हुई, वैसे ही सेवा में संलग्न मुनियों द्वारा थामे जाने पर भी मुनि भिक्षु का कांपता हुआ शरीर वश में नहीं आ पाया।

३४. तनुषः प्रतिसन्धिविसन्धिरतस्त्रुटतीव भिनत्ति भनक्ति भिया ।
मुनिराजमनोबलमेकमिदं, त्रुटितं न दितं क्षुभितं न मनाग् ।।

---

१. असकौ इति असौ।

शरीर की समस्त संधियां एवं प्रतिसंधियां टूटती हुई एवं भेदी जाती हुई-सी प्रतीत हो रही थीं। इतना सब कुछ होते हुए भी मुनिश्री का मनोबल इतना मजबूत था कि उस वेदना से न तो वह टूटा और न विदीर्ण तथा क्षुब्ध ही हुआ।

३५. धमनीधमनीषु महाक्रमणं, विहितं बहुतापगदेन मदैः।
अशकन्न तदीयसुभावुकतामपहस्तयितुं च विहस्तयितुम्॥

वह मदोन्मत ज्वर-रोग मुनिश्री के स्नायुओं पर आक्रमण कर चुका था। पर वह मुनिश्री की कल्याणकारी भावना को छीन नहीं सका और न उन्हें व्याकुल ही बना पाया।

३६. अवमर्दकरो बहिरङ्गतयाऽबहिरङ्गतयाऽमदमोदकरः।
ननु बाह्यकटुः स्वजनो यमिव, किमु वर्धयितुं पटुरन्तरतः॥

वह ज्वर बाह्यदृष्टि से भले ही उनके शारीरिक कष्ट का कारण बना हो, पर अन्तर्दृष्टि से तो वह स्वस्थ प्रमोद को पैदा करने वाला ही था। जैसे ऊपर से कटु लगने वाला स्वजन अन्तर् में हितदृष्टि वाला ही होता है।

३७. किमु सत्यदलस्य सहायकतामवकल्पयितुं न विकल्पयितुम्।
स्वयमेव ऋतं ह्यमुमीरयितुमुदगादिह तापमिषेण रयात्॥

ऐसा प्रतीत होता है कि वह ताप वास्तव में ताप नहीं, पर उन सत्याग्रही श्रावकों को सहयोग देने के लिए तथा मुनि भिक्षु को चेतावनी देने के लिए ही ताप के मिष से स्वयं सत्य वहां प्रगट हुआ है।

३८. नहि धूनयते धर्मनि धर्मनि, तुदतीह परन्त्वयमेतमृषिम्।
वद सत्यमिदं वद सत्यमिदं, दरमादर सादरमात्मबलैः॥

वह ज्वर मुनिश्री की नस-नस में पीड़ा पैदा नहीं कर रहा था, परंतु मानो उन्हें यह चुनौति देते हुए कह रहा था—'हे महाभाग! घबराओ मत, निर्भीक बन अपने आत्मबल के साथ सत्य का प्रकाशन करो।'

३९. असुसंहृतिकारकरूपमिदं, ज्वर एष ऋषिं प्रतिबोद्धुमधात्॥
न भवेन्मरणं न भवेन्मरणं, भव सत्यवशंवद इत्यऽवदत्॥

इस मुनि भिक्षु को प्रतिबोध देने के लिए ही वह ज्वर प्राण-संहारक का-सा रूप धारण कर कह रहा था—'हे आयुष्मन्! मृत्यु न हो जाए। मृत्यु से पूर्व ही आपको सत्य स्वीकार कर लेना चाहिए।'

४०. ज्वर एष किमस्य विशेषतया, समगादिह नेत्रविकासकृते ।
उदजीघटदक्षियुगं युगपदऽत एव तुतोष पुपोष परम् ।।

क्या वह ज्वर मुनिश्री की अन्तरङ्ग आंख को खोलने के लिए ही विशेष रूप से आया था ? अपने इस कार्य को सम्पन्न हुआ देख वह ज्वर अपनी भावना की पुष्टि से संतुष्ट हो गया ।

४१. न निरामयताभिरयं वदिता, सकलज्ञसमाहितसत्यवचः ।
तत एव चमत्कृतिमीक्षयितुं, किमय बलिनं मुनिमाक्रमते ।।

रोग की पीड़ा के बिना यह मुनि सर्वज्ञ प्रतिपादित सिद्धांतों का सही रूप में दिग्-दर्शन नहीं करा पायेगा, यह सोचकर ही इस ज्वर ने अपना चमत्कार दिखाने के लिए इनके बलिष्ठ शरीर पर आक्रमण किया था ।

४२. रविचन्द्रमसोर्ग्रहणं न भवेन्, न तदा गणकाऽऽगमविश्वसितिः ।
अविरेचनतो न भिषक्प्रमितिर्न च रोगमृते कृतकर्ममतिः ।।

सूर्य-चन्द्र के ग्रहण के बिना गणितशास्त्र पर तथा विरेचन के बिना आयुर्वेद पर जैसे विश्वास नहीं होता वैसे ही रोग आदि विपत्तियों के बिना कृतकर्मों पर विश्वास नहीं होता ।

४३. न गदास्तिकताऽत्र भवेत्तदिह, कृतकर्म न कोऽपि विचारयते: ।।
न च पश्यति कोपि कदापि नरः, सुकृतं मरणं परलोकगतिम् ।।

इस विश्व में यदि रोगों का अस्तित्व नहीं होता तो अपने किये हुए कर्मों को कौन स्वीकार करता और कौन अपने सुकृत, मृत्यु तथा परलोक की ही चिन्ता करता ?

४४. यदसातककर्म भवेन्न तदोत्तरति श्रितखं जगतां नयनम् ।
कथमुन्मिषताश्रियमाश्रयते, कमपि प्रशमेन च पश्यति किम् ।।

यदि असात-वेदनीय कर्म नहीं होता तो आकाश में लगी हुई लोगों की आंखें न तो नीचे उतरतीं, न खुलतीं और न शांति से औरों को देख ही पातीं ।

४५. अत एव बलात् प्रतिबोधयितुं, वितथाभिमुखात् प्रतिकर्षयितुम् ।
अपवर्गपथं प्रणिवेशयितुं, ज्वर एतमृषिं परिरम्भयते ।।

ऐसा प्रतीत होता है कि मानो भिक्षु को अकस्मात् प्रतिबोध देने के लिए, सत्य की ओर आकृष्ट करने के लिए तथा मोक्ष मार्ग में स्थापित करने के लिए ही यह ज्वर ऋषि भिक्षु का आलिंगन कर रहा है ।

४६. सुधियं हरतीत्यपवादमिममपकर्तुमदः प्रतिबोधनतः ।
सुधियां च सुधीप्रद एष इति, सुयशो वरितुं स्पृशतीह मुनिम् ॥

'यह ताप मानव की सुबुद्धि का हरण करने वाला है', अपने पर लगे इस अपवाद को दूर करने के लिए तथा 'विद्वद् जनों को यह ताप सुबुद्धि देने वाला है'—ऐसा सुयश कमाने के लिए ही मानो ताप ने इनका स्पर्श किया है।

४७. अतिरुष्टपिशाचनिशाचरवत्, प्रबलेन रयेन बिभीषयति ।
अवलोक्य तथाविधतापतपं, भयभीत इवाशु बभूव मुनिः ॥

वह तीव्र ज्वर अत्यन्त रुष्ट पिशाच एवं निशाचर की भांति ही उन्हें भयभीत कर रहा था। उस प्रकार के अत्युग्र ताप को देखकर वे शीघ्र ही भयाक्रांत हो गए।

४८. नहि सुष्ठुकृतं नहि सुष्ठुकृतं, बहुदुष्ठुकृतं वितथेन इति ।
अवलोचयते ह्यवलोचपटुर्भवचित्रविचित्रितचित्रहृदि ॥

विमर्श करने में पटु महामुनि भिक्षु ने सोचा—'असत्य की प्ररूपणा कर मैंने अच्छा नहीं किया, उचित नहीं किया। मैंने बहुत अनर्थ कर डाला।' इस प्रकार सोचते हुए उनके हृदय-पटल पर भव-भ्रमण के अनेक चित्र उभर आए। उन्होंने सोचा—

४९. अतिशायिभयङ्करकष्टकरे, किरणै रहितेऽधिकसंतमसे ।
तमसां पटलैः परिरुद्धपथे, पथकुत्सितचिक्खलके नरके ॥

५०. नरकारि[1]निशातकृपाणधरे, धर[2]कर्कशकर्करभेदपरे ।
परमावधितापतुषारमये, मय[3]वक्त्रमुखोद्भवजन्मपदे ॥

अरे भीखन! तू नारकीय स्थान और वहां के जीवों के कष्टों का चिन्तन कर। नरक में अत्यंत भयंकर कष्ट, प्रकाश का अभाव, चारों ओर सघन अंधकार, गहन अंधकार से अवरुद्ध पथ तथा कुत्सित—पीब, चर्बी आदि के कीचड़ से सने हुए मार्ग हैं। वहां की पृथ्वी का स्पर्श वासुदेव की तीक्ष्ण तलवार की धार के समान अत्यंत तीक्ष्ण है। वह धरा पर्वत के कठोर कंकरों की तरह भेदन करने वाली है। वहां उत्कृष्ट शीत, ताप आदि के कष्ट हैं। नारकीय जीव उष्ट्र की गर्दन की आकृति वाली कुंभियों में उत्पन्न होते हैं।

---

१. नरकारिः—श्रीकृष्ण।
२. धरः—पर्वत।
३. मयः—उष्ट्र।

५१. पदतोऽपशदैः शितशस्त्रशतैः, शितधार्मिककैरसुरैः प्रकृतैः ।
कृतमाहननं मथनीमथनं, मथनैर्मथितस्य इव प्रतनु ।।

ऐसे नरकों में तीक्ष्ण शस्त्रों को धारण करने वाले नरक के अधिकारी नीची जाति के वे परमाधार्मिक देव उन नारक जीवों का हनन करते रहते हैं और मथनी से मथे जाने वाले दही की भांति उन्हें मथ डालते हैं।

५२. तनुषां लवनं गगनोद्धरणं, धरणीधरतः पतनापतनम् ।
पतनोपरिपादनिपातशतं, शतकोटिकरोटिशिरःस्फटनम् ।।

नरक में वे परमाधार्मिक देव नारक जीवों के शरीर को छिन्न-भिन्न कर डालते हैं। वे नारकों को आकाश में उछालते हैं, ऊंचे पर्वतों से उन्हें नीचे गिराते हैं, नीचे गिरे हुओं को पैरों से रौंद डालते हैं, तथा वज्र के प्रहार से उनके मस्तिष्क की हड्डियों को और शिर को फोड़ डालते हैं।

५३. स्फुटसन्धिविसन्धिविकुट्टनकं, नखरायुधहिंस्रगणैर्ग्रसनम् ।
स्वनदारुणदन्तदलैर्दलनं, दलनैः क्वचनापि न गन्तुमलम् ।।

वे देव उन नारकीय जीवों की संधियों, प्रतिसंधियों को चूर-चूर कर डालते हैं। वे स्वयं सिंह, व्याघ्र आदि हिंस्र पशुओं का रूप धारण कर उन नारक जीवों को खा जाते हैं। वे अपने भयंकर तीखे दांतों से उनको चीर डालते हैं। इस प्रकार प्रताड़ित होते हुए भी वे जीव बचाव के लिए कहीं भी नहीं जा सकते।

५४. मलिनाशयतोऽथ मिथोऽतिरणं, रणभीषणभूरिभयं तुमुलम् ।
तुमुलारवगौरवदीनतरं, तरसा तरलायितवीतबलम् ।।

मलिन विचारों वाले वे नारक जीव एक दूसरे को पूर्वभव की शत्रुता का स्मरण कराते हुए परस्पर भीषण संग्राम करते हैं एवं जोर-जोर से चिल्लाते हैं और उस तुमुल ध्वनि से वे दीन एवं दुर्बल बन जाते हैं।

५५. बलकीलनकर्त्तनसंखननं, ननकारकृतेपि न संशरणम् ।
शरणाश्रितवैतरणीतरणं, तरणाकुलताडनकादि बहु ।।

५६. बहुनालमनन्तमनन्तमदो, मदमोचकमत्र समं हननम् ।
न निमेषमितं लवलेशसुखं, सुखतो विमुखं बहुधा सहितम् ।।

(युग्मम्)

नरक में परमाधार्मिक देव उन नारकों को तीखी कीलों से कीलते हैं, करवत से चीरते हैं, कुद्दाल से खोदते हैं। ऐसी स्थिति में वे नारकीय जीव 'मत मारो, मत मारो' चिल्लाते रहते हैं, परन्तु वे देव उनको पीटने से विरत नहीं होते। नारक जीव शरण की खोज में वैतरणी नदी की ओर दौड़ते हैं। उसमें छलांग लगाते हैं और नदी के उबलते पानी में उबल जाते हैं। वहां भी बहुविध ताड़नाएं प्राप्त होती हैं। अधिक क्या कहा जाए, वहां हनन और मानभंग के साथ-साथ अनन्त दुःख अनन्त बार मैंने सहन किए हैं। वहां निमिषमात्र का भी सुख नहीं है। वहां सुख से दुःख अनन्त गुना है।

५७. तत एतदुपेतगदोऽस्ति कियत्, कृतपापमवश्यमुदेतितराम्।
परितापयते बहिरङ्गमिदं, बहुभुक्तमनन्तमनन्तभिदा॥

अरे भीखन! उन नारकीय कष्टों की तुलना में यह ज्वर का कष्ट तो है ही कितना? किए हुए कर्मों का उदय तो सुनिश्चित है ही। यह ज्वर तो बाह्य अंग को ही परितप्त कर रहा है। मैंने अनन्त बार अनेक प्रकार के शारीरिक कष्टों को भोगा है।

५८. अपवादभयं न विवादभयं, न नियोगभयं न वियोगभयं।
नहि कष्टभयं नहि पृष्ठभयं, नहि मृत्युभयं न भयस्य भयम्॥

मुझे न तो अपवाद का भय है, न विवाद का भय है, न अनुशासन का भय है, न वियोग का भय है, न कष्टों का भय है, न पीछे का भय है, न मृत्यु का भय है और न भय का ही भय है।

५९. परमस्ति यदन्तरखिन्नमनो, नहि सुष्ठुकृतं बहुदुष्ठुकृतम्।
शरणागतसत्यवदैर्मनुजैर्यदऽसत्यसमाचरितं रचितम्॥

किन्तु मेरा अन्तर् मन अत्यंत खिन्न है। वह बार-बार कहता है—'अच्छा नहीं किया, बहुत बुरा किया।' शरण में आए हुए सत्यभाषी श्रावकों के साथ मैंने असत्य का व्यवहार किया। (उन्होंने जो कहा वह सत्य था और मैंने जो समाधान दिया वह मिथ्या था।)

६०. उचितं रुचितं परिवेद्य तु मामनुसृत्य तर्कविरताऽविरतैः।
हृदयं विकचय्य विचिन्त्य समं, लपितं च यथार्थगतं विगतम्॥

उन सत्यनिष्ठ श्रावकों ने मुझे यथार्थवादी समझ कर ही मेरे सम्मुख अपना हृदय खोलकर उचित तथा सुचिन्तित विगत विचारों को प्रस्तुत किया था।

६१. अनयाऽप्रमया गुरुमोहतया, बहुमानसुनामविलोभनया।
अवगोप्य जिनोक्तनियुक्तमतं, विनिगूढसदर्थकदर्थनया॥

६२. विदितात्महृदा जनतावचनमतिमात्रयथातथमार्यमयम् ।
न तथापि मया सरलाशयत, उररीकृतमेव मनागपि हा !॥

(युग्मम्)

परंतु मैं अपने गुरु के व्यामोह से मूढ और भ्रांत होकर, बहुमान और सुनाम के लोभ से जिनेश्वरदेव के यथार्थ मत का गोपन तथा सत्य की कदर्थना कर मैंने श्रावकों का निग्रह किया ।

मैं जानता था कि इन श्रावकों का कथन बिलकुल यथार्थ है, सही है, परंतु मैंने सरल हृदय से उसको स्वीकार नहीं किया, इसका मुझे खेद है ।

६३. उररीकरणं तु सुदूरतरमनभीष्टनिकेवलशिष्टशय: ।
विचिकित्सवतोऽवितथानपि हा ! विपरीततया परिणामितवान् ॥

सत्य को स्वीकार करना तो दूर रहा, परन्तु अनुचित शिष्टाचार के मोह से मैंने वास्तविक संशय करने वाले उन श्रावकों को ही विपरीत रूप में परिणत कर डाला ।

६४. प्रविभूय समाश्रयसाधुरहं, कृतवान् किल कीदृशकार्यमिदम् ।
मयि निर्मितनिश्चलचित्तवतां, गलकर्त्तनमेव मया विहितम् ॥

समता वृत्ति वाला साधु होकर भी मैंने यह कैसा कार्य कर डाला ! ये श्रावक मेरे पर ही चित्त टिकाए निश्चित होकर बैठे थे । मैंने तो इनका गला ही काट डाला ।

६५. अनुभूय शरण्यनिभं ननु मां, शरणं श्रितकं मम तैः सुजनैः ।
अह विश्वसितिक्षतिपातकता, परिलिप्तविलिप्ततमोहमयम् ॥

उन सुजन श्रावकों ने मुझे शरणभूत समझकर ही मेरी शरण ग्रहण की थी । किन्तु मैंने अपने आपको विश्वासघात के पातक से विशेष रूप से लिप्त कर ही लिया ।

६६. उपदेशकरोऽन्यनरेषु सदा, कुरु मा कुरु विश्वसितिप्रमयम् ।
अहमेव तदाऽऽचरमित्यमहो, धिकऽतोऽस्तुतमां मम भिक्षुकताम् ॥

मैं निरन्तर ऐसा उपदेश करता रहता हूं कि किसी के साथ विश्वासघात मत करो, मत करो, पर आज मैं स्वयं ही ऐसा विश्वासघात कर बैठा, इसलिए मुझे तथा मेरे इस दम्भपूर्ण भिक्षुभाव को शतशः धिक्कार है ।

६७. उपदेशपदे जितरागभवः, करणेषु न किञ्चिदपीह मम ।
कथमेव मदीयसमुद्धरणं, कथमेव च मामकसूद्धरणम् ॥

मैं उपदेश करते समय वीतराग-सा बन जाता हूं, परन्तु आचरण में तद्रूप कभी नहीं होता तो मेरा उद्धार कैसे होगा ? मेरा समुद्धार कैसे होगा ?

६८. अपरान् परिशासितुमुग्रबुधो, न निजं करणे तु न किञ्चिदपि ।
स्वनसम्भृतयान्त्रिकवाद्यनिभो, यदि वार्थिकरङ्गपतिप्रतिमः ।।

जो दूसरों को उपदेश देने के लिए उतावला बना रहता है, पर स्वयं के आचरण में उनका किञ्चित् भी प्रयोग नहीं करता तो वह ग्रामाफोन की रेकार्ड के समान अथवा अर्थार्थी अभिनेताओं के सदृश है ।

६९. अपराचरणाय सचेष्टतमः, स्वयमाचरितुं बहुपृष्ठतमः ।
स कथं सफलः परिहासपदं, तितउः किमु रिक्तनिपान् भरणे ।।

जो दूसरों को सत्याचरण कराने में सचेष्ट रहता है, परंतु उसी सत्य को स्वयं के आचरण में लाने में पीछे रहता है, वह कैसे सफल हो सकता है ? प्रत्युत वह उपहास का पात्र बनता है । क्या चलनी कभी रिक्त घड़ों को भर सकती है ?

७०. अवलम्ब्य दलं स्वगुरोः सबलं, परमार्थविवेकमपास्य मुधा ।
क्षणिकार्थमनर्थमदो व्यदधं, यदृतानऽनृतानऽकृषं ननु तान् ।।

मैंने अपने गुरु का सबल पक्ष ग्रहण कर अपने परमार्थ के विवेक को व्यर्थ ही गवां डाला । मैंने क्षणिक स्वार्थ-सिद्धि के लिए इतना बड़ा अनर्थ कर दिया कि केवल वाक्-बल से उन सच्चे श्रद्धालुओं को भी झूठा ठहरा दिया ।

७१. उपरोध[1]वशादवरोधवशात्, कथमेव कथं वदते वितथम् ।
श्रयते शरणं नरकं स नरो, वसुवच्छ्रमणस्य तदास्ति किमु ।।

जो मनुष्य अनुग्रह या अवरोध के वशीभूत होकर जैसे-तैसे असत्य बोलता है तो वह 'वसु' राजा की भांति नरक में ही जाता है तो फिर श्रमण की तो बात ही क्या !

७२. न निषेधविशेषणतो हि भवेन्, निरवद्ययथार्थवचः समयैः ।
जिनवाक्यविरुद्धवधादिकरं, दृशि सत्यमपि द्विगुणं वितथैः ।।

सैद्धान्तिक दृष्टि से केवल निषेधात्मक विशेषण लग जाने मात्र से ही कोई वाक्य निरवद्य नहीं हो जाता । देखने में सत्य प्रतीत होने वाले सत्य वचन यदि जैन वाङ्मय से प्रतिकूल एवं हिंसावर्धक हैं तो वे असत्य से भी गुरुतर हैं (बढ़कर हैं) ।

१. उपरोधः—अनुग्रह ।

७३. **अतितुच्छमसत्यमपीह वचो, वदतोऽङ्गभृतश्चरमा कुगतिः ।**
जिनवाग्विपरीतनिरूपयितुरधमा कतमा गतिरेति विभुः ॥

अत्यंत साधारण असत्य वचन का प्रयोग करने वाला भी मनुष्य चरम कुगति को प्राप्त होता है तो फिर वीतराग वाणी के विपरीत मिथ्या-प्ररूपणा करने वाले की तो न जाने कौनसी अधम गति होगी, यह सर्वज्ञ ही जान सकते हैं ।

७४. **प्रतिजन्म मिलेन्न ततो रसना, प्रमिलेच्च तिरस्कृतिदोषभरा ।**
यदि लौकमलीकमपीदृशकं, तदलौकमयस्य किमस्ति कथा ?॥

लौकिक झूठ बोलने वाला प्राणी जन्म-जन्मान्तर में भी जिह्वेन्द्रिय नहीं पा सकता । यदि संयोगवश पा भी लेता है तो उस प्राणी की वाणी तिरस्कार के दोष से युक्त होती है । इस स्थिति में लोकोत्तर झूठ बोलने वाले का तो कहना ही क्या ?

७५. **सकलानि तमांसि यदेकदले, इत एकदलेऽनृतमेकमिदम् ।**
न तथापि समुन्नतिमेति ततो, न च तानि नयन्ति कदापि नतिम् ॥

तुला के एक पल्ले में जगत् के समस्त पापों को रखा जाए और दूसरे पल्ले में असत्य-पाप को रखा जाए तो यह पल्ला कभी ऊपर नहीं उठेगा और समस्त पापों का पल्ला नीचे नहीं आएगा । अर्थात् असत्य का पल्ला ही भारी रहेगा ।

७६. **यदि कर्मवशान् मिथुनादिकरः, श्रयते पदवीं विषमस्थिततः ।**
नहि किन्तु कदापि मृषालपनः, श्रमणः समयादिति तन्न शुभम् ॥

यदि कोई मुनि कर्मोदय के कारण अब्रह्म जैसे बडे दोष का सेवन कर प्रायश्चित्त के द्वारा अपनी शुद्धि कर लेता है तो वह गण के सात पदों में से किसी भी पद को प्राप्त हो सकता है । परन्तु मृषावादी श्रमण किसी भी पद के योग्य नहीं हो सकता ।

७७. **यदनन्तजिनेन्द्रतदीयवचो, विनिरस्य किलैक गुरुं कुगुरुम् ।**
परिरञ्जयितुं श्रितसत्यनरान्, वितथीकृतवानिति शोच्यपदम् ॥

मैंने अनन्त तीर्थंकरों का तथा उनकी वाणी का निरसन कर केवल एक कुगुरु को प्रसन्न करने के लिए उन सत्य-परायण भक्तों को असत्य ठहरा दिया । यह मेरे लिए चिन्तनीय है ।

७८. **जिनराजगिरो विपरीत्य कियत्, कलुषं कलुषं कषितं च मया।**
अधुना यदि मे मरणं प्रभवेदधमां कियतीं गतिमेमि तदा ।।

मैंने भगवद् वाणी को उलट कर—उसके विपरीत प्ररूपणा कर कितने पापों को अर्जित किया है ? यदि इस समय मेरी मृत्यु हो जाए तो मैं कौनसी अधम गति में जाऊंगा ?

७९. **कुगतेः कुहरे पततो यदयं, न कुगुरुर्न कदापि सहायवरः।**
इदमंहस उत्सुकतां कलयन्नविता पविता द्रविता खलु कः ।।

कुगति के गहरे गर्त में गिरते हुए मुझे बचाने के लिए कुगुरु मेरे सहायक नहीं बनेंगे और उत्सुकता पूर्वक किये गये इन पापों से कौन मेरी रक्षा करेगा ? कौन मुझे पवित्र करेगा ?

८०. **निजवञ्चनकल्मषतोऽयमृषिर्बहुकम्पित इव बहुकम्पगतः।**
प्रतिकूलसमीरसमीरणतः, परिपेलववेलसमुद्र इव ।।

वे महामुनि स्व-वञ्चना के पाप से कंपन रोगी की भांति वैसे ही प्रकंपित हो गए जैसे प्रतिकूल पवन से प्रेरित चंचल लहरों से समुद्र प्रकंपित हो जाता है।

८१. **तदवस्थमहाशयभिक्षुमुनेः, परमात्मवलक्षविलक्षमतेः।**
पुरुषे पुरुषोत्तमताप्रगतिः परिकाशयति स्म विकासरतिः ।।

उस समय उन महान् विचारक, परम आत्मा की भांति अवदात और विलक्षण मति वाले भिक्षु स्वामी की आत्मा में प्रमोदजनक पुरुषोत्तमता की प्रगति जगमगा उठी।

८२. **स्वपरप्रवितारणपापभृतनिजचेतनपोतमहोदरतः।**
परिणामपवित्रितभावनया, क्षिपते समुदित्य मुहुस्तदरम् ।।

उस समय वे महामुनि स्व-पर वञ्चना के पातक से भरे हुए अपनी चेतना की नौका के महान् उदर को रिक्त करने के लिए उस वञ्चना के पातक को एकत्रित कर पवित्र परिणाम रूप भावना से उसे शीघ्र ही बाहिर फेंकने में संलग्न हो गए।

८३. **अमुना विधिना समये समये, सुकृतैकविचिन्तनचिन्तनकृत्।**
गुरुरागचितः प्रतिमार्गमितोऽप्यहह ! साधुपथं पुनरागतवान् ।।

इस प्रकार समय-समय पर सुकृत का चिन्तन करते हुए वे महामुनि, जो गुरु के मोह से उन्मार्गगामी बने हुए थे, पुनः सत्पथ में प्रतिष्ठित हो गए।

८४. नहि केऽनवधानपदं प्रगताः, नहि के चलिता नहि के स्खलिताः ।
इतिहासविदां यदि वेदनता, तदरं विदरं प्रवदन्तुतराम् ॥

इस संसार में ऐसा कौन होगा जो प्रमत्तता के पथ का पथिक न बना हो, पथ से विचलित न हुआ हो और चलते-चलते स्खलित न हुआ हो ? यदि इतिहासकार यह जानते हों तो शीघ्र ही प्रमाणित करें ।

८५. न यतोऽस्ति विमोहसमर्थनता, स्थितवस्तुपरिस्थितिदर्शनता ।
तदतीतजनान् बहुधन्यवदैर्नमयामि शिरः प्रणमामि पदान् ॥

मेरे पूर्वोक्त कथन में प्रमाद का समर्थन नहीं है । मैं केवल वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन कराना चाहता हूं । फिर भी यदि कोई अनवरत प्रमाद आदि से परे रहने वाला हो तो वह धन्यवाद का पात्र है और उस महापुरुष को मैं शिर झुकाकर नमन करता हूं और उसके चरणों में प्रणाम करता हूं ।

८६. कथनस्य तु हार्दमिदं विदुषां, विदितं हि विमुच्य दुराग्रहताम् ।
स्खलदङ्गभृतां पुनरेव पथाऽऽगमनं सहचित्रमहत्त्वमिदम् ॥

मेरे कथन का यह हार्द विद्वानों को ज्ञात ही है कि मार्ग-च्युत व्यक्ति यदि दुराग्रह को छोड़ पुनः सत्य मार्ग में प्रतिष्ठित होते हैं तो यह एक महान् आश्चर्य है ।

८७. इह केचिदभव्यकठोरहृदो, निजनामयशःप्रभुतासु सिताः ।
बुधितां त्रुटिमात्मभवामपि नो, जहति स्मयतः परलोकहताः ॥

इस संसार में कुछ व्यक्ति अभव्य जीवों के समान कठोर हृदय वाले, अपने नाम, यश एवं प्रभुता के बन्धन से बंधे हुए होते हैं । वे अभिमान के वशीभूत होकर जानते हुए भी अपनी त्रुटियों को अहंकारवश छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते । उनका परलोक भी बिगड़ जाता है ।

८८. किमुताऽपरसत्यतमान् प्रसभादभियोज्य मृषा कथमेव कथम् ।
वितथा अपि सत्यतमा भवितुं, स्वयमेव सदा प्रतियत्नपराः ॥

अपनी त्रुटियों को छोड़ना तो दूर रहा, परन्तु जो सत्यवादी हैं उन पर भी नाना प्रकार के अभियोग लगाकर असत्यवादी सिद्ध करने का प्रयास करते हैं और स्वयं झूठे होते हुए भी सत्यवादी बनने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं ।

८९. तदयं तु महिष्ठवरोऽस्य ततः, स्वत एव महत्वमुदित्वरकम् ।
न कुरङ्गमदस्य सुगन्धवरस्फुरणा परहेतुमतीमनिता ॥

परन्तु भिक्षु की आत्मा महान् से भी महान् थी, अतः सहजरूप से ही उनका महत्त्व निखर उठा। क्या कस्तूरी की सौरभ को प्रस्फुरित होने के लिए किसी परहेतु की अपेक्षा होती है ?

९०. परवञ्चनतोग्रहलाहलकं, परिपीतमुदीत[1]मतीवभृतम् ।
विशदाध्यवसायसुमन्त्रबलात्, परिकुञ्च्य विपञ्च्य विमुञ्चति तत् ॥

आचार्य भिक्षु ने सोचा—'परवञ्चनता—दूसरों को ठगने की वृत्ति उग्रतम विष के समान है। हमने जीवन में उसको पाला है, आचरण किया है और हमारा सारा जीवन उससे भरा पड़ा है। अब अपने अध्यवसायों को पवित्र बनाकर, उस पवित्रता के मंत्र-बल से अतीत का परिकुंचन कर, सारे विष का पाचन कर, बाहर निकाल फेंकना है।'

९१. प्रतिबोधयते प्रतिबुद्धमनाः, मनसैव मनः सुमनायितकम् ।
तकशान्तिकरः किरणः किरणैः, किरणान्न किमु प्रविकाशयते ॥

तब वे महामुनि स्वयं प्रतिबुद्ध होकर अपने विकसित मन को मन से ही प्रतिबोध देने लगे। क्या तस्कर आदि के उपद्रवों को शान्त करने वाला सूर्य अपनी ही किरणों से अपने आपको आलोकित नहीं करता ?

९२. शयतः स्वचिदा निजचेतनकं, न किरेत् कुशलोऽकुशलं च प्रति ।
प्रतिभः क इह स्वयमात्मपदे, पदतोऽपि कुठारविघातकरः ॥

अरे मन ! मोह के वश में होकर भी कौन कुशल पुरुष अपनी आत्मा का अपनी आत्मा के द्वारा अनिष्ट करता है ? कौन प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति पद-प्राप्ति के लिए अपने पैरों पर अपने आप कुठाराघात करता है ?

९३. करतः कृतकर्मनृपस्य यदि, यदितो भवभीमनिकृष्टपथः ।
पथिकः सुविवेकसुधाञ्जनतो, जनितामलचक्षुरुपैति पुनः ॥

अरे मन ! अपने किए हुए कर्मरूपी राजा का 'कर' चुकाने के भय से यदि कोई भव-भ्रमण के निकृष्ट पथ पर चलता है तो वह उसका अविवेक है। परंतु जब व्यक्ति सुविवेकरूप सुधाञ्जन से अपने नेत्रों को अमल कर लेता है तब वह पुनः सन्मार्ग पर आ जाता है।

९४. पुनरागतसाधुपथापसरं, सरसोपि करोति न सैव नरः ।
नरसिंहपदं समलङ्कुरुते, कुरुते स हि सर्वसमुद्धरणम् ॥

---

१. उदीतम्—ईङ्च् गतौ ।

अरे चेतन ! जो सत्यपथ को प्राप्त कर पुनः असत्य पथ का आश्रय नहीं लेता, वही वास्तव में निपुण है और वही नर-सिंह पद को विभूषित करने वाला तथा विश्व का उद्धार करने वाला होता है।

९५. रणमुग्रमुदग्रमुदस्य[1] यदा, यदलीकवलीक[2]हृतेन मया।
मयगात्रसमानमहावृजिनं[3], वृजिनं[4] रिपुसैन्यमिवाद्य जय ॥

रे मन ! जब मैंने असत्य वचन-समूह का सहारा लिया, उस समय मेरे साथ जो पाप संबद्ध हुआ (जिस पाप की विजय हुई) वह ऊंट के वक्र शरीर की भांति अति कुटिल था। आज मुझे उस पर वैसे ही विजय पा लेनी है जैसे अति प्रचंड रण को स्वीकार कर एक वीर पुरुष शत्रुसेना पर विजय पा लेता है।

९६. ममतासमतासुविवेककर !, जयमानसराजमराल ! मम।
दनुजोदयदोलितदोषगणे, भवजैत्रभुजोऽरिजितामनुजः[5] ॥

ममता-समता के विवेक को धारण करने वाले ओ मेरे मानसरोवर के राजहंस मन ! तुम्हारी जय हो। तुम पाखंडरूप दनुज के उदय से चञ्चल होते हुए दोष-समूह का विनाश करने के लिए तीर्थंकर देवों के जयशील भुजावाले अनुज बनो।

९७. अयि चेतन ! चेतय चेतय रे, भव मा भव मन्दबलो निबलः।
सबलोऽसि सदा सदनन्तबलो, बलवत्त्वमदः परिदर्शय तत् ॥

(अब वे महामुनि अपने आत्मबल को विकसित करने के लिए चिन्तन कर रहे हैं) अरे चेतन ! तू चेत, तू चेत ! मंद एवं निबल मत बन। तू सबल है। तू सदा ही अनन्त बली रहा है और आज उस अनन्त आत्मबल को दिखा।

९८. प्रतिशोधय शीघ्रमसत्यपथं, परिशोधय शोधय सत्यपथम्।
अवरोधय रोधय चञ्चलतां, प्रतिबोधय बोधय सत्त्वकलाम् ॥

आत्मन् ! तुम इस असत्यपथ का शीघ्र ही अन्त करो, सत्यपथ का परिशोधन करो, अपने विचारों को दृढ़ कर उनकी चञ्चलता का अवरोध करो और अपनी शक्ति को जागृत करो।

---

१. उदस्य—उत्थाय।
२. वलीकं—ओरी—छप्पर का छोर।
३. वृजिनं—वक्र (वृजिनं भंगुरं भुग्नं—अभि० ६।९३)
४. वृजिनं—पाप (कल्मषं वृजिनं तमः—अभि० ६।१७)
५. अरिजितां—वीतरागाणाम्।

९९. अवधारय धारय धैर्यधुरं, प्रतिपालय पालय जैनगिरम् ।
सर साधय साधय साधुपदं, तर तारय तारय दीनजगत् ॥

ओ मन ! तुम धैर्य-धुरा को स्वीकार करो, आप्तवाणी का पालन करो, साधुता के यथार्थ मार्ग की साधना करो, उसका प्रकाशन करो तथा स्वयं भवसागर को तैरते हुए दीन जगत् का भी उद्धार करो ।

१००. प्रतिषेधय सत्यविरोधकरानऽनुरोधय केवलकेवलिनम् ।
अवहेलय हेलय बाह्यरसमनुशीलय शीलय शान्तरसम् ॥

तुम सत्य का विरोध करने वालों का प्रतिषेध करो । तुम केवल सर्वज्ञ की ही आराधना करो । तुम बाह्य रसों की अवहेलना करो और शान्तरस का अनुशीलन करो ।

१०१. त्यज लोकभयं त्यज गच्छभयं, त्यज तीर्थभयं त्यज संघभयम् ।
परलोकपथे पथिके भवति, जिनधर्ममृते न हि को पि सखा ॥

तुम लोक, गच्छ, तीर्थचतुष्टय तथा संघ—इन सबके अपवाद भय को छोडो । तुम लोकोत्तर पथ के पथिक हो । जिनेश्वरदेव द्वारा प्ररूपित धर्म के अतिरिक्त कोई भी तुम्हारा सखा नहीं है, मित्र नहीं है ।

१०२. भज पारगतं रज सिद्धशिवं, व्रज सत्यपथं सृज सूत्रमतम् ।
इदमेव हि तारकमेकमतं, गतरागततं न ततो विमतम् ॥

आत्मन् ! तुम भगवान् की ही उपासना करो, तुम कल्याण के घटकों को रंजित करो, सत्य-पथ के पथिक बनो, आगम की दृष्टि की प्ररूपणा करो । वीतराग का अभिमत ही उद्धार करने वाला है, इसलिए तुम उससे कभी विपरीत मत बनो ।

१०३. अतिलालकपालकमालिककैः, स्वजनस्वजनाभिजनीयजनैः ।
तनुबाधकतामवगत्य ततस्त्वरितं भवति प्रविधूतमनाः ॥

१०४. तत ऊर्ध्वतमे परमार्थकृते, त्वमपीह यदेकशिवोच्चमतिः ।
जननीं रुदतीमपहाय मुदा, कृतवान् गुरुमेतमनन्यमनाः ॥ (युग्मम्)

'आत्मन् ! इस विश्व में लालन-पालन करने वाले स्वामी के द्वारा तथा स्वजन और अभिभावकों द्वारा सुख-सुविधा में की जाने वाली यदि तनिक बाधा की भी अवगति हो जाती है तो शीघ्र ही उनसे मन उचट जाता है । पर तुमने तो विलखती हुई माता को छोडकर उच्चस्तरीय पारमार्थिक भावना से ही आचार्य रघुनाथजी को अनन्य मानकर उनको गुरुरूप में स्वीकार किया था ।'

१०५. तत एतदशिष्टगुरुप्रणयं, प्रणिहातुमनुत्सहसे च कथम् ।
भव धीरधुरन्धरवीरवरः, तरणाय भवोदधिमाशुतरम् ।

इसलिए हे मन ! तुम्हारा गुरु के प्रति यह स्नेह उचित नहीं है। तुम उस स्नेह को छोड़ने में क्यों हिचकिचाते हो ? तुम भवसिन्धु को शीघ्र तैरने के लिए प्रशस्त धीरता और प्रशस्त वीरता को अपनाओ।

१०६. भगवान् भवताद् भवताच्च गुरुर्भवतादपरोऽपि परोऽपि महान् ।
स्वयमेव भवेत् त्रिशलातनयः, स्वयमेव भवेद् वसुभूतिसुतः ॥

१०७. यदि तैः समयाभिमतं चरितमनुकार्यमवन्तु तदेव शुभम् ।
समयातिगमाचरितं च न तत्, करणीयतयाऽत्र कदापि मतम् ॥
(युग्मम्)

भगवान् हो या गुरु अथवा कोई महान् से भी महान् क्यों न हो, चाहे स्वयं त्रिशलानन्दन भगवान् महावीर हो या वसुभूतिपुत्र स्वयं गौतम हो, यदि उन्होंने वीतराग के सिद्धान्तानुसार आचरण किया है तो वह अनुकरणीय है और वही शुभ है। किन्तु सिद्धान्त का अतिक्रमण कर जो आचरित है, वह कभी भी करणीय नहीं माना जा सकता।

१०८. न हि रागमृते न हि रोषमृते, न हि मोहमृतेऽनवबोधमृते ।
अशुभाध्यवसायमृते नियतं, न कदाप्यशुभप्रभवप्रभवः ॥

राग-द्वेष-मोह-अज्ञान एवं अशुभ अध्यवसायों के बिना अशुभ पराक्रम का उदय हो नहीं सकता।

१०९. सुविधाऽसुविधा प्रभुताऽप्रभुता, स्तुतयोऽस्तुतयोऽद्य भवन्तु न वा ।
निरयन्त्यसवोऽनिरयन्तु तदा, न तथापि जिहासुरहं च ऋतम् ॥

सुविधा मिले या असुविधा, प्रभुता मिले या अप्रभुता, प्रशंसा मिले या निन्दा, प्राण रहें या जाएं — कुछ भी क्यों न हो मैं सत्य को नहीं छोड़ूंगा।

११०. अमुना विधिना विरचय्य मुहुर्मुहुरेव तदा सुकृतस्मरणम् ।
स्मरणेन परिष्कृतभाविपथः, पथरोधमपोह्य स शुद्धमनाः ॥

शुद्धमना भिक्षु ने उपरोक्त चिन्तन-विधि से बार-बार सुकृत का स्मरण करते हुए अपने भावी पथ का परिष्कार कर मार्गगत सारे अवरोधों को दूर कर दिया।

१११. शुभसंविद[1]मेवमनन्तबलः, प्रकरोति तनोति सुनोति[2] शिवम् ।
ज्वर एष यदा परिमुञ्चति मां, तदवश्यमृतालपनेच्छुरहम् ।।

११२. ऋतपक्षमुपेत्य यथार्थपथपथिको भविता खलु भावयिता ।
जिनराजसुभाषितसत्यसुधामभिगम्य मुधान्यविकल्पहरः ।।

११३. अपरापरवक्त्रविलोकनतामपहाय विभूय निरीहतमः ।
प्रचिकीर्षुरनन्तरनैजशिवं, भवसागरमाशु तितीर्षुरहम् ।।
(त्रिभिर्विशेषकम्)

अनन्त आत्मबली मुनि भिक्षु ने कल्याणमार्ग को उद्भावित करते हुए प्रतिज्ञा के स्वरों में कहा—'यदि मैं इस ज्वर से मुक्त हो जाता हूं तो अवश्य ही सत्य को प्रकाशित करूंगा।'

'मैं सत्यपक्ष को प्राप्त कर यथार्थपथ का पथिक बनूंगा और अन्यान्य व्यक्तियों को भी यथार्थबोध दूंगा। मैं जिनेश्वर देव की वाणी रूप सत्यामृत को पीकर अन्यान्य सारे विकल्पों को छोड़ दूंगा।'

'मैं परमुखापेक्षिता को छोड, निस्पृह बनकर केवल अपने कल्याण की ही कामना को लेकर संसार-समुद्र को शीघ्र तैरने का इच्छुक हूं।'

११४. तत एवमऽदभ्रशुभाशयतो, लघुकर्मवतः खलु तस्य मुनेः ।
रुचिरोचनताऽरुचिरैरचिरात्, पटलं हृदयस्य विमुक्ततरम् ।।

ऐसी अत्यंत निर्मल भावना से उस लघुकर्मा महामुनि का हृदय पटल अत्यधिक प्रसन्नता से शीघ्र ही विकसित हो गया।

११५. सदलौकिकलोकयदान्तरिके, नयने च[3] निरावरणे लसिते ।
अनुभूतिविभूतिविभूतिभरैः, प्रतिदेशमसूतविकाशमयम् ।।

इस शुभ्र अलौकिक आलोक से अन्तर्-नयन खुल गए तथा अनुभूति की संपदा से उनकी आत्मा का प्रदेश-प्रदेश विकसित हो गया, जगमगा उठा।

११६. किमपूर्वरविः किमपूर्वशशी, किमपूर्वमहोदयदीपरुचिः ।
उदगादयमत्र तथा सततं, ज्वलिताज्वलनस्तमसां तमसाम् ।।

ऐसा वितर्क हुआ कि क्या आन्तरिक पापांधकार का विनाश करने के लिए कोई अपूर्व सूर्य, अपूर्व चन्द्रमा, अपूर्व महोदय की दिव्यता (दीपरुचि) का उदय हुआ है अथवा जाज्वल्यमान अपूर्व अग्नि का प्रादुर्भाव हुआ है?

१. शुभसंविद्—शुभप्रतिज्ञा।
२. सुनोति—उत्पादयति।
३. च इति अपि।

११७. अयमेव चिदन्तरबोधमणिर्यदमुष्यकजीवनराजपथम् ।
अवलोकयिता प्रतिदर्शयिता, भवितान्तिमजीवनकं सुतराम् ।।

यही चैतन्य को जागृत करने वाला बोध-मणि है। यही बोध इनके जीवन का राजपथ होगा। यही जीवन को आलोकित करने वाला, पथदर्शन देने वाला तथा आजीवन तक साथ रहने वाला होगा।

११८. इह केचन जागतिका मनुजा, गदमाप्य कदाप्यशुभोदयतः ।
नहि तोषमयन्त्यपतोषरता, गमयन्त्यपचिन्तनया समयम् ।।

इस संसार में ऐसे मनुष्य भी हैं जो अशुभ कर्मोदय से उत्पन्न होने वाले रोगों को समभाव से सहन न कर, विलाप करते हुए दुश्चिन्तनपूर्वक उस रोगाक्रान्त समय को पूरा करते हैं।

११९. विलपन्ति रुदन्ति लुठन्ति मुहुर्मुहुरेव तुदन्ति नुदन्ति परान् ।
व्यथयन्ति पतन्ति रटन्ति कटु, ददतामगदं ददतामगदम् ।।

कुछ रोगाक्रान्त व्यक्ति विलाप करते हैं, रोते है, भूमि पर बार-बार लुठते हैं, व्यथित होते हैं, उकसाते हैं, दूसरों को व्यथित करते हैं, गिर पड़ते हैं तथा चिल्लाते हुए कटु शब्दों में कहते हैं—'हमें औषधि दो, हमें औषधि दो'।

१२०. मरणं मरणं मरणं न भवेदवरक्षतु रक्षतु रक्षतु माम् ।
इति दीनगिरा हृदयाधिकिरा, परिपीडयति प्रकृतानुगतान्[1] ।।

रोगाक्रान्त मनुष्य मौत से घबराकर कहता है—अरे ! मेरी मृत्यु न हो जाए ! मौत न आ जाए। मेरी रक्षा करो, मुझे बचाओ। इस प्रकार हृदय को विदीर्ण करने वाली दीन वाणी से वह अपने परिचारकों को व्यथित कर देता है।

१२१. प्रणता न कदाप्युपतापनता, विषमार्त्तिमिता ग्रथिला इव ते ।
निजभानमुदस्य भवन्ति शठाः, शिथिलाः विकलाः कृपणा रवणाः ।।

जो व्यक्ति कभी अन्यान्य कष्टों के सामने नहीं झुकते, कायर नहीं होते, वे व्यक्ति भी रोगाक्रान्त होने पर ग्रथिल की भांति विषम-क्लेश का अनुभव करते हुए अपना भान भूलकर शठ, शिथिल, शून्य (विकल), कृपण और प्रलापक बन जाते हैं।

१२२. उदयावलिकागतदुःखभुजो, दधते नवदुःखमिदं च पुनः ।
अशुभेन युजार्त्तविचिन्तनयाऽसमतापतिरोहितवासनया ।।

---

१. प्रकृतानुगतान्—परिचारकों को।

कर्म-विपाक से होने वाले दुःखों को भोगते हुए वे व्यक्ति अशुभ योग (मन-वचन-काया की प्रवृत्ति), आर्त्तचिन्तन तथा विषम ताप से तिरोहित वासना से नए-नए कर्मों का बंधन कर लेते हैं।

१२३. उदिते कृतकर्मणि वेदमृते, नहि मुक्तिरिहास्ति कुतोऽपि ततः।
जनयन्ति तथापि जनाः प्रकटं, भृशमाकुलतां क्षमतापहरीम्॥

यह जानते हुए भी कि कृत कर्मों का उदय होने पर उन्हें भोगे बिना कोई छुटकारा नहीं, फिर भी कष्ट उपस्थित होने पर सहनशीलता को दूर करने वाली आकुलता से मानव अत्यंत व्याकुल हो उठता है।

१२४. उदितान् यदसातविपाकचयान्, विषमाशयतोऽनुभवन्त इति।
पुनरेव नवांश्च तथानुकरान्, प्रचयन्ति चयन्त्यनभिज्ञनराः॥

जो उदय में आने वाले असात वेदनीय कर्म के विपाकों को विषम अध्यवसायों से भोगते हैं, वे अनभिज्ञ मनुज पुनः उसी प्रकार के नए कर्मों का चय-उपचय कर लेते हैं।

१२५. समभावतया निजकर्मऋणादनृणीभवने समयोपगते[1]।
ऋणिनः पुनरेव भवन्ति मुधा, गदिनो विषमाध्यवसायवशाः॥

समभाव से कृतकर्मों का ऋण चुकाने का सुअवसर प्राप्त होने पर भी रोगाक्रान्त मनुष्य विषम अध्यवसायों के कारण व्यर्थ ही पुनः ऋणी बन जाते हैं।

१२६. अह तत्र नरेन्द्रनरेन्द्र इवाऽऽधुतपूर्वशुभेतरसृष्टशुभः।
तुहिन ज्वरितोऽप्ययमेव मुनिः, समवेत् किल कीदृशमात्मधनः॥

परन्तु ऐसे शीत ज्वर से परिपीड़ित अवस्था में भी ये महामुनि समभावों से अपने पूर्वकृत अशुभ कर्मों का उच्छेद करते हुए शुभ कर्मों को वैसे ही स्थापित कर रहे हैं जैसे कि पहले के दुष्ट राजाओं को हटाकर चक्रवर्ती उनके स्थान पर नवीन उत्तम राजाओं की स्थापना करता है।

१२७. उदयेऽदधिकाधिकवेगवती, परलोकभयाकुलता वितथैः।
स्फुरदन्तरसारविरागवतामिदमेव हि लक्षणमार्यनृणाम्॥

अन्तःकरण में स्फुरित होने वाले सार-विराग वाले आर्य मनुष्यों में परलोक की भीति से उत्पन्न आकुलता अधिक से अधिक वेग वाली प्रतीत होती है, यही आर्य पुरुषों का लक्षण है।

---

१. समयः—अवसर।

१२८. अनभिज्ञतयेह कथञ्चिदपि, जिनराजविरुद्धनिरूपणकम् ।
विदिते यदि कम्पगतं हृदयमिदमेव हि लक्षणमार्यनृणाम् ॥

यदि अनभिज्ञता आदि कारणों से भगवद् वाणी के विरुद्ध प्ररूपणा हो गयी हो और उसका ज्ञान होने पर जिसका हृदय कांप उठता हो, यही आर्यपुरुष का लक्षण है ।

१२९. तदऽपोहकृतेऽतिजवी यदि यः, प्रतियत्नपरो रभसादभितः ।
उपराममृते न विरामकर, इदमेव हि लक्षणमार्यनृणाम् ॥

स्वयं द्वारा कृत विरुद्ध प्ररूपणा को दूर करने के लिए जो उत्सुकता के साथ शीघ्र ही प्रयत्नशील रहता है और जब तक उसका प्रतिकार नहीं हो जाता तब तक वह सुख से विश्राम नहीं लेता, यही आर्यपुरुष का लक्षण है ।

१३०. तदऽभिज्ञतया समवेदिवचःप्रतिकूलनिरूपणकादरणम् ।
न कदापि कथं कथमेव सृजेदिदमेव हि लक्षणमार्यनृणाम् ॥

जो जानबूझकर जिनवाणी का कभी, किसी प्रकार से प्रतिकूल निरूपण तथा आचरण नहीं करता, यही आर्यपुरुष का लक्षण है ।

१३१. ममताऽममता सरितोप्ररये, वहतेन्तरदृष्टिरिहापि कदा ।
अविलम्बतया प्रतरेत् प्रसभमिदमेव हि लक्षणमार्यनृणाम् ॥

जो अन्तर्मुखी होते हुए भी कभी ममता-अममता के सरित्प्रवाह में बह जाता है, परतु जो शीघ्र ही उसे तर जाता है—उससे बाहर निकल जाता है, यही आर्यपुरुष का लक्षण है ।

१३२. उपलक्षितकस्य तथास्य मुनेः, हृदयान्तरिकोच्चविरागवतः ।
समभूत् परलोकभयं च कियत्, तदियं घटनैव विकाशकरी ॥

अन्तर् हृदय में उच्चतम वैराग्य को धारण करने वाले तथा अपनी भूल को पहचानने वाले उन भिक्षु मुनि की आत्मा में न जाने परलोक का कितना भय लगा होगा—यह तो इस घटना से ही स्पष्ट हो जाता है ।

१३३. परिपावनया शुभभावनया, कृतसङ्गरमीक्ष्य कृतार्थमतिः ।
तमनाथमहर्षिवदुच्चतमं, प्रणिपत्य गदस्त्वरितं विगतः ॥

भिक्षु की परम पवित्र और शुभभावना से की गई प्रतिज्ञा को देखकर अपने आपको कृतार्थ मानता हुआ ज्वर उनको छोडकर वैसे ही चला गया जैसे अनाथी मुनि को छोड़कर उनकी अक्षि-वेदना । ज्वर ने उनको अंतिम प्रणाम कर वहां से शीघ्र ही प्रस्थान कर दिया ।

१३४. अहो तत्सामर्थ्यं कियदियदमोघं शुभमते,
यतो यत्सवृत्ते ह्युदतरदकस्माज्ज्वर इयान् ।
ततोऽपूर्वाश्चर्यः सदयनयसत्यैकनियमो,
महानन्दोद्भेदं विलसतितरां भिक्षुरमलम् ॥

अहो ! शुभ भावना में कैसी अमोघ शक्ति है जिसका कि स्मरण करने मात्र से ही इतना तीव्र शीतज्वर अकस्मात् दूर हो गया। दया, न्याय और सत्य के हिमायती वे महामुनि इस रोग-मुक्ति के प्रति अपूर्व आश्चर्य करते हुए महान् आनन्द का पवित्र अनुभव करने लगे।

श्रीनाभेयजिनेन्द्रकारमकरोद्धर्मप्रतिष्ठां पुनर्,
यः सत्याग्रहणाग्रही सहनयैराचार्यभिक्षुर्महान् ।
तत्सिद्धान्तरतेन चारुरचिते श्रीनत्थमल्लर्षिणा,
श्रीमद्भिक्षुमुनीश्वरस्य चरिते सर्गोऽत्र षष्ठोऽभवत् ॥

श्रीनत्थमल्लर्षिणा विरचिते श्रीभिक्षुमहाकाव्ये
शीतज्वरप्रकोपनाऽऽत्मसंबोधनामा षष्ठः सर्गः ।

सातवां सर्ग

प्रतिपाद्य : मुनि भिक्षु का शीतज्वर की असह्य वेदना से मुक्त होना। वि. सं. १८१५ का चातुर्मास राजनगर में। शास्त्राभ्यास का विशेष उपक्रम। सत्यनिष्ठ श्रावकों का समर्थन। सत्यपथ की अभिव्यक्ति तथा साथी मुनियों का उत्साह।

श्लोक : १०९

छन्द : पज्झटिका

वर्ण्यम्

ज्वरमुक्त मुनि भिक्षु ने दीर्घ आत्ममंथन करते हुए सोचा—'मुझे आरोग्य प्राप्त हो गया है। अब मुझे मुक्ति को लक्ष्य में रखकर आत्म-कल्याण कर लेना है। असत् प्ररूपणा बहुत बड़ा पाप है। मुझे सत्य को अभिव्यक्ति देनी है।' उन्होंने राजनगरवासी श्रावकों की विज्ञप्ति से वि. सं. १८१५ का चातुर्मास राजनगर में किया और वे सिद्धान्तों का गहन अध्ययन करने में जुट गए। ज्ञान के प्रकाश में सत्य का साक्षात्कार हुआ और उन्होंने मन ही मन सोचा—हम साध्वाचार से भटक गए हैं। अर्हत् द्वारा निर्दिष्ट श्रामण्य कुछ और है और हम जिसकी अनुपालना कर रहे हैं, वह कुछ और है। एक दिन आत्मशक्ति बटोर कर, गुरु परंपरा का मोह छोडकर, मुनि भिक्षु ने श्रावकों को कहा—'तुम सही हो। हम असत्य मार्ग पर हैं।' इस कथन से श्रावकों में विश्वास जागा, वे आशान्वित हुए। मुनि भिक्षु ने साथी मुनियों को अपने विचार बताए। मुनि उन विचारों पर झूम उठे और बोले—'आप क्रान्ति के संवाहक बनें और जैन धर्म के जीर्ण-शीर्ण सौध को अवष्टंभ दें। हम आपके इस पुनीत कार्य में सहयोगी बनेंगे।' मुनि भिक्षु क्रान्ति के लिए उपयुक्त समय की प्रतीक्षा करने लगे।

सप्तमः सर्गः

१. अथ विवरीषुरिदानीं श्रेष्ठं, सप्तममस्य घनागममिष्टम् ।
तत्र पुनः समयप्रणिधानं, लब्धं तत्त्वं सत्त्वनिधानम् ॥

अब मैं उन मुनि का श्रेष्ठ और इष्ट सातवें चातुर्मास का वर्णन करना चाहता हूं। वहां मुनिश्री ने आगमों का गहरा अध्ययन किया और सारभूत तत्त्व को प्राप्त किया।

२. सङ्कीर्णे तस्मिन् कृतकृत्या, रजनी हृष्टवती समवृत्त्या ।
मित्रं प्रेषयितुं प्रतिवृत्त्या, क्षेत्रविदेहे किमिता भक्त्या ॥

ज्वरग्रस्त भिक्षु को प्रतिज्ञाबद्ध देखकर वह रजनी कृतकृत्य और हृष्ट-तुष्ट हो गई। सूर्य को यहां का वृत्तान्त समवृत्ति से सुनाने तथा उसको यहां भेजने के लिए मानो वह रजनी महाविदेह क्षेत्र की ओर चली गई।

३. पद्मबन्धुना कामं कामं, महाविदेहे भ्रामं भ्रामम् ।
सीमन्धरमुखसमपरमेशा, बहु दृष्टाः पृष्टाश्च गणेशाः ॥

४. विज्ञप्ता इह भरतक्षेत्रे, महामृषापरिलोपितनेत्रे ।
क्रियतां क्रियतां तत्र विकाशः, प्रभवेन्नो चेज्जिनमतनाशः ॥

(युग्मम्)

सूर्य ने महाविदेह क्षेत्र में भ्रमण कर सीमन्धर आदि तीर्थंकरों तथा गणधरों को देख उन्हें पूछा—'भंते ! अभी भरतक्षेत्र के लोगों के नयन महामृषा से अंधे हो गए हैं। आप वहां सत्य का प्रकाश करें, जिससे कि वहां जिनेश्वर देव के मत का विनाश न हो।'

५. किन्त्वायन्ति न ते सन्तुष्टा, निजनिजसाधनपोषणपुष्टाः ।
अर्हन्तो भगवन्तः सन्तः, सन्ति सदा ते शमधनवन्तः ॥

सूर्य ने सोचा—वे अरिहंत, गणधर आदि अपनी-अपनी साधना के पोषण से पुष्ट तथा संतुष्ट हैं। वे सदा उपशान्त रहते हैं। वे भरतक्षेत्र में नहीं आते।

६. छद्मस्था बहुलब्ध्युपजीवाश्चारणमुनयः कुतुकक्षीवाः ।
कौतुहलादपि यत्रागन्तुं, नो वाञ्छन्ति कथञ्चन रन्तुम् ॥

अनेक कुतूहलप्रिय और लब्धिधारी छद्मस्थ मुनि तथा चारण मुनि भी कुतूहलवश या किसी प्रकार से यहां आना और रमण करना नहीं चाहते ।

७. इच्छितगमना ये निजतन्त्रा, आराधितविद्यामणिमन्त्राः ।
वैताढ्यादिगिरीन्द्रनिवासाः, प्रोत्सर्पन्ति न तेऽपि निराशाः ॥

जो यथेष्ट गमन करने में स्वतंत्र हैं, जो विद्या, मणि और मंत्रों के आराधक हैं तथा जो वैताढ्यगिरि पर रहने वाले हैं, वे विद्याधर भी यहां आना नहीं चाहते ।

८. कौतूहलकोशाध्यक्षोऽसौ, जिनमतभक्तः प्रत्यक्षोऽसौ ।
अम्बरचारी स्वैरविहारी, तदपि न नारद इह सञ्चारी ॥

कुतूहल के आवासस्थल, जिनमत के प्रत्यक्ष भक्त तथा आकाश में स्वतंत्र विचरण करने वाले नारद भी यहां आना नहीं चाहते ।

९. इति सङ्कल्पितकल्याकेलिं, मन्ये कश्चन कथयति हेलिम् ।
तस्मिन् भारत ! भारतभिक्षुः, सर्वोद्धारी सैव मुमुक्षुः ॥

सूर्य इस प्रकार भरतक्षेत्र के कल्याण की बात सोच ही रहा था कि इतने में मानो कोई कह रहा है— सूर्य ! उस भरतक्षेत्र में वे ही मुमुक्षु भिक्षु सबका उद्धार करने वाले हैं ।

१०. तावत्तस्मादाश्रुतवृत्तः, प्रत्युद्गन्तुमनन्तरचित्तः ।
वर्द्धापन्यां तत्साम्राज्यं, तां दत्त्वा संवृत्तः प्राज्यम् ॥

सूर्य ने रजनी से सारा वृत्तान्त सुना । उसका अन्तर् मन वहां जाने के लिए उत्सुक हुआ, तब वह रजनी को अपना सारा साम्राज्य सौंपकर भरत-क्षेत्र की ओर चल पडा ।

११. शनकैः शनकैस्तिमिरासक्तिः, नष्टा सा हृततत्तनुतप्तिः ।
इत उदितं जगतामवदातं, मङ्गलमयमिदमेव विभातम् ॥

तब अन्धकार धीरे-धीरे मुनि के शरीर के ताप को लेकर चला गया, रात बीत गई और इधर विश्व में शुभ्र एवं मंगलमय प्रभात उदित हुआ ।

१२. शतशतभुजकरभुवनविसारी, निखिलनिखिलखलदलसंहारी ।
कोकलोकसमशोकविमोकश्चञ्चलचलचञ्चूचितशोकः ॥

१३. मञ्जुलमञ्जुमरीचिसुमाली, सूचितशुचिरुचिसञ्चरशाली ।
चक्राभृत् खेचरचक्रस्य, समवर्ती वक्रावक्रस्य ।।

१४. आखण्डलककुभस्ताटङ्कः, सहजविश्वमन्दिरदीपाङ्कः ।
अन्तरिक्षमण्डलमाणिक्यं, कालमात्रपरिवर्तनशिक्यम् ।।

१५. परिमललोलुपरोलम्बानि, प्रकिरन् कमलाकरकमलानि ।
स्वालोकालोकीकृतविश्वः, प्रद्योतितसमनिस्वानिस्वः ।।

१६. विदितार्थिकहृदयाप्ताह्लादः, स्मृत्यन्तरसृतसायंसादः ।
त्वरितं त्वरितं द्वीपान्तरतः, सपदि तत्र दिननाथ उदीतः ।।
(पञ्चभिः कुलकम्)

इतने में ही सैकड़ों किरणों से सम्पूर्ण जगत् में विस्तृत होने वाला, समस्त अपराजेय दुष्टजनों का संहारक, चक्रवाकों को शोक से विमुक्त करने वाला, उनके चंचल चंचूपुट को खोलने वाला, मंजुल किरणों का धारक, पवित्र—सही पथ को दिखाने वाला, आकाशचरों का चक्रवर्ती तथा सम-विषम के प्रति समभाव से बरताव करने वाला सूर्य उदित हुआ।

पूर्व दिशा का कुंडल, विश्व का सहज दीप, गगनमंडल का माणिक्य, कालमात्र के बीतने के लिए (घूमने के लिए) रज्जु के समान वह सूर्य कमलाकरों के कमलों को विकस्वर कर रहा था। कमलों के परिमल के लोलुप भौंरे उन कमलों पर मंडराने लगे। वह सूर्य अपने आलोक से समस्त विश्व को आलोकित करता हुआ, धनी और निर्धन को समानरूप से द्योतित कर रहा था। 'भिक्षु बोधि को प्राप्त हो चुके हैं'—यह सोचकर वह आह्लाद से भर गया। सायंकालीन अपनी अस्तमय अवस्था को भूलकर वह अत्यंत त्वरा से द्वीपान्तर से चलकर यहां भरतक्षेत्र में आ पहुंचा।

१७. अन्तर्वृत्त्या चारु प्रबुद्धं, सत्यस्याभिमुखे स्थितमिद्धम् ।
शतशतकरतः स्पर्शं स्पर्शं, प्रणंणम्यते तं सह हर्षम् ।।

वह सूर्य अन्तर्वृत्ति से सम्यक् प्रबुद्ध तथा सत्य के अभिमुख स्थित मुनि भिक्षु के चरणों का अपनी शत-शत किरणों से सबसे पहले स्पर्श करता हुआ सहर्ष प्रणाम कर रहा हो, ऐसा प्रतीत हुआ।

१८. तेजःपुञ्जं कारं कारं, प्रार्थयते किं वारं वारम् ।
वर्त्तय वर्त्तय सत्यविकासं, संहर संहर मिथ्याभासम् ।।

वह सूर्य अपने तेजपुंज को फैलता हुआ बार-बार भिक्षु को प्रार्थना कर रहा था—हे महामानव ! आप संसार से असत्य का संहरण करें और सत्य का विकास करें ।

१९. कार्ययुगं तत् सहसा तर्क्यं, भवता भवितु शक्यं शक्यम् ।
करणीयं चेत् कुरु कुरु कृपया, पश्य जगत् स्फुरदन्तःप्रभया ॥

ये दोनों चिन्तनीय कार्य आपसे ही सहज संपन्न होंगे। यदि आपको यह करना है तो शीघ्रता करें और अन्तःस्फुरित प्रज्ञा से जगत् को देखें ।

२०. सत्यं प्रायः कण्ठे श्वासं, पुनरुज्जीवय सम्प्रति साऽऽशम् ।
नो चेन्निविडं घोरतमिस्रं, भविता भारतवर्षेऽजस्रम् ॥

आर्य ! जो सत्य है उसके श्वास-प्रायः कंठों में आ गए हैं। (वह मरणासन्न हो रहा है।) उस सत्य को पुनः उज्जीवित करें। यदि ऐसा नहीं होगा तो मिथ्यात्व का सघन अंधकार भारतवर्ष में शीघ्र ही छा जाएगा।

२१. एकोऽसि त्वं रक्षणकर्त्ता, त्वत्तः कोपि न शक्तिविभर्त्ता ।
तन्निस्तरणे भव भवनौका, परिहरणीया मद्व्यतिरेका ॥

हे मुने ! आप ही एक ऐसे हैं जो सत्य की रक्षा करने में समर्थ हैं। आपसे बढ़कर और किसी दूसरे में यह शक्ति नहीं है। इसीलिए लोगों को भव-समुद्र के पार ले जाने के लिए आप नौका बनें और मेरी आशंका को दूर कर ।

२२. किन्तु महोच्चतमाः पुरुषा ये, भिन्नैर्नुन्ना अप्यतुषा ये ।
आन्तरनिर्मललोचनललिताः, सामस्त्यैः श्रेयःसङ्कलिताः ॥

२३. परवशतां ते नैव भजन्ते, हठराभस्यं नैव नयन्ते ।
लोचं लोचं पदमेकैकं, प्रणिदधते ते प्रणयविवेकम् ॥

(युग्मम्)

किन्तु महान् पुरुष औरों से प्रेरित होकर कोई कार्य नहीं करते। वे अपने निर्मल अन्तर् नयनों से चारों ओर देखकर ही श्रेयस्कारी कार्य में प्रवृत्त होते हैं।

वे महापुरुष परवश नहीं होते। वे आग्रह और जल्दबाजी में कोई कार्य नहीं करते। वे विवेकी पुरुष अपना प्रत्येक चरण सोच-सोच कर रखते हैं।

२४. कार्यं नहि सहसा राभस्यं, प्रागालोच्यं कार्यमवश्यम् ।
नो चेत्तावत् कोटिकलापः, पदि पदि पश्चात् पश्चात्तापः ॥

मनुष्य को पहले सोचे-समझे बिना हठात् कोई कार्य नहीं करना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता है तो पग-पग पर फिर अत्यधिक पछताना ही पड़ता है।

२५. पुनरेतादृशतात्त्विकविषयः, कम्पन्तेऽत्र महोत्तमऋषयः ।
सांशयिकः पुनरेष इदानीं, कोऽयं त्वरते तत्र तदानीम् ॥

पुनः ऐसे तात्त्विक विषयों में महान् ऋषि भी कांप उठते हैं और अभी तक यह विषय संदेहास्पद और चिन्तनीय ही है। अतः ऐसे विषयों में कौन जल्दबाजी करेगा ?

२६. तापोत्तीर्णे सोऽयं भिक्षुः, सत्यशुभान्तरचित्तमुमुक्षुः ।
आरोग्यं दृष्ट्वा निजगात्रं, चिन्तयते परितोऽतिसुपात्रम् ॥

ज्वर से मुक्त होकर सत्यान्वित और प्रशस्त चित्त वाले भिक्षु मुनि अपने सुपात्र गात्र को स्वस्थ देखकर ऐसा सोचने लगे।

२७. सहसा शुभमारोग्यं लब्ध्वा, मुक्तावेकां दृष्टिं बध्वा ।
अधुनादृत्यार्जवपन्थानं, करणीयं निश्चितकल्याणम् ॥

मुझे सहसा प्रशस्त आरोग्य प्राप्त हो गया है। अब मुझे मुक्ति को लक्ष्य में रखकर, वीतराग मार्ग को स्वीकार कर अपना निश्चित कल्याण करना है।

२८. वितथैः सम्पृक्ता न भवामस्तादृङ्निगमे वल्गु वहामः ।
तस्मै तावत् सफलायासः, करणीयोऽयं शास्त्राभ्यासः ॥

हमें ऐसे मार्ग में प्रशस्तरूप से चलना है जहां असत्य से संपर्क न हो। इसलिए अपने प्रयास को सफल बनाने के लिए हमें शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए।

२९. यदि सत्यानपि वितथान् ब्रूमः, परलोकेऽथ ततो रोरूमः ।
दुर्लभदुर्लभरसनाप्राप्तिर्बहुलाकारैर्बहुदुःखार्त्तिः ॥

जो सच्चे हैं यदि हम उन्हें भी झूठा कहें तो परलोक में हमें बहुत रोना पड़ेगा। इसके परिणाम स्वरूप हमें जिह्वेन्द्रिय नहीं मिलेगी और हमें नाना प्रकार के दुःख भोगने पड़ेंगे।

३०. द्रव्याचार्यं पक्षापातैः, सत्यं वदिता सत्योद्घातैः ।
तदपि च परलोके बहुकठिनं, प्रक्ष्यति कोपि न मामतिहठिनम् ।।

यदि मैं पक्षपात के द्वारा सत्य का हनन कर द्रव्याचार्य को यथार्थ बताऊं तो भी परलोक में मेरे लिए अत्यन्त कठिनाई उपस्थित होगी और मेरे जैसे दुराग्रही को कोई भी पूछने वाला नहीं मिलेगा ।

३१. नरकनिगोदे भ्रमणाऽऽभ्रमणे, परमाधार्मिककटूवाऽऽक्रमणे ।
एष गुरुर्मे कष्टकराले, नहि नहि रक्षति तस्मिन् काले ।।

मिथ्या प्ररूपणा के परिणाम स्वरूप जब मैं नरक-निगोद में बार-बार जन्म-मरण करूंगा और जब परमाधार्मिक देव मेरे पर कटु आक्रमण करेंगे तब ये द्रव्यगुरु उन भयंकर कष्टों से मेरी कभी भी रक्षा नहीं कर पायेंगे ।

३२. कुगुरोः कार्यग्रहणकृपाभिः, क्षणिकोत्साहनसुमुखाभाभिः ।
नरकयातना नहि मुच्यन्ते, घोरशातना नहि हीयन्ते ।।

कुगुरु की अपने प्रयोजन से की गई कृपा से तथा क्षणिक उत्साह बढ़ाने के लिए दिखाई गई मुख की प्रसन्नता से नरक की यातना छूट नहीं सकती तथा नरक के घोर आघात कम नहीं हो सकते ।

३३. इत उदितोऽयं मे गुरुदेवः, समय इतोऽयं गुरुगुरुदेवः ।
ऐते श्राद्धा इत उत सत्या, इत आत्मा मे सत्यसमित्याः ।।

आत्मन् ! एक ओर मुझे प्रव्रजित करने वाले गुरुदेव हैं और दूसरी ओर गुरु के भी गुरु ये आगम हैं । एक ओर ये सत्यनिष्ठ श्रावक हैं और दूसरी ओर सत्य-समन्वित मेरी आत्मा है ।

३४. जातुचिदपि कस्यापि कुतोपि, स्यां नो वञ्चकसत्यालोपी ।
अधुना मेस्ति परीक्षणनिकषः, कथमपि नैव भवेयं विवशः ।।

ऐसी स्थिति में मैं कभी भी, किसी की, कहीं भी वंचना न करूं, सत्य का अपलाप न करूं और किसी के प्रभाव से विवश न हो जाऊं, इसलिए अब मेरी यह परीक्षा की कसौटी है ।

३५. यावान्नपराधो गुरुपक्षाद्, वितथस्यापि तथात्वसमीक्षात् ।
न्यूनस्तन्नो दुर्व्यवहरणे, सूरिं प्रति प्रतिकूलाचरणे ।।

जितना अपराध गुरु का पक्ष ग्रहण करने का है उतना ही अपराध मिथ्या प्ररूपणा का है और आचार्य के प्रतिकूल आचरण तथा मिथ्या व्यवहार करना तो उससे भी अधिक अपराध है ।

३६. अतो द्विधारः खड्गो क्षुद्रः, कोऽयं रक्षोपायोऽरुद्रः ।
तेनालोचि ततो निरपायः, कार्यः समयानामध्यायः ।।

इसीलिये यह बड़ी दुधारा खड्ग है । इस दुधारा खड्ग से मेरी रक्षा हो ऐसा विचार कर उन्होंने यही निर्दोष उपाय निकाला कि मुझे इससे बचने के लिए शास्त्रों का अध्ययन ही करना चाहिए ।

३७. अस्मिन् दुःषमकालकराले, समयसमयपतनातिविशाले ।
क्व च गच्छामः क्व च पृच्छामः, क्व च शरणाय श्रमिता यामः ।।

यह भयंकर दुःषम काल है । यह निरंतर ह्रास की ओर बढ़ रहा है । ऐसे कराल काल में हम कहां जाएं ? किससे पूछें ? और श्रान्त होने पर किसकी शरण लें ?

३८. सम्प्रति ये मुनयोऽपि समस्ताः, प्रायः स्वार्थाराद्धे न्यस्ताः ।
कामितकार्ये स्यादाबाधा, तत्र सदर्थाबाधे व्याधाः ।।

वर्तमान में जो मुनि हैं वे सभी प्रायः अपने स्वार्थ को सिद्ध करने में लगे हुए हैं और यदि अपने इच्छित कार्य में कहीं बाधा आती है तो वे यथार्थ की घात करने के लिए शिकारी बन जाते हैं ।

३९. कः प्रतिभूः को न्यायाधीशः, को विश्वस्तो जैनगिरीशः ।
यत् प्रामाण्यं यस्याऽऽतन्वे, माध्यस्थ्यं खलु यस्याऽऽमन्वे ।।

आज (शास्त्रों के अतिरिक्त) कौन यहां साक्षी है ? कौन न्यायाधीश है ? कौन विश्वस्त है ? तथा कौन जिनवाणी का ज्ञाता है जिसको हम प्रमाण मानें और मध्यस्थरूप में स्वीकार करें ।

४०. समयादपरा कापि न सिद्धिः, समयादपरा कापि न लब्धिः ।
कापि न समयादितरा ऋद्धिः, कापि न समयपरा समृद्धिः ।।

शास्त्रों के अतिरिक्त न तो कोई दूसरी सिद्धि है, न कोई लब्धि है, न कोई ऋद्धि है और न कोई समृद्धि है ।

४१. सन्तु कियन्तः पठिताः सन्तः, तार्किकभाष्यचणा भगवन्तः ।
समयाकृष्टाः सर्वे श्रेष्ठाः, समयाक्रमणा अतिशो भ्रष्टाः ।।

मुनि चाहे कितने ही पढ़े-लिखे हों, तार्किक हों, प्रवक्ता हों, ज्ञानी हों, यदि वे आगम वाणी के अनुकूल हैं तो वे श्रेष्ठ हैं और यदि वे आगम का अतिक्रमण करते हैं तो वे अति निकृष्ट हैं ।

४२. समयात् पृष्ठे गुरवो गुरवः, पारे समयं ते हि कुगुरवः ।
समयविहीनास्ते वाचालाः, तेषां संलापा विकरालाः ॥

जो सिद्धान्त के पीछे-पीछे चलते हैं, वे ही गुरु गुरु हैं और जो सिद्धान्त का अतिक्रमण कर चलते हैं, वे कुगुरु हैं। आगमज्ञान से विकल पुरुष का कथन केवल वाचालता (बकवास मात्र) है, और उसके आलाप-संलाप दारुण परिणाम वाले होते हैं।

४३. दुःषमकाले समयाधारः, सौत्रः सम्प्रति सद्व्यवहारः ।
यो वर्त्तेतागमतश्चोर्ध्वं, कस्ते कुरुते हस्तावूर्ध्वम् ॥

इस दुःषमकाल में सिद्धान्तों का ही आधार है और सूत्रानुसारी सद्व्यवहार पर ही जैन जगत् टिका हुआ है। अतः जो सिद्धान्तों का अतिक्रमण कर आचरण करते हैं उनको कौन दोनों हाथ ऊंचे कर नमन करेगा ?

४४. नो समयः परिवर्तनशीलः, तत्त्वरसः समयान्तरलीनः ।
अनुसमयं सद्व्याख्यातारः, समयमुपाखिलगुरुशास्तारः ॥

सिद्धान्त परिवर्तनशील नहीं हैं और जितने भी तत्त्वरस हैं वे सिद्धान्त में अन्तर्लीन हैं। सिद्धान्त का अनुसरण करने वाले ही सद्व्याख्याता हैं, गुरु हैं तथा शास्ता हैं।

४५. समयादऽपरं किमपि न शरणं, किमपि न समयपरं निस्तरणम् ।
अस्मात् तच्छरणं प्रतिपद्ये, परशरणार्थं किमहं खिद्ये ॥

इस संसार में सिद्धान्तों के सिवाय और दूसरा कोई शरण नहीं है, तथा सिद्धान्त के अतिरिक्त दूसरा कोई भव-समुद्र से पार उतारने वाला नहीं है। इसलिये मैं सिद्धान्तों की ही शरण लूं, अन्यान्य शरण लेने के लिए क्यों परिश्रम करूं ?

४६. समयोऽयं चिन्तामणिरत्नं, यस्मात्तस्मै तन्वे यत्नम् ।
उपतिष्ठेऽहं तं प्रति यत्नं, साफल्यं च ततोस्त्यचिरत्वम् ॥

सिद्धान्त ही चिन्तामणि रत्न है। इसलिए मुझे उसकी यथार्थ प्राप्ति का यत्न करना चाहिये। मैं उसके लिए प्रयत्न करता हूं, जिससे मुझे शीघ्र ही सफलता मिल सके।

४७. जेतुं चन्द्रप्रभनामानं, तदुभयधारं कृष्टकृपाणम् ।
गृह्णीमो जैनागममानं, सूर्यप्रभमभितः सत्त्राणम् ॥

हम चन्द्रप्रभ नामक दुधारे खड्ग को जीतने के लिए आज सबकी रक्षा करने वाला जैनागम रूप सूर्यप्रभ खड्ग को स्वीकार करते हैं।

४८. इति निर्णीतमतेन सुभक्त्या, तेषां श्राद्धानां विज्ञप्त्या।
५ १ ८ १
शर-शशि-वसु-महिवर्षावासश्चक्रे तैरपि तत्रावासः॥

मुनि भिक्षु ने ऐसा निर्णय कर राजनगरवासी श्रावकों की पुनीत भक्ति एवं विज्ञप्ति से विक्रम सम्वत् १८१५ का चातुर्मास राजनगर में ही किया।

४९. अविचलरीत्या पुनरपि शोद्धुं, सत्यमसत्यं किमिति विबोद्धुम्।
दृढसंकल्पदृढासनबद्धः, समयाध्ययने स प्रतिबद्धः॥

उस चतुर्मास में अविचल पद्धति से पुनः अवबोध प्राप्त करनेतथा सत्य-असत्य को जानने के लिए मुनि भिक्षु दृढ़ संकल्प और दृढ़ आसनबद्ध होकर आगमों के अध्ययन में जुट गए।

५०. यथा यथाध्यवसायं कुरुते, तथा तथाऽतनुतेजस्तनुते।
सा श्रुतदेवी परिसंतुष्टा, ददते सत्यादर्शं जुष्टा॥

जैसे-जैसे मुनि भिक्षु आगमों का अध्ययन करते जाते थे, वैसे-वैसे उनकी आत्मा में अत्यधिक प्रकाश होता जाता था। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो श्रुतदेवी संतुष्ट होकर प्रसन्नता से उनको सत्य का साक्षात्कार करा रही हो।

५१. छात्रमलभ्यं यं च विदित्वा, विशिनष्टीति किमेव सुहित्वा।
आम्नायैनं मेऽन्तःप्रीत्या, जायेयाऽहं किल कृतकृत्या॥

वह श्रुतदेवी प्रसन्नचित्त से एवं अन्तःकरण की प्रीति से मुनि भिक्षु को अलभ्य छात्र समझ कर विशेष अध्ययन के लिए प्रेरित कर रही थी। वह ऐसा चिन्तन कर रही थी कि मैं आज इनको सिद्धान्तों का सही अभ्यास करा कर कृतकृत्य हो जाऊं।

५२. कल्पान्ते जलमुक्ते व्यक्ते, रत्ननिधौ रत्नैः संयुक्ते।
रत्नदर्शवत् सत्यादर्शं, भवते यत्र विवेकाकर्षम्॥

जैसे प्रलयकाल में रत्नसंयुक्त रत्नाकर की विशाल जलराशि सूख जाने के बाद, सारे रत्न स्पष्ट दिखाई देते हैं, वैसे ही विवेक के उत्कर्ष से मुनि भिक्षु को आगमों में सत्यरूप रत्न स्पष्ट दिखाई देने लगे।

५३. अचिरामन्दानन्दविधात्र्या, सान्द्रानन्दितराज्यसवित्र्या ।
तस्याऽवैतथतृष्णादेव्या, नैव मुच्यते क्षणमपि सेवा ॥

अचिर-अमन्द आनन्द को उत्पन्न करने वाली एवं मोक्ष सुखों की जननी वह सत्य रूपी तृष्णा देवी उस मुनि की क्षण मात्र के लिए भी सेवा नहीं छोड़ती थी। अर्थात् मुनि में सत्य की तृष्णा अधिकाधिक बढ़ती ही जा रही थी।

५४. नैयून्यं नहि तिष्ठेत् किञ्चित्, ततोऽप्रमादी सैष विपश्चित् ।
एकं चैकं सूत्रं सकलं, द्वौ द्वौ वारमधीते विमलम् ॥

किसी भी विषय की ज्ञप्ति में किसी प्रकार की कमी न रह जाए ऐसा विचार कर उस मेधावी मुनि भिक्षु ने अप्रमत्तता से एक-एक सूत्र का दो-दो बार अध्ययन कर सभी आगमों का परायण कर लिया।

५५. वाचं वाचं समयविचारं, संतनुतेऽसौ वारं वारम् ।
क्वायं शुद्धविशुद्धाचारः, क्व च नोऽशुद्धाऽशुद्धाचारः ॥

सिद्धान्तों का अध्ययन कर लेने के पश्चात् मुनि ने सोचा—कहां तो आगम-सम्मत यह शुद्ध आचार और कहां हमारा यह अशुद्ध आचार!

५६. क्व च जिनभाषितमुच्चं वृत्तं, क्व च शैथिल्यमितः परिवृत्तम् ।
क्व च सुरवरशिखरीश्वरशिखरं, क्व च चरमान्त्यरसातलविवरम् ॥

कहां तो जिनभाषित उच्च चारित्र और कहां इन सन्तों की शिथिल प्रवृत्ति! कहां तो सुमेरु पर्वत का उच्चतम शिखर और कहां पाताल का चरमान्त विवर!

५७. केऽयं नीरागागमवाणी, क्व च मे गुरुरिह रागवितानी ।
क्व च गङ्गाजलनिर्मलधारा, क्व च मलिना पुरपल्वलधारा ॥

कहां तो यह वीतराग की निर्मल वाणी और कहां मेरे गुरु की मोह को वृद्धिगत करने वाली वाणी! कहां तो गङ्गा की निर्मल धारा और कहां गांव के तलाई की मलिन धारा!

५८. यज्जिनपैरुदितं श्रामण्यं, दुष्करदुष्करसतिकारुण्यम् ।
अस्माभिः स्वीकृतमतमेतन्नहि नहि तदिदं खलु वर्त्तेत ॥

तीर्थंकरों ने दुष्कर-अतिदुष्कर संयमप्रधान श्रामण्य का प्रतिपादन किया था। हमने उसीको स्वीकार किया है। किन्तु आज हम जिसका पालन कर रहे हैं, वह श्रामण्य वैसा नहीं है।

५९. चञ्चच्चन्द्रासौ सञ्चरणं, यत् संसिद्धं संयमकलनम् ।
शैथिल्यस्याग्रेऽग्रे सरणं, नो नो तदिदं साध्वाचरणम् ॥

अर्हत् द्वारा निर्दिष्ट श्रामण्य के पथ पर चलना तो चमचमाती खड्ग की धारा पर चलने जैसा है। परंतु यहां संघ में तो आगे-से-आगे शिथिलता के मार्ग पर ही बढ़ना है। यह तो साध्वाचार है ही नहीं।

६०. दुर्लभदुर्लभजैनश्रद्धा, सापि न हस्ते येषां श्रद्धा ।
अपिलवमात्रं नहि पावित्र्यं, नो सम्यक्त्वं नो चारित्र्यम् ॥

आर्हती श्रद्धा अत्यन्त दुर्लभ है। जिनको यह श्रद्धा प्राप्त नहीं है, उनके लवमात्र भी पवित्रता नहीं है। न वहां सम्यक्त्व है और न चारित्र।

६१. क्षीरनीरवत् कृत्यविवेकः सम्बद्धोऽयं पन्थाश्चैकः ।
रिक्तैरेतैः कापि न सिद्धिः, केवलमिथ्यामायावृद्धिः ॥

मुनि भिक्षु ने क्षीरनीर विवेक के आधार पर अपना एक मार्ग निश्चित किया। उन्होंने सोचा, संयमशून्य इन मुनियों के साथ रहने से कोई सिद्धि प्राप्त नहीं होगी, केवल मिथ्या मायाचार की ही वृद्धि होगी।

६२. आगमपाठा बहुविस्तीर्णा, मुख्या मुख्या सारधुरीणाः ।
पविलेखावत् ते सङ्कीर्णा, मानसपटले तेनोत्कीर्णाः ॥

जैन आगमों के पाठ अति विस्तृत हैं, परंतु जो पाठ मुख्य और सारवान् थे, मुनि भिक्षु ने उन पाठों को वज्ररेखा की भांति संक्षिप्त कर अपने मानस पटल पर उत्कीर्ण कर डाला।

६३. आगमदोहनतः सोल्लासः, समभूद् भिक्षोर्दृढविश्वासः ।
श्राद्धाः सत्याः सत्यः पक्षस्तेषामागमसम्मतलक्ष्यः ॥

आगमों के दोहन से मुनि भिक्षु को यह दृढ़ विश्वास हो गया कि ये श्रावक सच्चे हैं, इनका पक्ष भी सच्चा है और इनका लक्ष्य भी आगम-सम्मत है।

६४. वयमनगाराः साध्वाचारैः, पतिता नष्टा मिथ्याचारैः ।
भगवच्छासनतो विपरीताः, साकं भिन्नजनानपि नीताः ॥

भिक्षु ने मन ही मन सोचा—हम अनगार हैं, किन्तु हम साध्वाचार से शून्य हैं, तथा मिथ्या आचार से नष्ट हो रहे हैं। हम भगवान् के शासन से विपरीत चलते हुए सामान्य लोगों को भी साथ ले जा रहे हैं।

६५. स्वाऽचेतस्ता[1]परिहरणार्थं, सोऽयं यत्नं कुरुते सार्थम् ।
मिथ्यावादे यदि गतशङ्काः, सत्यासारे किमु सातङ्काः ॥

---

१. अचेतस्ता—अज्ञान।

तब मुनि भिक्षु अपने अज्ञान को दूर करने के लिए सफल प्रयत्न करने लगे और आत्मसंबोधन कर कहने लगे—आत्मन् ! यदि मिथ्या कहने में भी तुमको किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ तो अब सत्य कहने में कौनसा भय है ?

६६. इति निर्भीकतया श्राद्धानां, तेषां प्रोचे सह शङ्कानाम् ।
यूयं सत्याः सत्यपवित्राः, मिलिताः नः किं सहजसगोत्राः ॥

ऐसा विचार कर मुनि भिक्षु ने निर्भीकता से उन शंकाशील श्रावकों को कहा—'तुम सच्चे हो, सत्य से पवित्र हो। मैं मानता हूं कि तुम मुझे सहजरूप में सगे भाई ही मिल गए हो।'

६७. वयमानृत्ये स्पष्टं स्पष्टं, निःसङ्कोचं तेनाघुष्टम् ।
अस्माच्छेषं गुरुसंपर्काद्, व्याचिख्यासुः पश्चात् साक्षात् ॥

मुनि भिक्षु ने निस्संकोच होकर घोषणा की—श्रावकों ! हम मुनिजन स्पष्टरूप से असत्य मार्ग पर हैं। अभी तो मैं इतना ही कहता हूं। शेष मैं गुरुदेव से संपर्क करके ही कहूंगा।

६८. वयमभिषज्य स्फीतस्फूर्त्या, गुरुभिः साकं पूर्णप्रीत्या ।
आदित्सामः शुद्धं मार्गं, मोचं मोचमशुद्धं मार्गम् ॥

श्रावको ! चातुर्मास के पश्चात् हम अत्यंत स्फूर्ति के साथ गुरु के पास जायेंगे और पूर्ण प्रीति से उन्हें शुद्ध मार्ग का दिग्दर्शन करा कर अशुद्ध मार्ग को छोडने के लिए निवेदन करेंगें।

६९. भिक्षोर्वाचं श्रावं श्रावं, तेऽपि च तथ्या द्रावं द्रावम् ।
तस्थुर्मुदिता मेदुरमुग्धाः, स्थितवाङ्नेत्रा मानसलुब्धाः ॥

मुनि भिक्षु की वाणी सुनकर वे श्रावक द्रवित हो गए, गदगद् हो गए, तथ्य को पीने लगे एवं हर्ष के अतिरेक से मुग्ध हो गए। उनके नेत्र और वाक् स्तंभित हो गए और उनका मानस भिक्षु में लुब्ध हो गया।

७०. लालाटिकतां[1] ते भजमाना, अनिमिषनयना विस्मयमानाः ।
तान्त्रिकदिग्धा मन्त्रविमुग्धाः, सञ्जाता इव सान्द्रस्निग्धाः ॥

वे श्रावक सावधान उपासक की भांति मुनि भिक्षु को देखने लगे। विस्मय से उनके नेत्र अनिमेष हो गए। जैसे कोई व्यक्ति तंत्र से विमोहित और मंत्र से विमुग्ध हो जाता है, वैसे ही वे उपासक विमुग्ध होकर भिक्षु के प्रति अत्यन्त स्नेहिल हो गए।

१. लालाटिकः—सावधान उपासक ।

७१. तावत्तेभ्यो रम्याः शब्दाः, समववहन्ते गुणगणदृब्धाः।
अहो अपूर्वः पुरुषो दृष्टः, कैरपि पुण्यैरयमाकृष्टः ॥

तब वे श्रावक (अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए) रम्य शब्दों में मुनि भिक्षु का गुणगान करते हुए बोले—'अहो ! आज एक अपूर्व पुरुष का साक्षात्कार हुआ है ! हमें प्रतीत हो रहा है कि हमारे ही किन्हीं पुण्यों से आकृष्ट होकर ये यहां आए हैं।

७२. अधुनावध्यपि पुण्यपवित्रा, चित्रविचित्रा चारुचरित्रा।
एतादृक्षैरेव धरित्री, रत्नसवित्री रत्नधरित्री ॥

साधर्मिको ! ऐसे पुरुषों से ही आज तक यह धरा पुण्य से पवित्र, हर्ष से विचित्र तथा सुन्दर चरित्र वाली रही है। ऐसे नरपुंगवों से ही यह पृथ्वी रत्नगर्भा और रत्नधरित्री कहलाती है।

७३. क्षणवैलक्षणलक्षणलक्ष्यः, क्षोणितलैरखिलैरुपलक्ष्यः[1]।
अमुना वादयतीयं धाम्ना, वसुधा वसुन्धरा इति नाम्ना ॥

इस युग में यह पुरुष (मुनि भिक्षु) कोई विलक्षण लक्षणयुक्त है। यह समूचे पृथ्वीतल पर शरणभूत है। यह वसुधा इन्हीं के प्रताप से 'वसुंधरा' कहलाती है।

७४. नहि नहि भूमितलं गतवीरं, यत्संयोगात् सम्प्रति वीरम्।
यावच्छ्रीभिक्षोः संवृत्त्यं[2], तावत् सुखतो विलसतु सत्यम् ॥

यह भूमी आत्मबली वीरों से शून्य नहीं हुई है। ऐसे पुरुषों के संयोग से यह आज भी वीरवती है। जब तक श्री भिक्षु विद्यमान हैं तब तक 'सत्य' सुख की सांस लेता रहेगा।

७५. सत्यस्मिन्नो काचन भीतिः, फुल्लतु सत्यं फलतु सुनीतिः।
यस्मात्तस्य विजयिसाम्राज्यं, पुनरपि भविता भरते प्राज्यम् ॥

इनके होते हुए सत्य को कोई भय नहीं है। वह खूब फूले-फले और सुनीति फलवान् बने। इसी भिक्षु से भारतवर्ष में पुनः सत्य का विजयी साम्राज्य स्थापित होगा।

७६. आसीदेषां हृदये साक्षात्, सन्घोद्धारमहत्वाकाङ्क्षा।
सा साफल्यवतीव विशङ्का, लग्ना नूनं विगतातङ्का ॥

---

१. उपलक्ष्यः—आधार, शरण्य।
२. संवृत्त्यं—विद्यमानता।

इन श्रावकों के मन में प्रगट रूप से संघोद्धार की महत्वाकांक्षा थी। उस आकांक्षा को फलवती होने में अब कोई शंका या भय नहीं रहा।

७७. नेशा रोद्धुं हृदयोत्कण्ठाः, सम्भाषन्ते कोमलकण्ठाः।
यादृग् विश्वासो भवदीयः, समुपादर्शित ईदृक् स्वीयः॥

अपने हृदय की उत्कंठाओं को रोकने में असमर्थ वे श्रावक तब कोमलकंठों से कहने लगे—'हे आर्य! आप पर जैसा विश्वास था, वैसा ही आपने कर दिखाया।'

७८. एकमदस्ते मानसपूतं, वाक्यमहो गुणगणतः स्यूतम्।
अन्तःकरणं नो विश्वस्तं, नानाऽऽलापैः प्रणयति शस्तम्॥

'गुरुवर्य! गुण-समूह से ओतःप्रोत और पवित्र मन से निःसृत आपके एक ही वचन ने हमारे अन्तःकरण में विश्वास पैदा कर दिया है।' इस प्रकार वे श्रावक नानाविध वचनों से मुनिश्री का प्रशस्त गुणगान करने लगे।

७९. एको ह्यब्जो भुवनाभोगं, प्रणयति किं नो ललितालोकम्।
किं नो एकः किल तिमिरारिः, संहरते सन्तमसामालीः॥

८०. उत्कलयन्तं तिलतिलसारं, द्वैपञ्चाशन्मनमयवारम्।
एकोऽयं हरिचन्दनबिन्दुः, शमयति किं नो जितहिमसिन्धुः॥

८१. शोषितमोषितसारविलुप्तं, ग्रीष्मर्तोः सन्तापैस्तप्तम्।
किं नो पुष्कलवर्त्तो मेघः शमयति विश्वं गलितोद्वेगः॥

८२. इत्थं याऽभवदेका वाणी, विगतोत्साहमुखैर्मलिनानि।
क्षालं क्षालं बद्धाशानि, व्यङ्क्ते नोन्तःकरणशतानि॥

(चतुर्भिः कलापकम्)

वे श्रावक बोले—'क्या एक ही चन्द्रमा अपनी धवल चन्द्रिका द्वारा संपूर्ण पृथ्वीतल को आलोकित नहीं कर देता? क्या एक अकेला सूर्य सघन अंधकार को नष्ट नहीं कर देता?'

'क्या हिमसिन्धु को जीतने वाला हरिचंदन का एक बिन्दु उबलते हुए बावन मन तैल को ठंडा नहीं कर देता?'

'क्या ग्रीष्म ऋतु के संताप से तप्त, शोषित, संकुचित तथा सारहीन बने हुए संसार को पुष्कलावर्त मेघ उद्‌वेगरहित नहीं कर देता ?'

'इसी प्रकार आपने जो कहा, उस एक वचन ने अनुत्साह से मलिन बने सैकड़ों अन्तःकरणों का प्रक्षालन कर उनको आशान्वित कर दिया है।'

८३. तस्माद् भिन्नं भिन्नाकारं, कोटिकोटिकापटचविकारम् ।
नहि नहि तनुते वचनं तोषं, प्रत्युत वर्द्धयतेऽसन्तोषम् ॥

'हे मुने ! सत्य से भिन्न तथा भिन्नाकार वाले वचन जो बहुविध कपट और विकारयुक्त होते हैं, उनसे कभी संतोष नहीं होता। प्रत्युत वे असंतोष को ही बढ़ाते हैं।'

८४. युष्माभिः सह तात्त्विकचर्चा, क्लृप्ता किन्तु न सा च समर्चा ।
तस्या लेभे सस्याऽऽस्वादः, क्षीणः क्षीणतरोऽद्य विषादः ॥

'हे मुने ! हमने आपके साथ जो तात्त्विक चर्चा की, वह केवल चर्चा ही नहीं थी, किन्तु साथ-साथ उसमें आपकी अर्चा भी थी। हमने उसके फल का आस्वादन किया है। आज हमारा विषाद क्षीण, क्षीणतर हो गया है।'

८५. आकाशेभ्यो नोत्तरतीयं, पातालेभ्यो नोद्‌भवतीयम् ।
नान्यैः कृत्रिमकोटिकलापैरियं प्रतीतिर्विमलाशापैः[1] ॥

८६. आर्जवमार्जवमार्दवचित्तादऽवतारोऽस्या न्यायौचित्यात् ।
साक्षाद् द्रष्टव्येयं भव्यैः, सत्याद् भिक्षोः सूता सभ्यैः ॥
(युग्मम्)

यह विमल प्रतीति न आकाश से टपकती है, न पाताल से ही उद्‌भूत होती है, न विविध प्रकार की कृत्रिम प्रवृत्तियों से प्राप्त होती है और न शपथोक्तियों से ही जन्मती है।

इस प्रतीति का अवतरण ऋजुता, पवित्रता और करुणाशीलता से होता है। मुनि भिक्षु के एक सत्य वचन ने भव्य लोगों में यह प्रतीति उत्पन्न कर दी, यह साक्षात् द्रष्टव्य है।

८७. रक्षत रक्षत मयि विश्वासं, मा मा रक्षत मदऽविश्वासम् ।
एवं केवलजल्पाकत्वैः, किमिव तिष्ठते सोयं सत्त्वैः ॥

---

१. शापः—शपथोक्ति, सौगन्ध ।

'मेरे पर विश्वास रखो, विश्वास रखो, अविश्वास मत रखो'—ऐसा कहने वाले वाचाल व्यक्तियों के कथन से तथा सत्ताबल से क्या यह विश्वास कभी जम सकता है?

८८. शून्यपिचण्डैः[1] शून्यैर्गर्जैः, शून्यस्फुरणैः शून्यस्फूर्जैः।
मेघोऽयं किं सहजसदूर्मि, शस्यैः श्यामां कुरुते भूमीम् ॥

क्या शून्योदर, शून्य गाज-बीज तथा शून्यघोष वाला मेघ इस भूमी को शस्य-श्यामल और जल से सहज आप्लावित कर सकता है?

८९. मुग्धानन्दसमर्थितपीनं, बाह्याडम्बरसारविहीनम्।
क्षणिकं जनयति हर्षालापं, कार्यं पश्चाद् बहुसन्तापम् ॥

सामान्य जन के आनन्द एवं समर्थना से पुष्ट तथा बाह्य घटाटोप वाला और सारविहीन कार्य क्षणिक हर्ष को उत्पन्न भले ही कर दे किन्तु पश्चात् वह बहुत संतापकारी ही होता है।

९०. किन्त्वेतां तात्त्विकसम्पन्नां, श्रुत्वा भिक्षुगिरं व्युत्पन्नाम्।
रोमाञ्चितवपुषस्ते श्राद्धाः, सञ्जाता यत् कुमतव्याधाः ॥

किन्तु मुनि भिक्षु की तात्त्विक और ज्ञानयुक्त वाणी को सुनकर वे श्रावक रोमाञ्चित हो उठे और अयथार्थमत को नष्ट करने के लिए वे मानो व्याध ही बन गए।

९१. ये खरपुच्छादाने दक्षा, येऽन्धाक्षेपकराधःकक्षाः।
आभिग्रहिमुखमिथ्यापक्षा, अवसितमानास्ते च विलक्षाः ॥

जो गधे की पूंछ पकड़ने में दक्ष, झूठा आक्षेप करने वाले, जघन्य श्रेणी वाले, आभिग्रहिक मिथ्यापक्ष वाले तथा अहंकार से बंधे हुए श्रावक थे वे लज्जित से हो गये।

९२. स्वार्थप्रह्वो नासीद् भिक्षुर्यस्मादेकक आप्तबुभुक्षुः।
नो कार्पण्यं नो वैवर्ण्यं[2], तस्यौदार्यं विदुषां वर्ण्यम् ॥

मुनि भिक्षु स्वार्थी नहीं थे। वे अकेले ही वीतराग बनने के भूखे नहीं थे। वे कृपण तथा मनोमालिन्य से युक्त नहीं थे। उनकी उदारता विद्वानों द्वारा वर्णनीय थी।

९३. तस्मात् सविधे स्थितसाधूनां, लब्धं तत्त्वं प्रतिलिप्सूनाम्।
तेषां तारणसुधिया सोऽयं, दर्शयते प्रतिबोधयतेऽयम् ॥

---

१. पिचण्डः—पेट (पिचण्डो जठरोदरे—अभि० ३।२६८)

२. वैवर्ण्यं—मनोमालिन्य, निष्प्रभता।

इसलिए अपने साथ रहने वाले तत्त्व-जिज्ञासु साधुओं का उद्धार करने के लिए तथा प्रतिबोध देने के लिए मुनि भिक्षु ने स्वयं को उपलब्ध सत्य का उन्हें दिग्दर्शन कराया।

९४. सत्यविकाशे कः प्रतिबन्धः, सत्योल्लासे को निर्बन्धः।
हस्तक्षेपी तत्र निरोधी, सोऽयं मायाजालपयोधिः॥

सत्य के विकास में प्रतिबंध कैसा ? सत्य को उल्लसित करने में बाधा कैसी ? जो इस विषय में हस्तक्षेप करता है, सत्य-प्रवाह को रोकता है, वह मायाजाल का समुद्र है।

९५. ज्ञेय ज्ञेयं ज्ञानानन्दं, सन्तो विलसन्त्येवाऽसन्दम्।
भारिमालजीप्रमुखाः सर्वे, जाता मुख्याः सत्यसुगर्वे॥

साथ वाले सभी संत मुनि भिक्षु से तत्त्वज्ञान पाकर ज्ञानानन्द में अत्यंत लीन हो गये। प्रमुख संत भारिमलजी आदि उस सत्य की उपलब्धि से सात्विक गर्व का अनुभव करने वालों में मुख्य बन गए।

९६. अनगाराणां शुद्धविचारं, शुद्धाचारं वारं वारम्।
श्रुत्वा मत्वा भिक्षुमुनीन्द्रं, श्लाघन्ते ते तं निस्तन्द्रम्॥

मुनियों के शुद्ध आचार और शुद्ध विचार को बार-बार सुनकर वे सभी मुनि जागरूक मुनीन्द्र भिक्षु की प्रशंसा करने लगे।

९७. ते चत्वारः सन्तस्तावद्, विस्मितमनसो ब्रुवते यावत्।
धन्यो धन्यस्त्वञ्च मुमुक्षुर्धन्या ते धीस्तत्त्वदिदृक्षुः॥

(उस समय मुनि भिक्षु के साथ चार संत थे।) वे चारों मुनि विस्मय-विमूढ होकर कहने लगे—हे महाभाग ! धन्य-धन्य हैं आप मुमुक्षु को ! धन्य है तत्त्व का साक्षात् करने वाली आपकी बुद्धि को !

९८. सम्यग्बोधदिवाकरदीप्ता, सुभगाचारोत्तेजःकलिता।
चञ्चच्चिन्तारत्नमनोज्ञा, येनोद्गमिता श्रद्धा योग्या॥

हे विज्ञ ! आपने वीतराग की वाणी के योग्य वह श्रद्धा दिखलाई है जो सम्यक् ज्ञान रूप सूर्य से उद्दीप्त एवं विशुद्ध आचार के तेज से युक्त और चमकते हुए चिन्तामणि रत्न के समान मनोज्ञ है।

९९. नष्टातङ्कविनष्टाऽज्ञानं, न्यक्ष[1]क्षेमकरं विज्ञानम्।
निष्काशितवान् सोऽसंख्यानं, यस्माज्जागतिकं कल्याणम्॥

---

१. न्यक्षं—समग्र।

आर्य ! आपने ऐसा समग्र कल्याणकारी विज्ञान प्रस्तुत किया है जो भय और अज्ञान से शून्य है तथा जिससे व्यापक जागतिक कल्याण होने वाला है।

१००. आविष्कर्त्ता रत्नत्रय्या, या कल्याणी लोकत्रय्याः ।
नात्यातः का स्वच्छा व्यक्तिः, सकलहितार्थं यदभिव्यक्तिः ॥

आर्य ! तीनों लोक का कल्याण करने वाली रत्नत्रयी के आप उद्भावक हैं। यह उद्भावन संपूर्ण हित के लिए है। इससे और अच्छी अभिव्यक्ति दूसरी नहीं हो सकती।

१०१. अन्तर्लोचनयोः पर्याप्तं, येषामाविष्करणं जातम् ।
प्रसृमरा यज्ज्योतिर्माला, सत्यपथाप्तौ ते ह्युत्तालाः ॥

उन सहवर्ती मुनियों की अन्तर्दृष्टि पर्याप्त विकास कर चुकी थी। उससे विकास की ज्योतिर्माला प्रसृत हो रही थी। मुनि सत्य-मार्ग की उपलब्धि के लिए उतावले हो रहे थे।

१०२. बद्धाञ्जलयो विज्ञपयन्ते, श्रीमन्तः किं शिथिलायन्ते ।
श्रेयःकार्ये नैव विलम्बः, कार्यस्तूर्णं देयः स्तम्भः ॥

उन मुनियों ने बद्धांजलि हो मुनि भिक्षु से कहा—'श्रीमन् ! आप शिथिल होकर क्यों बैठे हैं ? नीतिवाक्य है कि शुभकार्य में विलंब नहीं करना चाहिए। आप शीघ्र ही जैन धर्म के जीर्ण-शीर्ण सौध को स्तंभ का अवष्टंभ दें।'

१०३. हेयः शिथिलाचारविचारः, श्रेयः श्रेयानात्मोद्धारः ।
निस्तरणीयो भवजलपारः, तत्र भव त्वं कर्णाधारः ॥

'आर्य ! आप शिथिल आचार और शिथिल विचार को छोड दें तथा श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर आत्मोद्धार को स्वीकार करें। आप स्वयं भवसागर के पार जाएं और दूसरों के पारगमन में कर्णधार बनें।'

१०४. केऽमी गुरवः कोऽयं सङ्घः, के च सतीर्थ्याः कोऽयं रङ्गः ।
केऽमी बाह्यारङ्गतरङ्गाः, तत्त्वमृतेऽतरतरलतरङ्गाः ॥

'कौन तो ये गुरु ? कैसा यह संघ ? कौन ये अपने साथी मुनि ? कैसी यह प्रतिष्ठा ? और कौनसी यह बाह्य सुख-सुविधा ? आर्य ! सत्य तत्त्व के बिना ये सारे समुद्र की चंचल तरंगों के समान हैं।'

१०५. तरितुं तारणचिन्होपेतान्, मत्वा धृतवन्तो वयमेतान् ।
विदितास्तद्गुणशून्याः शास्त्रैस्तस्मादेते हेया गात्रैः ॥

'मुने ! हमने भावसागर को तैरने के लिए ही तो इन मुनियों को संसार सागर से पार लगाने वाले जानकर स्वीकार किया है। हमने शास्त्रों के अध्ययन से जान लिया है कि ये मुनि-गुणों से शून्य हैं। अतः अब हमें इनको छोड देना चाहिए।'

१०६. सहयातानां दृष्ट्वा दाढर्चं, हार्दिकवृत्त्या धैर्यपराढचम् ।
भिक्षुर्मुमुदेऽद्यावधि धरणौ, सन्ति श्रेष्ठाः सज्जनसरणौ ॥

मुनि भिक्षु अपने सहवर्ती मुनियों की दृढ़ता, हार्दिक इच्छा तथा धैर्य की उत्कर्षता को देखकर बहुत हर्षित हुए। उन्होंने सोचा, आज भी धरती पर सज्जनों की श्रेणी में आने वाले श्रेष्ठ पुरुष हैं।

१०७. किन्तु तदानीं दीर्घदिदृक्षुः, परमानन्दपरार्थविवक्षुः ।
बहुजनहितमवलम्ब्य मुमुक्षुः, समयापेक्षक आसीद् भिक्षुः ॥

किन्तु उस समय परम आनन्द (मोक्ष) और परार्थ को कहने-सोचने वाले दीर्घदृष्टि मुमुक्षु भिक्षु बहुजनहित की बात पर ध्यान देकर उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

१०८. आशातीतैः सफलविचारैः, श्रेष्ठश्रेष्ठोदर्कासारैः ।
यत्रार्हन्त्यमतस्य समृद्धा, पुनरुद्धारे सीमाबद्धा ॥

आशातीत सफल विचारों से तथा भविष्य में अच्छे से अच्छे फल के आसारों से मुनि भिक्षु ने अर्हत् मत के पुनरुत्थान के लिए समृद्धिशाली मजबूत सीमा बांध दी।

१०९. राजनगरनगरेषु गरिष्ठः, श्रीमद्भिक्षोर्भिक्षोः प्रष्ठः ।
अन्तर्ज्योतिर्ज्वलितोल्लासः, प्रोत्तरितोऽयं चातुर्मासः ॥

मुनि भिक्षु का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, प्रधान और अन्तर् ज्योति की जगमगाहट से प्रज्वलित राजनगर का यह सातवां चातुर्मास सानन्द संपन्न हुआ।

श्रीनाभेयजिनेन्द्रकारमकरोद् धर्मप्रतिष्ठां पुनर्
यः सत्याग्रहणाग्रही सहनयैराचार्यभिक्षुर्महान् ।
तत्सिद्धान्तरतेन चारुरचिते श्रीनत्थमल्लर्षिणा
श्रीमद्भिक्षुमुनीश्वरस्य चरिते सर्गोऽभवत् सप्तमः ॥

श्रीनत्थमल्लर्षिणा विरचिते श्रीभिक्षुमहाकाव्ये ।
सत्याभिव्यक्तिप्रतिज्ञानामा सप्तमः सर्गः ॥

आठवां सर्ग

प्रतिपाद्य : राजनगर के श्रावकों को आश्वासन दे मुनि भिक्षु का आचार्य रघुनाथजी के पास आकर उनको सत्याभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करना।

श्लोक : ८१

छन्द : वंशस्थ

वर्ण्यम्

मुनि भिक्षु राजनगर के श्रावकों को गुरुवन्दना के लिए सहमत कर आचार्य रघुनाथजी के पास जाने के लिए प्रस्थित हुए। मार्गगत कठिनाइयों के कारण वे पांचों मुनि दो भागों में विभक्त हुए। मुनि वीरभाणजी एक मुनि के साथ आचार्य रघुनाथजी के पास पहले पहुंच गए। आचार्य के द्वारा राजनगर की स्थिति के विषय में पूछने पर उन्होंने कहा—'श्रावक क्या समझते, हम स्वयं समझ गए हैं। पूरी बात तो मुनि भिक्षु आयेंगे तब बतायेंगे।' यह सुनकर आचार्यश्री के विचारों में उथल-पुथल मच गई। मुनि भिक्षु के आने के पूर्व ही वे आग्रह-ग्रस्त हो गए। मुनि भिक्षु आए। सारा वातावरण विपरीत देखकर भाप गए कि मुनि वीरभाणजी के अधैर्य की यह परिणति है। उन्होंने गुरुवर्य को अत्यंत नम्र शब्दों में संपूर्ण वृत्तान्त की अवगति दी। परंतु आचार्य उनके प्रति और अधिक तन गए। तब मुनि भिक्षु कालक्षेप का चिन्तन कर गुरु के चरणों में प्रणत हो गए। जब सत्यग्राही श्रावकों ने यह सुना तब उन्होंने सोचा—मुनि भिक्षु ने यह क्या किया? अंधकार ने क्या प्रकाश को निगल लिया? ओह! भवितव्यता को बार-बार नमन!

अष्टमः सर्गः

१. अथान्धकारात् पथतोपसारकं, प्रकाशपुञ्जाभिमुखे प्रसारकम् ।
प्रपूर्य तत्सप्तमवृष्टयऽनेहसं, सुखेन चिक्रीड स भिक्षुरुन्नतः ॥

अथ अंधकार के पथ से हटाने वाला एवं प्रकाशपुञ्ज के अभिमुख ले जाने वाला राजनगर का सातवां चातुर्मास पूर्ण कर मुनि भिक्षु ने वहां से सुखपूर्वक विहार किया ।

२. नतोत्तमाङ्गार्पितहस्तयुग्मिनो, जनास्तदा सत्यधनास्त एव च ।
यथा हि लोकान्तसुरा जिनेश्वरं, निवेदयन्तीह तथा हि तं मुनिम् ॥

तब विहार के समय वे सत्य के धनी श्रावक नतमस्तक होते हुए एवं अपने दोनों हाथों को मस्तक पर चढाते हुए मुनि को वैसे ही विज्ञप्ति करने लगे जैसे लोकान्तिक देव जिनेश्वर देव को ।

३. यथार्थतीर्थं जिनपैः प्ररूपितं, प्रवर्त्तनीयं भवता वताऽधुना ।
प्रकाश्यते नो भुवनं भयावहं, प्रकाशकेनांशुमतापि तेन किम् ॥

'हे मुने ! जैसे तीर्थंकरों ने यथार्थ धर्म की प्ररूपणा की है वैसे ही आप भी यथार्थ—सत्य धर्म की प्ररूपणा करें । उस प्रकाशमान सूर्य से भी क्या, जो अंधकार से भयावह भुवन को प्रकाशित नहीं करता ?'

४. गुरोर्विमोहाद् भवितासि विक्रम! , ध्रुवात् स्वलक्ष्याच्छिथिलः कदापि मा ।
प्रयाहि शीघ्रं विजयस्व कर्मणि, वयं प्रतीक्षाप्रसितास्तवेप्सिते ॥

'हे विक्रम ! गुरु के मोह में फंसकर आप अपने लक्ष्य से कभी भी शिथिल मत होना, इसीलिये हम विज्ञप्ति कर रहे हैं कि अब आप शीघ्र प्रयाण करें और अपने कार्य में वियज प्राप्त करें । हम आपकी इष्टसिद्धि के लिए प्रतीक्षा एवं शुभ कामनाएं करते रहेंगे ।'

५. ततः स्वनेत्रोन्मिषकोपकारिणः, प्रचारिणस्तान् सुपथस्य पूर्वतः ।
विशिष्टसत्प्रत्ययवाक्सुधाचयैः, प्रसाद्य सद्यो विजहार स स्वयम् ॥

तब सर्वप्रथम सत्य के प्रचारक, अपनी आंखें खोलने वाले उन उपकारी श्रावकों को मुनि भिक्षु ने विशिष्ट सद् विश्वास को उत्पन्न करने वाले अमृतमय वचनों से संतुष्ट कर शीघ्र ही वहां से विहार कर दिया ।

६. अलङ्कृतं यद् गुरुभिः स्वगौरवैः, प्रसिद्धमाद्यन्मरुमण्डलान्तरे ।
शुभं पुरं सोजतसंज्ञकं प्रति, प्रतस्थिरे ते किल सत्यमूर्त्तयः ।।

उस समय गुरु रघुनाथजी प्रसिद्ध मरुधर देश के अन्तर्गत सोजत शहर को अपने गौरव से अलंकृत कर रहे थे, वहां विराज रहे थे । मुनि भिक्षु ने जब उस ओर प्रस्थान किया तब ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो सत्य की पांच मूर्तियां प्रस्थान कर रही हों ।

७. पथे लघून् ग्रामगणान् निरीक्ष्य स, दलद्वयं निर्मितवान् विचक्षणः ।
द्वितीयपक्षेश्वरवीरभाणजीं, प्रशासितुं साधुगिरोपचक्रमे ।।

राजनगर से सोजत के मार्ग में अनेक छोटे-छोटे गांव आते थे । पांच मुनियों का उन छोटे गांवों में एक साथ रहना कठिन जानकर विचक्षण मुनि भिक्षु ने साधुओं के दो दल बना दिए । दूसरे दल के अग्रगामी थे मुनि वीरभाणजी । मुनि भिक्षु ने संयतवाणी में उन्हें कहा—

८. पुरा श्रयेच्चेद् गुरुपादसन्निधिं, तदा न चर्च्यो विषयो ह्यसौ मनाग् ।
गभीरिमौदारिमधीरिमादिभिः, पचेलिमत्वं प्रविरच्यतां ततः ।।

९. यतो हि पूर्वं श्रुतिगोचरान्तरं, विधाय पक्षग्रहिलः कदाचन ।
भवेन् मनश्चेत् खचितं च तस्य वा, तदा गुरुर्बोधयितुं सुदुर्लभः ।।

१०. असावसाने तु गुरुर्निजो गुरुर्मनोभिकृष्टो न ततः सुबोधभाक् ।
कृतं विनष्टं न हि सुद्धृतं भवेत्, ततो वरा प्राग् वचने नियन्त्रणा ।।

११. कलाकलापैर्विनयाभिलापकैरहं लपित्वा हृदि तस्य तात्त्विकीम् ।
रुचिं निवेश्योत्तमयुक्तियोगतो निनीषुरार्हन्त्यपथं गुरुं निजम् ।।
(चतुर्भिः कुलकम्)

'हे वीरभाण ! यदि तुम गुरुचरणों में पहले पहुंच जाओ तो गुरु के समक्ष इस विषय की चर्चा कभी मत करना । इस विषय को गंभीरता, उदारता और धीरता से पचा लेना । क्योंकि इस विषय को पहले सुनकर किसी पक्ष के कारण गुरुदेव का मन तन जाए तो फिर उनको समझाना दुष्कर होगा ।'

'अन्ततःतो वे अपने गुरु हैं । यदि उनका मन तन जाएगा तो फिर समझाना कठिन हो जाएगा । एक बार बिगड़ा हुआ कार्य फिर सुधर नहीं सकता । इसलिए पहले वाणी पर नियंत्रण रखना ही अच्छा रहेगा । मैं वहां

आकर निपुणता से विषय को प्रस्तुत कर, विनयपूर्वक आलाप-संलाप कर उनके हृदय में तात्त्विक श्रद्धा उत्पन्न करने का प्रयास करूंगा। फिर मैं आगम की युक्तियों से गुरुदेव को अर्हत् मार्ग पर लाने की चेष्टा करूंगा।'

(इस प्रकार मुनि वीरभाणजी को समझाकर मुनि भिक्षु दूसरे मार्ग से सोजत की ओर चल पडे।)

१२. स वीरभाणो हि तथात्वयोगतो, बुभूषयामास पुरा पुरं तकम्।
उपेत्य तत्राध्युषितं निजं गुरुं, विधेर्ववन्दे स्वपरम्परागतात्॥

भावी के योग से वीरभाणजी मुनि भिक्षु से पूर्व ही सोजत शहर में पहुंच गये जहां गुरु रघुनाथजी विराज रहे थे। उन्होंने अपनी परम्परागत विधि से गुरु के चरणों में वन्दना की।

१३. तेनाऽपि पित्रेव यथेप्सिताशया, शिरः शयोत्सर्जनतादि[1]कर्मभिः।
सुखं समापृच्छ्य नरेन्द्रपूर्नृणामपृच्छि वृत्तान्तमसौ सचेतसा॥

जैसे किसी आशा से प्रेरित होकर पिता अपने पुत्र के शिर पर हाथ रखता है वैसे ही गुरु रघुनाथजी ने वीरभाणजी आदि संतों के शिर पर हाथ रखा, सुख-पृच्छा की और राजनगर के श्रावकों का वृत्तान्त पूछा।

१४. किमङ्ग ! निष्काशितवानऽगारिणां, प्रविष्टशङ्काविषशङ्कुसन्निभाः।
न किं निरस्ता यदि वात्र यद् भवेत्, समादिश त्वं मम शिष्यसत्तम !

'हे प्रिय वत्स ! क्या राजनगरवासी श्रावकों के हृदय में प्रविष्ट जहरीली कीलों के समान जो शंकाएं थीं, उन शंकाओं का निराकरण कर दिया ? इस विषय में जो कुछ हुआ हो वह स्पष्ट रूप से बताओ।'

१५. गुरुस्तदेवं परिपृच्छ्य संस्थितो, दृशा तदीयोत्तरसम्प्रतीक्षकः।
नवैः समाचारवरैर्ध्वनिग्रहौ, न कोऽत्र सम्पावयितुं समुत्सुकः॥

आचार्य रघुनाथजी मुनि वीरभाणजी को ऐसा पूछ कर मौन हो गये और उत्तर की प्रतीक्षा करते हुए उनकी आंखों के सामने देखने लगे। नये समाचारों से अपने कानों को पवित्र करने के लिए कौन समुत्सुक नहीं होगा ?

---

१. शयः—हाथ (पञ्चशाखः शयः शमः—अभि० ३।२५५)

१६. स्मरन्नपि श्रीमुनिभिक्षुभारतीं, निरोद्धुमीशो न बभूव भाणकः ।
समुद्रगाम्भीर्यधरा प्रवर्त्तते, तडाकिका किं कृतपालिकाऽपि सा ।।

तब वीरभाणजी मुनिश्री भिक्षु की प्रदत्त-शिक्षा को याद करते हुए भी अपने आपको रोक नहीं सके। क्या चारों ओर पाल से घिरी हुई तलाई समुद्र की गभीरिमा को धारण कर सकती है ?

१७. प्रभञ्जनाङ्गोद्‌भवलम्बपुच्छवत्, तदुत्तरं दातुमतीवसत्वरः ।
अवक् स ॐ ब्रूहि कथं वयं मृषा, त एव सत्या इति संबभाषिवान् ।।

तब वीरभाणजी ने गुरु के सम्मुख हनुमानजी के पूंछ के समान लम्बा-चौड़ा उत्तर देते हुए कहा—'हां, शंकायें निकाल दी हैं।' गुरु ने फिर पूछा—'कहो, कैसे निकाली ?' तब वे बोले—'हम झूठे और वे श्रावक सच्चे।'

१८. पुनः प्रचष्टे यदि संशयो भवेत्, तदा च निष्काशयितुं प्रयत्नता।
नितान्तशङ्कारहिता जिनागमसुमर्मगास्ते तु यथार्थवादिनः ।।

'उन राजनगरवासी श्रावकों के हृदय में यदि शंकाएं हों तो निकालने के लिए प्रयत्न किया जाए। वे तो नितान्त शंका-रहित हैं। वे जैनागमों के मर्मज्ञ हैं और यथार्थ कहने वाले हैं।'

१९. क्व साधुताऽस्मासु जिनागमोक्तिभिर्मरुस्थले कल्पलतेव पुष्पिता ।
क्व नोऽस्ति सद्दर्शनदर्शनं निजे, प्रकाशरुद्धाचलगह्वरेष्विव ।।

'जैसे मरुस्थल में कल्पलता पुष्पित नहीं होती वैसे ही कहां है हमारे में जैन आगमों में वर्णित साध्वाचार से मंडित साधुत्व ? जैसे पार्वतीय गुफा में प्रकाश का होना असम्भव है, वैसे ही अपने में कहां है सम्यग् दर्शन ?'

२०. सदा सदोषाशनपानमात्रया, प्रभुज्यते नो मुनितामतल्लिका ।
यथा भुजङ्ग्या गरलोग्ररूपया, प्रसङ्गतापातनरोपजीवनी ।।

'आर्य ! जैसे उग्र विष को धारण करने वाली सर्पिणी अपने निकट में आए हुए मनुष्य के प्राणों का हरण कर लेती है, वैसे ही अपनी यह निरन्तर दोष सहित अशन-पान की मात्रा-रूपी सर्पिणी हमारे श्रामण्य का भक्षण करती जा रही है।'

२१. मुनीन् हृदाधाय विनिर्मितानपि, प्रसन्निताः स्थानकभोजनोपधीन् ।
प्रसादयामः प्रजहाम एव न, समस्तभक्ष्यग्निवदेव किञ्चन ।।

'गुरुदेव ! मुनियों के उद्देश्य से बनाये गये स्थानक, भोजन एवं उपधि का हम प्रसन्न चित्त से सर्वभक्षी अग्नि की भांति उपयोग करते हैं, कुछ भी नहीं छोड़ते।'

२२. सदैकगेहादऽशनं च पानकं, निपातुमत्तुं प्रतिगृह्यते च यत्।
निगद्यते तत् खलु नित्यपिण्डकमकारणं तद् गृह्याम आयतम्॥

'हम सदा एक घर से अशन-पान, खाने-पीने के लिए ग्रहण करते हैं। ऐसे आहार को शास्त्रों में नित्यपिंड माना है। हम बिना कारण ही उसे सहर्ष स्वीकार करते हैं।'

२३. पतद्ग्रहाच्छादपरिच्छदादिकावधेर्नु तृष्णातुरवद् विभञ्जकाः।
प्रसह्य सद्यष्कविशिष्टवस्तुनो, ग्रहे प्रवृत्ताः सुविधाधनाः स्वयम्॥

'पात्र एवं ओढने-पहनने के कपड़े तथा परदे आदि की मर्यादा को लोभी व्यक्ति की भांति तोड़ते जा रहे हैं और प्रसन्नतापूर्वक नई एवं विशिष्ट वस्तु को ग्रहण करने के लिए तत्पर रहते हैं। हम केवल सुविधावादी बन बैठे हैं।'

२४. विना नियोगादभिभावुकार्थिनां, विनेयलोभात् परिवारगृध्नुवत्।
अपीह यान् कांस्तनुमश्च दीक्षितान्, विवेकवैकल्यपरापरीक्षितान्॥

'परिवार की वृद्धि करने में आसक्त व्यक्ति की भांति हम शिष्यों के लोभ से अभिभावकों की आज्ञा के बिना ही विवेक-विकल व्यक्तियों को उनकी योग्यता की परीक्षा किए बिना ही जैसे-तैसे दीक्षित कर लेते हैं।'

२५. विहिंसया क्रूरतमःकटाक्षिताः, दिवानिशं द्वारकपाटपाटकाः।
ब्रवीमि किं किं बहुदोषकोशिनो, वयं चरित्रैः पतिताः सुनिश्चितम्॥

'क्रूर पापों के कटाक्ष से देखे जाते हुए हम हिंसा करते हैं, रात-दिन कपाट खोलते-बंद करते हैं। क्या-क्या बताऊं ? हम दोषों के भंडार हैं और निश्चय ही हम चारित्र से गिर चुके हैं।'

२६. न केवलं तत् परिसेवनेन ही, पर्याप्तभावः किल किन्तु कूटतः।
तदीयसंस्थापनमौचितीं पुनः, प्रकृत्य नैजोद्भटतानिदर्शिनः॥

हम केवल उन दोषों का सेवन ही नहीं करते किन्तु कपटपूर्वक उन दोषों के औचित्य की स्थापना कर अपनी उद्भटता दिखाते हैं।

२७. विवेकिनस्ते मुनिपर्युपासका, लपन्ति तथ्यं शुभयोगिराजवत् ।
अलीकमालिन्यकलङ्ककालिमा, न तत्र वाण्यां लवलेशमात्रिकः ॥

'गुरुदेव ! वे राजनगरवासी श्रावक विवेकी हैं एवं विशिष्ट योगीराज की तरह सत्यवादी हैं । उनकी वाणी में मिथ्यामालिन्य की कलंक-कालिमा का तो लवलेश भी नहीं है ।'

२८. वयं मृषा पोल्लपथप्रचारका, यथार्थतासत्कथनापवारकाः ।
हरिद्विमूढा हिरणा इवोच्चकैर्नयैकपद्या भ्रमिता भ्रमाकुलाः ॥

'हम झूठे हैं । हम शिथिल आचार का प्रचार करने वाले हैं तथा यथार्थ को ढांकने वाले हैं । जैसे दिग्विमूढ मृग इधर-उधर भागते हैं वैसे ही हम भी भ्रमाकुल होते हुए न्याय मार्ग से इधर-उधर भटक रहे हैं ।'

२९. वयं हि मिथ्येति निशम्य कर्णयोस्त्रिशूलतुल्यं स्वमनोऽमनोरमम् ।
तदा गुरुर्द्रव्य उवाद सादिवत्, किमित्थमाख्यासि ह वीरभाणक ! ॥

मुनि वीरभाणजी के मुख से, कानों में त्रिशूल तुल्य और अमनोज्ञ लगने वाले 'हम झूठे हैं' ऐसे शब्दों को सुनकर रघुनाथजी नियंता की भांति बोले—'वीरभाण ! ऐसे क्या कह रहा है ?'

३०. अवक् गुरो ! ऽहं कथयामि सूनृतं, यथा प्रवृत्तं मम चाक्षुषं तथा ।
न दृष्टमात्रेण हि किन्तु केवलं, स्वपण्डया स्वानुभवेन सम्मतम् ॥

मुनि वीरभाणजी बोले—'गुरुवर्य ! जो कुछ मेरी आंखों के सामने घटित हुआ है, वही मैंने कहा है । केवल देखने मात्र से ही नहीं, किंतु अपनी बुद्धि एवं अनुभव के आधार पर कह रहा हूं ।'

३१. ममोपकण्ठे तु तदंशमात्रकं, तत्संनिधौ ब्राह्मविशालपुस्तकम् ।
मया त्वियं किञ्चन पञ्जिका कृता, महान् महाभाष्यकरस्तु सैव हि ॥

'प्रभो ! मेरे पास तो एक अंश मात्र ही है, ब्रह्माजी का विशाल पोथा तो उनके पास है । मैं तो इस विषय की पञ्जिका मात्र हूं, पर महान् भाष्यकार तो मुनि भीखणजी ही हैं ।'

३२. प्रलम्बपोल्लावरणापसारणविशालतौर्यत्रिक[1]रङ्गमञ्चके ।
अहं ह्युपोद्घातकरोऽयमादिमः, स साङ्गपूर्णाभिनयाभिदर्शकः ॥

---

१. तौर्यत्रिकं—गीत, नृत्य और वाद्य—इन तीनों से युक्त नाटय (गीतनृत्यवाद्यत्रयं नाट्यं तौर्यत्रिकञ्च तत्—अभि० २।१९३)

'इस विशाल नाटक के रंगमंच पर मैंने प्रलंब 'पोल' के आवरण को हटाने रूप प्रारंभ का उपोद्घात ही प्रस्तुत किया है। मुनि भिक्षु ही सांगोपांग नाटक दिखायेंगे।'

३३. प्रवृत्तिरेषा निखिला त्वनाकुला, तदागते ज्ञास्यत एव विस्तृतम्।
स्वमानसेऽमाततयेत्थमूचिवान्, समस्तवृत्तं स च वीरभाणकः॥

मुनि वीरभाणजी बात को पचा नहीं सके। उन्होंने अथ से इति तक सारा वृत्तान्त बताते हुए अन्त में कहा—'गुरुदेव! मुनि भिक्षु के आने पर ही आप इस विषय का समूचा वृत्तान्त सहजरूप से जान पायेंगे।'

३४. अपेशलैस्तादृशवाचिकैस्तदा, गणाधिपः सोऽस्मितवक्त्रपङ्कजः।
महाहिमान्योत्पलवन्मलीमसो, बभूविवान् किंकरणीयमूढकः॥

ऐसे अमनोज्ञ समाचारों से श्री रघुनाथजी का मुख-कमल वैसे ही मुरझा गया, जैसे अति हिमपात से कमल मुरझा जाता है। अब वे किंकर्त्तव्यविमूढ हो गए।

३५. अथ क्रमात्तद्घटनान्तरेण स, समागमद् भिक्षुरनन्यमानसः।
अनीनमद् बद्धकराब्जकुड्मलो, गुरुं गरीयस्तमगौरवोच्छ्रितः॥

इस घटना के बाद ग्रामानुग्राम विहार करते-करते स्वच्छमना मुनि भिक्षु सोजत पहुंचे। उन्होंने करबद्ध होकर अत्यन्त विनयपूर्वक महान् गुरु को वंदना की।

३६. परन्तु पाणिर्व्यतरन्न मूर्धनि, चुकोप कोपारुणशोणिताननः।
कुरंगचित्तेन विचित्रचित्रलो, विलोकते तं स कुरङ्गचक्षुषा॥

मुनि भिक्षु को देखते ही रघुनाथजी का क्रोध उभर आया। उनका मुंह लाल हो गया। उन्होंने भिक्षु के शिर पर हाथ नहीं रखा। उनका चित्त विचारों के उतार-चढाव से चंचल हो गया और वे विचित्र भाव-भंगिमा से भिक्षु को देखने लगे।

३७. अबोधि तत्कालमतन्द्रचन्द्रमा, अनुक्ततद्गोचरगोपुरान्तरम्।
मनीषिणामिङ्गितमेव पुष्कलं, तदा स भिक्षुर्व्यचिचिन्तयत् पुनः॥

गुरु की भ्रूभंगिमा को देखकर परम पुरुषार्थी और अवसरज्ञ मुनि भिक्षु ने बिना कहे ही उनके भावों को भांप लिया और विचारमग्न हो गए। मनीषी व्यक्ति के लिए तो संकेत ही पर्याप्त होता है।

३८. उदन्त आवेदित एव दृश्यते, मत्तः पुरस्तादनुगामिना मम ।
विपर्ययाऽमुष्य विगूढपद्धतिस्ततोनुयुञ्जे प्रशमप्रसङ्गतः ॥

उन्होंने सोचा—मेरे अनुगामी मुनि वीरभाणजी ने मेरे पहुंचने से पूर्व ही सारा वृत्तान्त कह दिया, ऐसा प्रतीत हो रहा है । गुरु की चित्त-वृत्ति विपरीत हो चुकी है । मुझे अब शान्त चित्त से पूछना चाहिए ।

३९. कृताञ्जलिः प्राञ्जलिकोऽन्वयोजयत्, प्रभो ! विलक्षः कथमित्थमादिश ।
व्युदासचित्तस्य किमस्ति कारणमदात् कथं नो मम मस्तके करम् ॥

तब मुनि भिक्षु ने हाथ जोड़कर गुरुदेव से पूछा—'प्रभो ! आज आप का चित्त असाधारण क्यों है ? इतना उदास क्यों है ? आपने मेरे सिर पर अपना वरदहस्त नहीं रखा, इसका क्या कारण है ?'

४०. तदाऽभ्यधाद् गच्छधुरन्धरस्तकं, विलोमलोमा च विलोमलोचनः ।
अहो ! तवान्तःकरणेप्युपासते, विशालशङ्का अवितर्किताः किमु ॥

तब गच्छाधिपति आचार्य रघुनाथजी ने टेढी नगर से भिक्षु को देखते हुए प्रतिकूल होकर बोले—'अहो ! तुम्हारे अन्तःकरण में भी अनेक शंकाएं हैं, यह तो मैं कल्पना भी नहीं करता था ।'

४१. मदर्थसिद्ध्यै प्रति शिष्टवानहं, विनाशितं प्रत्युत कार्यजातम् ।
ततो मनो मे स्फटितं त्वया समं, भवेन्न ते मे मिलनं च चेतसोः ॥

"मैंने अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए तुमको वहां भेजा था, परंतु तुमने तो कार्य ही बिगाड़ डाला । इसीलिए मेरा मन तुम्हारे से फट चुका है । अब तुम्हारा और मेरा मन मिल नहीं सकता ।'

४२. पुनस्तथा नावशनाम्बुमिश्रणं, न विद्यते त्वं शृणु नव्यकोविद !
विभीषिकामेवमशिष्टवर्त्मना, प्रदर्श्य सोऽस्थादभियोगभीषणः ॥

'हे नए ज्ञानी ! और भी तुम सुनो । अब तुम्हारा हमारे साथ आहार-पानी का संभोग भी नहीं रह सकेगा ।' इस प्रकार अवांछनीय विभीषिका दिखाते हुए, आक्षेप करते हुए, आचार्य रघुनाथजी अपने आपमें भीषण बन गए ।

४३. तदा स्वयं द्रव्यगुरोरगौरवं, निरीक्ष्य चुक्षोभ न भिक्षुरक्षरः ।
गभीरिमाधःकृतशेषनीरधिः स किं स्वयम्भूरमणोब्धिरस्थिरः ॥

तब मुनि भिक्षु अपने गुरु द्वारा किये गये असम्मान को देखकर किंचित् भी कुपित एवं क्षुब्ध नहीं हुए । क्या कभी अपनी गभीरिमा से अन्यान्य समुद्रों को जीतने वाला स्वयम्भूरमण समुद्र क्षुब्ध हो सकता है ?

४४. सरोषणे रोषविशेषकारको, न कार्यनिष्पत्तिकरः कदाचन ।
दवानलं शुष्कसुरूक्षकेन्धननिधायकः किं शमयेत् कथञ्चन ।।

क्रोधी के प्रति क्रोध करने वाला मनुष्य कभी भी अपनी कार्य-सिद्धि नहीं कर पाता । क्या दावानल शुष्क वृक्ष के इंधन से कभी शान्त हो सकता है ?

४५. समग्रसामग्र्ययुतेऽपि मानवे, क्रमज्ञताप्यत्र महोपयोगिनी ।
क्रमज्ञताहीनतरः स एव च, पदे पदे निष्फलतामशिश्रयत् ।।

समग्र सामग्री से संपन्न मनुष्य के लिए भी क्रमज्ञ—क्रम को जानने वाला—होना बहुत उपयोगी है । जो क्रम को नहीं जानता उसे पग-पग पर असफलता ही प्राप्त होती है ।

४६. कठोरकर्मातिकठोरकर्मणि, क्षणं विना मा कुरुतात् मनागपि ।
समाधिना स्थेयमतीवसुन्दरं, क्षणे प्रवीणो हि महाप्रवीणकः ।।

कठिन से भी कठिन कार्य क्यों न हो, अवसर के बिना उसका प्रारंभ कभी नहीं करना चाहिये । उस समय तो समाधि में स्थिर रहना ही सुन्दर है । जो अवसर को जानने में प्रवीण है वही महाप्रवीण है ।

४७. अत्युत्सुकत्वं नहि कार्यसाधकं, निरुत्सुकत्वं ह्यपि हेयलक्षणम् ।
ततः समर्ज्योवसरो वशेऽनिशं, शुभे समेते समये स्वतोऽर्थवान् ।।

अति उत्सुकता से भी कार्य की सिद्धि नहीं होती और निरुत्सुकता भी हेय है । इसीलिये समय को ही अपने वश में करना चाहिए । शुभ समय के आने पर स्वतः कार्यसिद्धि हो जाती है ।

४८. अयं तु कृत्स्नासु कलासु कोविदः, पटुप्रकारैः प्रकृतं न्यवीवदत् ।
निरर्थकाश्चेन्मम संशया इमे, ततः प्रमाणैः प्रणिरूपयन्तु तान् ।।

सभी कलाओं में निपुण मुनि भिक्षु महान् समयज्ञ थे, इसीलिये उन्होंने समय को पहचान कर अपने चातुर्य से पुनः गुरु को निवेदन किया—'भंते ! यदि आपकी दृष्टि में मेरे ये संशय निरर्थक हैं, तो शास्त्रीय-प्रमाणों से उन शंकाओं का समाधान करें ।'

४९. पुनः स्वचित्ते चतुरत्वचक्रिणा, व्यचिन्ति तावद् बहुलाभलिप्सया ।
अमीषु चास्मासु न संयमोऽधुना, न चापि सम्यक्त्वसुसौरभं मनाग् ।।

५०. अतो हठेनालमकालिकेन नो, महाफलेच्छुव्यवसाग्निनामिव ।
ततोऽद्य केनापि यथार्थवर्त्मना, प्रतीतिमस्मै प्रतिपत्तुमाकले ।।

५१. ततः प्रयासैः प्रतिबोध्य मेधया, निनीषुरेतं निगमे नयोज्ज्वले ।
तदेत्थमन्तःकरणे कृपाकुले, विमृश्य तद्द्रव्यगुरुं जजल्पिवान् ।।
(त्रिभिर्विशेषकम्)

उन चतुर-शिरोमणि मुनि भिक्षु ने बहुलाभ की इच्छा से ऐसा विचार किया—वर्तमान में इन गुरु में और हम सन्तों में न तो चारित्र है और न सम्यक्त्व की सौरभ ही है ।

इसीलिये यह असामयिक हठ भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि व्यवसायी की तरह मैं भी महान् फल-लाभ का इच्छुक हूं, इसलिए कोई यथार्थ विधि से गुरु को प्रतीति उत्पन्न करने की मैं कोशिश करूं ।

मैं अपनी मेधा से प्रयास कर गुरुदेव को समझाऊंगा और उन्हें न्याय-मार्ग पर लाने का प्रयत्न करूंगा । अपने करुणार्द्र हृदय में ऐसा विचार कर मुनि भिक्षु गुरु रघुनाथजी से बोले—

५२. मृषा सशङ्कं यदि मां व्यलोकयेत्, तदा द्रुतं दण्डयितुं प्रशक्नुयात् ।
प्रतीतिमेवं समुपार्ज्य तैरमा, चकार चाहारविहारभोजनम् ।।

'यदि आप मानते हैं कि मैं निरर्थक ही सशंक हुआ हूं तो आप मुझे दंड दे सकते हैं ।' इन वचनों से प्रतीति उत्पन्न कर मुनि भिक्षु ने उनके साथ पुनः आहार-पानी का सम्भोग जोड़ लिया ।

५३. गुरुं प्रबोद्धुं सहसङ्घविष्टपं, पुनः समुद्धर्तुमनन्तसंसृतेः ।
कियत्समुत्कण्ठितमस्य मानसं, विदन्ति विद्यावधिपारगामिनः ।।

अपने गुरु को एवं ससंघ संसार को प्रबुद्ध करने के लिए तथा उसका अनन्त संसार से पुनरुद्धार करने के लिए मुनि भिक्षु का अन्तर्मानस कितना उत्कंठित था, यह तो सर्वज्ञ ही जान सकते हैं ?

५४. निजार्थसंसाधकजन्तुजातैर्भृता त्रिलोकी परितोवलोक्यते ।
क्व चेदृशः किन्तु परार्थसाधकः, प्रियङ्करोऽन्यो वसुधासुधाकरः ।।

अपनी स्वार्थसिद्धि करने वाले साधकों से ये तीनों लोक भरे हुए दिखाई देते हैं । परंतु कहां हैं मुनि भिक्षु जैसे दूसरे परार्थसाधक साधक जो वसुधा पर चन्द्रमा की भांति प्रियंकर हों ?

५५. भवेद् यदास्मिन् पृथकीयभावना, स्वनामगच्छोद्भवकीर्त्तिकामना ।
महत्त्वमुख्यत्वमनस्तदाऽमुना, क्रियेत किं सम्मिलितान्नपानकम् ।।

यह स्पष्ट है कि यदि भिक्षु के हृदय में गुरु से अलग होने की भावना, अपने नाम से गच्छ के उद्भव की कीर्तिकामना और मुख्य बनने की लालसा होती तो वे पुनः गुरु के साथ आहार-पानी का संभोग कैसे जोड़ते ?

५६. प्रतीयते कारुणिको महामनाः, परोपकारैकपरायणोत्तरः ।
गुरुत्वसम्बन्धविशेषितं तकं, भवार्णवात्तारयितुं यतोऽग्रणी ।।

ऐसा प्रतीत होता है कि महामना भिक्षु परम करुणाशील और परोपकार-परायण थे। वे गुरु से विशेष संबंधित होने के कारण उनको भवार्णव से पार लगाने के लिए अगुआ बने।

५७. न शिष्यरूपेण वियुक्तमानसो, गुरुत्वकाङ्क्षाकलितोऽप्ययं नहि ।
यदृच्छया वस्तुमनाः न केवलं, शिवेच्छुरीयेत तथोपलक्षणैः ।।

मुनि भिक्षु न शिष्यरूप में रहने से घबराते थे और न गुरु बनने की आकांक्षा रखते थे। वे स्वतंत्र रूप से रहने के इच्छुक भी नहीं थे। वे तो केवल कल्याण की भावना से जीवनयापन करना चाहते थे। यह उनके उपरोक्त लक्षणों से ज्ञात होता है।

५८. अतो हि सौन्दर्यविचारधारया, प्रकृत्य संभोगमशेषमात्मना ।
समाधिमास्थाय निरन्तरान्तरं, मुदा सुवार्तासुपथः प्रतीक्ष्यते ।।

इस सुन्दर विचारधारा से वे गुरु के साथ आहार-पानी का संभोग कर समाधि में स्थिर रहने लगे और निरन्तर गुरु के साथ वार्तालाप के सुअवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

५९. इदं समाकर्ण्य पुनः प्रवेशनं, रघोर्गणे भिक्षुमुनेः सुदुःसहम् ।
नरेन्द्रपूःसत्यदलानुगामिनो, जगुर्जनास्ते बहुखिन्नमानसाः ।।

इधर मुनि भिक्षु का रघुगण में असंभावित पुनः प्रवेश को सुनकर वे सत्यपक्षी राजनगरवासी श्रावक अत्यंत खिन्न हो गए और कहने लगे—

६०. स एव तथ्योद्धरधर्मधूर्धरो, विलोक्य यं विश्वसिमः स्म किञ्चित् ।
प्रसारिता येन विशालशान्तिता, प्रदर्शिता दर्शनदीर्घदर्शिता ।।

६१. वयं च यस्मै स्पृहयालवो बहु, यतोऽभिलाषा जिनशासनोद्धतौ ।
अकम्पता मेरुमहीयसी महासमुद्रमुद्रेव महागभीरिमा ।।

(युग्मम्)

'हम सभी ने मुनि भिक्षु को ही धुरा को धारण करने वाले देखकर, उन पर विश्वास किया था। उन्होंने ही (हमारे अशान्त मन में) विशाल शांति का प्रसार किया था और उन्होंने ही जैन दर्शन की दूरदर्शिता का भान कराया था।'

'उनके प्रति हमारा बहुत अनुराग था और जिनशासन के उद्धार की अभिलाषा उनसे ही जागृत हुई थी। उनमें मेरु पर्वत की भांति अडोलता और समुद्र की भांति महान् गभीरिमा है।'

६२. य एकमात्रं शरणं जिनेश्वरमतस्य रक्षाविधयेविधानतः।
य एव नः प्रत्ययमानभाजनं, यतश्चतुर्थारकदृश्यकामना॥

६३. अदर्शयत् सत्यरहांसि सूत्रतो, महौजसा मोहममत्वमोक्षकः।
स्वयं हृदा स्फोटच यथार्थभाषणे, बभूव वीराग्रिमवीरसत्तमः॥
(युग्मम्)

'जो जिनेश्वर मत की शास्त्रसम्मत रक्षाविधि के एकमात्र शरण हैं, जो हमारे विश्वास और प्रमाण के स्थान हैं और जिनके द्वारा हम चौथे आरे की रचना को देखने के इच्छुक हैं, उन मुनि भिक्षु ने आगम के सत्य रहस्यों को हमें बताया है। वे महाशक्ति से सम्पन्न, मोह और ममत्व को तोड़ने वाले हैं। उन्होंने अपने आप सत्य का उद्घाटन कर वीराग्रणी व्यक्तियों में उच्च स्थान प्राप्त कर लिया है।'

६४. परःशताधर्मधुरन्धरा नरा, यदाग्रहेषु ग्रहिला गुणार्थिनः।
यदर्थमास्मो वयमुन्नताननाः, यदर्थमन्यैर्विवदन्त उद्धुराः॥

६५. कृताः कियन्तः कलुषान्तकारिणो, मनोरमा यत्र मनोमनोरथाः।
स एव हाऽस्मान् प्रविहाय निष्फलान्, कथं कदर्येषु पुनः प्रविष्टवान्॥
(युग्मम्)

'सैकड़ों धर्मधुरन्धर व्यक्ति जिनके आग्रहयुक्त कथन में रसिक और गुणार्थी हैं, जिनके लिए हम ऊंचा मुंह कर चलते हैं, जिनके विषय में हम दूसरों से विवाद करने के लिए तत्पर रहते हैं, जिन्होंने कितने ही कलुषित अन्तःकरण वालों के मनोरथों को पूरा किया है, वे हमें यों ही निष्फल छोड़कर उस शिथिलाचारी संघ में पुनः कैसे प्रविष्ट हो गए?'

६६. किमत्र जातं किमजातवन्नवमलौकिकी का घटना प्रवर्त्तिता।
न बुध्यतेऽथ प्रबलाय भाविने, मनो मनोहृत्य ततो नमो नमः॥

'यह क्या हुआ? क्या नहीं हुआ? कौनसी अलौकिक घटना घटित हो गई? हम कुछ भी नहीं जान पा रहे हैं। भावी बलवान है। इसलिए उस प्रबल भावी को बार-बार नमस्कार।'

६७. सहायकानेव समुन्नताननानधोमुखान् कर्तुमनाः किमेषकः।
निजोत्तमाङ्गोत्तमभूषणोपमं, विजानतो ध्वंसयितुं च जीवदान्॥

'क्या मुनि भिक्षु ऊंचा मुंह किए हुए अपने सहायकों को ही नीचा दिखाने के लिए तथा मस्तिष्क के उत्तम आभूषण की उपमा वाले अपने जीवनदायी तत्त्वों को, जानते हुए भी, ध्वंस करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं ?'

६८. यदीयमाहात्म्ययशोविलासतः, प्रसादिनः किं रचितुं विषादिनः ।
निरन्तरोन्मीलितलोचनाम्बुजैः, दिदृक्षुभक्ताक्षिकजं निमीलितुम् ॥

'जिनके माहात्म्य और यशोविलास से जो प्रसन्न रहते थे, क्या उनको विषादग्रस्त करने के लिए अथवा जो निरन्तर खुली आंखों से जिनको निहारते थे, उन भक्तजनों की आंखों को निमीलित करने के लिए उन्होंने वैसा किया ?'

६९. शुभाशिषां यस्य यदा समर्पिणः, सुधामुधाकारगुणाभिगायिनः ।
यदेकनामापमृतोपजीविनो, विधातुमौदास्यपरान् परायणः ॥

'सभी भक्तजन इनके प्रति समर्पित थे। वे अमृत को भी व्यर्थ करने वाले इनके गुणों का अभिगान करने में रस लेते थे। वे इनके एक नाम पर मरने-जीने वाले थे। क्या मुनि भिक्षु इन सबको उदासीन करने में तत्पर हुए हैं ?'

७०. धर्मिष्ठधर्मप्रियधर्मधारकान् नरान्निरानन्दयितुं ततोऽपरान् ।
महाश्लथाचारविचारचारता, समुच्छ्रितान् नन्दयितुं समुद्यतः ॥

'धर्मिष्ठ, धर्मप्रिय और धर्मधारक व्यक्तियों को तथा महान् शिथिल आचार और विचार से ऊपर उठकर जो आचार-विचार का पालन करते थे उनको मुनि भिक्षु आनन्दित करने के लिए समुद्यत थे। परंतु इनसे विपरीत व्यक्तियों के लिए वे आनन्ददायी नहीं थे।'

७१. अलौकिके कौतुककोटरान्तरे, प्रवेश्य हा ! ऽस्मानपरान् विनोदयन् ।
सुधर्मविध्वंसकगच्छगह्वरे, विवेश संवेशवशेन वा पुनः ॥

'अलौकिक कुतूहल के कोटर में हमें प्रविष्ट करा कर वे हमारा और दूसरों का विनोद कर रहे हैं। वे अब सुषुप्त होकर सुधर्म विध्वंसक गच्छ के विवर में पुनः कैसे प्रवेश कर गए ?'

७२. तदीयकाङ्क्षाऽथ तदीयसन्निधौ, न किन्तु कान्तं कलितं कृतान्ततः ।
निवेद्यते कः क्रियते श्रुतानुगो, महान् विमर्शः समुपस्थितोऽयम् ॥

'उनकी आकांक्षा उनके पास थी, किन्तु सिद्धान्ततः उन्होंने उचित नहीं किया। अब कौन उनको आगमानुसारी चलने का निवेदन करे ? आज यह महान् विमर्श समुपस्थित हो गया है।'

७३. इयद् यदा स्वात्मसु दुर्बलाबलं, कथं तदानीं कृतवांस्तथाविधम्।
उपक्रमात् सत्यतमात् सचेतनः, पराङ्मुखः स्यात् किमु कोपि जीवितः॥

'यदि अपने आपमें इतनी दुर्बलता थी तो फिर उन्होंने ऐसा कदम क्यों उठाया ? क्या कोई जीवित और सचेतन साधक सत्य के उपक्रम से पराङ्मुख हो सकता है ?'

७४. परेश्वरः प्रार्थ्यत एव सोऽधुना, प्रभो ! प्रदेया प्रतिभा पुनः शुभा।
ततः स भिक्षुश्च दलत्तलादरं, समुद्धृतौ नः प्रभवेत् समाधिना॥

'अब हम परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं—प्रभो ! आप भिक्षु को पुनः सद्बुद्धि दें, जिससे वे संघगत विशेष आदर की उपेक्षा कर हमारा उद्धार करने में सहज समर्थ हों।'

७५. कृतं न जैनं सुकृतं च रक्षितं, क्रियासु कार्श्यं तदिदं फलं च।
अनल्पसङ्कल्पविकल्पतल्पगैर्जनैस्तदेत्थं प्रवितर्कितं स्यात्॥

उस समय लोग संकल्प-विकल्प के जाल में अत्यधिक फंस गए। उन्होंने सोचा, हमने जैन धर्म की यथार्थ आराधना नहीं की और सत्क्रियाओं के करने में कृपणता बरती। उसी का यह परिणाम है।

७६. न तं विना कोपि विभुर्यथार्थताप्रकाशने जैनजगज्जनान्तरे।
प्रभाकरात् को जलजानि भासितुमधीश्वरः स्याद् भुवनत्रिकेपि च॥

'मुनि भिक्षु के बिना कोई भी दूसरा व्यक्ति जैन जगत् की जनता के बीच यथार्थता को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं है। क्या तीनों लोकों में सूर्य के बिना ऐसा कोई अन्य ग्रह है जो कमलों को विकसित करने में समर्थ हो ?'

७७. विवञ्चितो वञ्चनताविदग्धकैः, कटाक्षितो वा कुविधेः कटाक्षकैः।
कलाकुलैराकलितो यथा तथा, रहस्यमेतन्न कलेत कोपि वा॥

लोगों ने सोचा—'क्या भिक्षु निपुण वंचकों के द्वारा ठगे गए हैं ? अथवा क्या कुभाग्य की टेढी-मेढी नजरों से देखे गए हैं ? अथवा कला-निपुण व्यक्तियों द्वारा जैसे-तैसे फंसाए गए हैं ? यह रहस्य कोई नहीं जानता।'

७८. **कदाचिदस्मासु सुदैवयोगतो, भवेत् सुपुण्या परमेश्वरीकृपा ।**
तदा समुद्‌विज्य तदीयशैथिलात्, समुत्तरेत् सत्यरणाङ्गणे पुनः ॥

कदाचित् हमारे सौभाग्य से, परमेश्वर की परम कृपा से यह सुयोग मिल जाए कि वे अपने शैथिल्य को दूर कर, सत्य के रणाङ्गण में पुनः उतर आएं ।

७९. **प्रविष्टवान् किञ्चिदचिन्त्यकारणात्, परं न तिष्ठासुरसौ चिरन्तनः ।**
बकोट[1]वारं[2] गमितोऽपि किं वसेत्, स राजहंसो विहगावतंसितः ॥

वे किसी अचिन्त्य कारण के वशीभूत होकर उस गण में प्रविष्ट हुए हैं, पर वे वहां अधिक समय तक नहीं रह पायेंगे । क्या पक्षिराज राजहंस भाग्यवश बगुलों के समूह में चले जाने पर भी वहां रह सकता है ?

८०. **अलं क्षताचारमुनीश्वरैरलं, गुरुश्च्युतः स्यात् कुगुरुः सृतं च तैः ।**
अखाद्यपेये रसिको भवेच्च किं, निरन्नपानः क्षुधितः पिपासितः ॥

दूषित आचार वाले मुनियों से हमें क्या ? मार्गच्युत गुरु से क्या ? उनसे भी क्या लेना-देना जो कुगुरु का आश्रयण ले रहे हैं ? क्या भूखा-प्यासा सभ्य व्यक्ति उत्तम भोज्य और पेय पदार्थों के अभाव में अखाद्य और अपेय पदार्थों का उपभोग करेगा ?

८१. **ततो न यावत् सुगुरुर्मिलेदिव, नरान्तरीपान्तरवर्त्यणुव्रती ।**
गृहे स्थिता एव वयं च साम्प्रतं, जिनेन्द्रधर्मं प्रविधित्सवः स्वयम् ॥

इसलिए जब तक सुगुरु का संयोग नहीं मिलता, तब तक अढाई द्वीप के बहिर्वर्ती तिर्यञ्च अणुव्रतियों की भांति हम अपने घर में रहते हुए स्वयं जिनधर्म का पालन करने के इच्छुक हैं ।

श्रीनाभेयजिनेन्द्रकारमकरोद् धर्मप्रतिष्ठां पुनर्,
यः सत्याग्रहणाग्रहीसहनयैराचार्यभिक्षुर्महान् ।
तत्सिद्धान्तरतेन चारुरचिते श्रीनत्थमल्लर्षिणा,
श्रीमद्‌भिक्षुमुनीश्वरस्य चरिते सर्गोऽजनिष्टाष्टमः ॥

श्रीनत्थमल्लर्षिणा विरचिते श्रीभिक्षुमहाकाव्ये भिक्षोः
राजनगरश्रावक-समाधानगुरुसमीपागमन-विचारविमर्शनामा
अष्टमः सर्गः ।

---

१. बकोटः—बगुला (बके कह्वो बकोटवत्—अभि० ४।३९८)
२. वारः—समूह (संघाते प्रकरौघवार····—अभि० ६।४७)

नौवां सर्ग

प्रतिपाद्य : मुनि भिक्षु का आचार्य रघुनाथजी के टोले से पृथक् होना। संघ द्वारा उत्पादित विविध कष्टों को सहना। आचार्य जयमलजी से विचार-विमर्श करना आदि।

श्लोक : १९८

छन्द : मन्दाक्रान्ता

वर्ण्यम्

राजनगर चातुर्मास संपन्न कर मुनि भिक्षु आचार्य रघुनाथजी के पास आ गए। अनेक बार तात्त्विक चर्चाएं हुईं। आचार्यजी अपने अभिमत पक्ष से तनिक भी नहीं हटे। मुनि भिक्षु ने दया, दान आदि विषयक आगमिक मान्यताओं से सम्बन्धित चर्चाएं कीं। परन्तु वे उन्हें मानने के लिए उद्यत नहीं हुए। परिणामतः मुनि भिक्षु वि० सं० १८१७ में चैत्र शुक्ला नवमी को बगड़ी नगर में आचार्य रघुनाथजी के संप्रदाय से विलग हो गए। प्रथम प्रवास श्मशान में स्थित ठाकुर जेतसिंहजी की छत्री में हुआ। आचार्यजी वहां उन्हें समझाने आए। पर व्यर्थ। उन्होंने विरोध का बवंडर खड़ा किया। मुनि भिक्षु सभी प्रकार के विरोधों को सहते हुए अपने गन्तव्य पर अग्रसर होते रहे। आचार्य जयमलजी ने मुनि भिक्षु की क्रान्ति को सराहा। वे उनके विचारों से पूर्णतः सहमत हो गए और उन्होंने उनके साथ रहने का निश्चय कर लिया। परन्तु आचार्य रघुनाथजी उन्हें बहकाकर अपने पक्ष में रखने में सफल हो गए। आचार्य जयमलजी ने अन्ततः मुनि भिक्षु को उनके साहसिक उपक्रम पर आशीर्वाद देते हुए उस क्रान्ति की सफलता की कामना की।

नवमः सर्गः

१. सत्प्रस्तावं नयनविषयीकृत्य कार्मैकवीरो,
वार्तालापं लपनकुशलस्तैः समं प्रारिरिप्सुः ।
अप्रारब्धं भवति हि कथं कार्यमुद्योगसाध्यं,
प्राप्तं केनाभिलषितफलं केवलं कल्पनाभिः ॥

उस कर्मवीर वाक्कुशल भिक्षु ने सुअवसर देख संघपति के साथ वार्तालाप प्रारम्भ कर दिया। जो कार्य पुरुषार्थ-साध्य है, उसके लिए पुरुषार्थ किए बिना वह सिद्ध कैसे होगा ? क्या किसी ने केवल कल्पनाओं से अपने अभिलषित फल को प्राप्त किया है ?

२. कः सङ्कोचः प्रकृतकरणे न्यायपक्षान्वितानां,
कालक्षेपैरलमलमहो धीमतां धीधनानाम् ।
अद्य श्वो वा किमिति करणे लब्धवेलाभिलाभे,
कर्त्तव्यं स्यादतिशयबलात्तद्धि कर्त्तव्यमेव ॥

अपना कार्य करने के लिए न्यायावलंबी व्यक्ति को कैसा संकोच ? बुद्धिमान् व्यक्तियों के लिए कालक्षेप करना उचित नहीं होता। अवसर प्राप्त हो जाने पर 'आज या कल', 'आज या कल' क्यों किया जाए ? जो करना है, उसको प्रबल शक्ति से कर ही लेना चाहिए।

३. द्रव्याचार्यं मुकुलितकरो नम्रमौलिप्रदेशो,
व्याजह्रेऽसौ गुरुवर ! वरा श्रूयतां मेऽद्य वाणी ।
आनन्दार्थं न च न च मनाग् जाठराग्निप्रशान्त्यै,
सन्तो जाताः खलु वयमिमे त्यक्तगेहाधिवासाः ॥

ऐसा सोचकर मुनि भिक्षु आचार्य रघुनाथजी के पास आए और बद्धांजलि हो सिर झुकाकर बोले—'पूज्य गुरुवर ! आज आप मेरी बात सुनें। हम सभी गृहवास को छोड़कर केवल पेट भरने के लिए अथवा आमोद-प्रमोद के लिए मुनि नहीं बने हैं।'

४. यत्स्वात्मानं भवजलनिधौ मज्जनोन्मज्जनानि,
तन्वन्तं तारयितुमचिरान् मोक्षधामाधिरोढुम् ।
ऐह्यानन्दं क्षणिकसुखदं दुःखमूलानुकूलं,
त्यक्त्वा सन्तो यदुपशमतामासिवांसो वयं च ॥

'गुरुवर ! हमारी यह आत्मा अनन्त काल से भवसागर में उन्मज्जन-निमज्जन कर रही है। उसका उद्धार कर शीघ्र ही मोक्षपद पाने के लिए हमने ऐहिक आनन्द तथा दुःख के मूल क्षणिक सुख को छोड़कर संयम का आश्रय लिया था।'

५. संस्पृष्टा नो वयमनुमितेः किन्तु सत्च्छ्रद्धनाभि-
र्मिथ्यामार्गैः स्खलितचरणा नष्टनष्टाः सुमार्गात् ।
तस्मात् त्यक्त्वाऽभ्युपगतहठं साम्प्रतं साम्प्रतं यं,
सत्यं शुभ्रं शिवपुरपथं संश्रयामः शिवार्थम् ॥

'संयम का संस्पर्श तो दूर, सत्श्रद्धान् ने भी हमारा स्पर्श नहीं किया है, ऐसा अनुमान होता है। मिथ्यामार्ग पर चलने के कारण हमारे चरण सुमार्ग से स्खलित हो गए हैं और हम संयम से भ्रष्ट व्यक्तियों द्वारा स्वयं भी नष्ट हो गए हैं। इसलिए अब हमें इस स्वीकृत दुराग्रह को छोड़कर, स्व-कल्याण के लिए सत्य एवं शुभ्र शिवपथ का ही अनुसरण करना चाहिए।'

६. विद्वान्सस्ते चतुरचतुरा धीधनाढ्येषु मुख्याः,
स्वात्मोद्धृत्यै विगलितमदाः सत्यमन्वेष्टुमुत्काः ।
लब्धे तस्मिंस्तदनुसरणे पक्षपातातिरिक्ताः,
सज्जाः प्राज्यं त्वरिततरणाकाङ्क्षिणः कापथान्ताः ॥

'वे ही वास्तव में विचक्षण विद्वान् और प्रकाण्ड बुद्धि संपन्न हैं जो अपने आत्मोद्धार के लिए अहंकारशून्य होकर सत्य की अन्वेषणा में उत्कंठित, सत्य की उपलब्धि हो जाने पर उसकी अनुपालना में पक्षपातशून्य तथा कुमार्ग का अन्त कर, अत्यधिक सज्जित होकर शीघ्र ही संसार समुद्र से तैरने की आकांक्षा रखते हैं।'

७. सूत्राणां श्रद्दधतु सुतरां सत्यवाक्यानि शश्वद्,
यस्मात् सर्वा भवति सफला सत्क्रिया निष्क्रियार्हा ।
मिथ्या श्रद्धा जिनवरवचः श्रद्धयाऽभिप्रमाय,
हेया हेया मुकुरमणिवद् रत्नकामैरिवार्यैः ॥

'हम आगमों की सत्यवाणी पर पूर्ण श्रद्धा रखें, जिससे हमारी सारी-सत्क्रिया मोक्ष प्राप्ति में सहयोगी बने। आप्तोपदेश की श्रद्धा से निर्णीत मिथ्याश्रद्धा वैसे ही हेय होती है जैसे रत्नमणि को पाने के इच्छुक के लिए काचमणि हेय होती है।'

८. पूजाश्लाघामहिममहिमाऽनन्तशोऽनन्तकृत्वो,
जीवैरेतैः सुलभसुलभा सङ्गता सङ्गतार्हा ।
किन्त्वार्हन्ती मिलितुमनघा दुर्लभा तत्त्वलिप्सा,
नाना तस्याः सृतमपि मनाग् नास्य जीवस्य कार्यम् ॥

'हे आर्य ! इस आत्मा ने अनन्त बार, अनन्त प्रकार से पूजा, श्लाघा तथा महती महिमा को अत्यंत सुलभता से प्राप्त किया है। पवित्र आर्हती तत्त्व-श्रद्धा की प्राप्ति दुर्लभ है। उसकी उपलब्धि के बिना आत्मा की किञ्चित् भी कार्यसिद्धि नहीं होती।'

९. केषाञ्चित् सा सुकृतमनसा प्राणिघातादिकेषु,
पुण्यस्येयं स्फुटसुनयिनां पाप्मनस्तत्र केषाम् ।
मिश्रस्यैषा भवति खलु नो[1] न्यायहीना सदैवं,
श्रद्धा त्रैधा जगति वितता साम्प्रतं कालदोषात् ॥

'कालदोष के प्रभाव से वर्तमान में तीन प्रकार की श्रद्धा प्रचलित है—

१. सुकृत—धर्म के लिए की जाने वाली जीवहिंसा में पुण्य मानने वाली ।

२. धर्म के लिए की जाने वाली जीवहिंसा में पाप मानने वाली ।

३. मिश्र—हिंसा में पाप तथा भावों की शुद्धि में धर्म मानने वाली।'

१०. अस्माभिर्वा यदभिमनितं मिश्रतामाननीयं,
तत् सिद्धान्तैर्मिलति न मनाग् युक्तिनिर्युक्तिभिश्च ।
एकोनेहोदिनरजनिवत् पुण्यपापद्वयं यन्,
न स्यान्नूनं कथमपि मिथश्चैककार्ये विरोधात् ॥

'गुरुवर्य ! उपरोक्त तीन प्रकार की मान्यताओं में हम तीसरी मान्यता—मिश्र को मानते हैं। परन्तु वह आप्तवाणी में उपलब्ध नहीं होती और न युक्तियों और निर्युक्तियों से ही प्रमाणित होती है। एक ही समय में दिन और रात—दोनों नहीं हो सकते। पुण्य और पाप—दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। एक ही कार्य में ये दोनों नहीं हो सकते।'

११. दातुर्मुक्तानलपनतो वाक्प्रयोगो ह्यशुद्धः,
शुद्धौ त्वन्यौ यदि च युगपत् किं दयायां तथा न ।
एवं चेत् स्तामपि सदऽसदौ काययोगाऽविशुद्धेः,
शुद्धात् स्वान्ताद् व्रतमघमिहाऽशुद्धकायात् तदानीम् ॥

---

१. नो—अस्माकम् ।

'कहा जाता है कि मुनियों को खुले मुंह बोलते हुए दान देने वाले गृहस्थ का वचनयोग अशुद्ध है किन्तु साथ ही साथ मनयोग और काययोग शुद्ध हैं। तो फिर अनुकंपा के विषय में ऐसा क्यों नहीं माना जाता? यदि ऐसा हो तो काययोग को अशुद्ध तथा वचनयोग को शुद्ध मानने पर शुद्ध मनोयोग से धर्म और अशुद्ध काययोग से पाप एक साथ मानना होगा।'

१२. किन्त्वेवं नो कथमपि ततः प्रोक्तहेतुः कुहेतुः,
कायाऽशुद्धेर्ग्रहणमभितो कल्प्यमाप्तैर्निषिद्धात्।
दद्याद्दाता यदि खलु लपन् कश्चिदुद्घाटितास्यै-
राज्ञाग्राह्यं तदपि च सतां क्वापि शास्त्रेऽनिषेधात्॥

'किन्तु ऐसा कभी संभव नहीं है। इसलिए जो हेतु दिया है, वह कुहेतु है। दान देने वाले गृहस्थ का काययोग यदि अशुद्ध है तो उसके द्वारा दिया जाने वाला दान अकल्प्य है। आप्तपुरुषों ने इसका सर्वथा निषेध किया है। यदि कोई दान-दाता खुले मुंह बोलते हुए भी देता है और उसका काययोग शुद्ध है तो उसके द्वारा दिये जाने वाले दान को ग्रहण करना विहित है, अर्हत् की आज्ञा में है। शास्त्रों में कहीं भी उसका निषेध नहीं है।'

१३. आज्ञामुख्या जिनवरमते चिन्त्यमस्माद्धि तादृग्-
हेत्वाभासैः कथमपि गुरो! मिश्रितायानसिद्धिः।
नो वा नद्युत्तरणतरवच्चैकसार्द्धंकदाचि-
च्छास्त्रादेशात्प्रकृतसदऽसद्योगयुग्मप्रसिद्धिः॥

'गुरुदेव! जिनशासन में आज्ञा ही मुख्य है। इस पर हमें विशेष ध्यान देना चाहिए। पूर्वोक्त हेत्वाभासों से मिश्रधर्म की सिद्धि नहीं हो सकती। नदी उतरने में शीत और ताप एक साथ होते हैं (किन्तु दोनों की अनुभूति युगपद् नहीं हो सकती) वैसे ही शुभ और अशुभ योग—दोनों एक साथ कभी भी नहीं हो सकते, ऐसा आगमों का कथन है।'

१४. यावन्त्यस्मिन् भुवनभवने कार्यजातानि यानि,
त्रैधा योगैस्त्रिविधकरणैः साध्यमानानि तानि।
पक्षं सार्घं निरघमथवा संश्रयन्ते नितान्तं,
ताभ्यां भिन्नः कथमपि कुतो नास्ति भेदस्तृतीयः॥

'विश्व में जितने भी क्रिया-कलाप हैं वे सारे तीन करण और तीन योग से ही संपन्न होते हैं। ये करण तथा योग या तो सावद्य होते हैं या निरवद्य। इन दो भेदों के अतिरिक्त तीसरा भेद—सावद्य-निरवद्य का मिश्रण कहीं होता ही नहीं।'

१५. योगाः सर्वे करणपदतां कर्मणां संभजन्ते,
सांहोऽनंहो द्विविधमिह वा कार्यमेवास्ति तस्मात् ।
यादृक्कार्याश्रयणसहितास्तादृशा एव योगाः,
कार्याभेदैस्तदिव समला निर्मला वा भवेयुः ॥

'सभी योग (तीनों योग) कार्य की निष्पत्ति में साधनरूप होते हैं। कार्य दो ही प्रकार का है—सावद्य अथवा निरवद्य। जैसे कार्य होंगे वैसे ही योग होंगे और जैसे योग होंगे वैसे ही कार्य होंगे। इन्हीं के आधार पर सावद्यता, निरवद्यता फलित होती है।' (तात्पर्यार्थ में कार्य से योग अभिन्न तथा योग से कार्य अभिन्न होते हैं।)

१६. आज्ञामुख्यं जिनमतमतः कार्यमात्रं च यद्य-
दाज्ञाबाह्यं भवति समलं निर्मलं तत् प्रविष्टम् ।
नाऽन्यो भेदः स्फुरति समये क्वापि तत्त्वार्थदृष्ट्या,
तस्मादाज्ञा जिनभगवतां सर्वथाऽऽराधनीया ॥

'जैनशासन में आज्ञा का ही सर्वोपरि महत्त्व है। जो-जो कार्य आज्ञा से बाहर हैं वे सावद्य और जो आज्ञा में हैं वे निरवद्य हैं। तत्त्वार्थ की दृष्टि से इन दो विकल्पों के अतिरिक्त तीसरा विकल्प आप्तवाणी में प्राप्त नहीं है। इसलिए जिनेश्वर देव की आज्ञा की अखंड आराधना करनी चाहिए।'

१७. बध्नात्येषोऽध्यवसितिवशादेकदा पुण्यमात्मा,
पापं वार्हत्समयवचनैर्ज्ञायते स्पष्टमस्मात् ।
एको योगो भवति युगपद् योऽशुभो वा शुभो वा,
नान्यस्तत्त्वैः क्वचिदपि भवेन् मिश्रयोगो नियोगः[1] ॥

आत्मा अपने अध्यवसायों के आधार पर कभी पुण्य का बन्ध करती है और कभी पाप का। भगवद्वाणी के आधार पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि एक साथ एक ही योग होता है—शुभ अथवा अशुभ, दूसरा नहीं। कहीं भी मिश्रयोग अर्थात् शुभ-अशुभ दोनों साथ होने की विधि (आज्ञा) नहीं है।

१८. बाह्याभासैः क्वचिदपि लगेद् यौगपद्यं तयोर्यत्,
तत् कालस्यातिशयतनुताभिर्भ्रमो योऽत्र किन्तु ।
गोलाकारोल्मुककृतचमत्कारवत् सम्भ्रमैर्वा-
ऽलक्ष्यः सार्द्धं कजशतदलोद्भेदवत् सत्क्रमोऽपि ॥

१. नियोगः—विधि, आज्ञा।

बाह्य आभासों से कहीं शुभ-अशुभ योग की युगपत् प्रवृत्ति का होना लगता है तो वह भ्रममात्र है, क्योंकि समय अत्यंत सूक्ष्म होता है। जब अलात को गोलाकार रूप में घुमाया जाता है तो वह अग्नि का चक्र-सा बनकर चमत्कार-सा लगता है। गति की शीघ्रता के कारण ऐसा लक्षित होता है। भाले की नोक से शतपत्र कमल का भेदन करने पर प्रतीत होता है कि कमल के सौ दलों का भेदन एक साथ हो गया है, पर उसका भेदन क्रमशः ही होता है।

१९. यावद् वारं विषयनयनं जायतेऽन्तर्मुहूर्त्त-
वत् प्रत्येकं क्रमिकमुदयेन् नित्यमीहादिकं च ।
आन्तर्यं तत् सपदि नियमाच्छक्यते नैव वेत्तुं,
शीघ्रत्वेन श्रुतमतिमताभ्यां महाभ्यासतोऽपि ॥

'प्रत्येक बार इन्द्रिय-विषय का ग्रहण अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के क्रम से एक अन्तर्मुहूर्त्त काल में होता है। वे नियमतः क्रमशः होते हैं किन्तु शीघ्रता तथा अभ्यास के कारण मति-श्रुतज्ञानी उनके आन्तर्य—कालभेद को नहीं जान पाते।'

२०. आलोच्योऽयं गहनविषयो ज्ञाननेत्रैर्भवद्भि-
र्मिश्रो धर्मो भवति न ततः कारणाऽभावतो हि ।
मिश्रस्यापि क्वचन समये भेदमात्रोपलब्धिः,
पुण्यापुण्योभयविजननी नैकदा सा कदापि ॥

'गुरुवर्य ! आप अपने ज्ञाननेत्रों से इस गहन विषय का विमर्श करें। मिश्र धर्म के होने का कोई कारण ही नहीं है। आगमों में जहां मिश्र शब्द का प्रयोग है, वह मात्र भेद को बताने के लिए है। ऐसा एक भी उल्लेख नहीं है, जिससे पुण्य-पाप की उत्पत्ति एक ही कार्य से होती हो।'

२१. एकस्मिन् यत्समयसमये कृत्रिमं कार्यमात्रं,
न स्यान्नूनं कथमपि कुतो जैनसिद्धान्तसारात् ।
न्यूनैर्न्यूनो लगति समयो यत्र संख्यातिगोऽन्तः-
र्मौहूर्त्तो वा परिणतिमुखेष्वेवमेव प्रबोध्यम् ॥

'जैन सिद्धान्त के अनुसार एक समय (काल का न्यूनतम भाग) में कोई भी कृत्रिम कार्य नहीं होता। प्रत्येक कार्य का न्यूनतम कालमान है—अन्तर्मुहूर्त, जो असंख्य समय का होता है। उस प्रवृत्ति की परिणति भी इतने समय से कम समय में कैसे होगी?'

२२. लेश्याध्यानाध्यवसितिसयुक् पारिणामादि पञ्च,
तुल्याः सर्वे नहि विषमतां ते मिथः संस्पृशन्ति ।
एकस्मिन् यत्सहकलुषिते ते समस्तास्तथा स्यु-
रेकस्मिन् वा विगतकलुषे ते च सर्वेऽनवद्याः ॥

यह सैद्धान्तिक तथ्य है कि अध्यवसाय, परिणाम, योग, लेश्या और ध्यान—ये पांचों एक कार्य में, परस्पर विषम नहीं हो सकते। यदि इनमें से एक कलुषित—सावद्य होता है तो पांचों सावद्य होंगे और यदि एक निरवद्य होता है तो पांचों निरवद्य होंगे।

२३. एवं लेश्यापरिणतिसयुक्ध्यानयुग्मापभाव-
स्तस्मात् सार्द्धं त्वकृतविषये[1] पुण्यपापं कथं स्यात् ।
धर्मध्यानोद्भवनसमये स्यात्कथं ध्यानमार्त्त-
मार्त्ते तद्वत् क्व किमिव भवेद् धार्मिकध्यानधारा ॥

इस प्रकार जब अध्यवसाय, परिणाम, योग, लेश्या और ध्यान एक साथ सावद्य-निरवद्य—दोनों नहीं हो सकते, तब एक ही कार्य में पुण्य और पाप—दोनों कैसे हो सकते हैं? धर्मध्यान के समय आर्त्तध्यान कैसे हो सकता है और आर्त्तध्यान के समय धर्मध्यान कैसे हो सकता है?

२४. षोढा जीवान् गतघृणहृदोदीर्य यो हन्ति तस्य,
भावान् शुद्धान् प्रणिगदति यः सोऽस्ति मन्दोऽनभिज्ञः ।
तादृग्जल्पात्तदनुमतिकृत् प्रेरको हिंसकानां,
नाम्ना जैनः सुमतिविकलः शुद्धबुद्धेर्विहीनः ॥

कोई क्रूर व्यक्ति उदीरणा कर छह काय के जीवों की हिंसा करता है और कोई उस व्यक्ति के परिणामों को शुद्ध बतलाता है, वह अज्ञानी है, मूर्ख है। वैसा कहने वाला हिंसा का अनुमोदक और हिंसक व्यक्ति का प्रेरक बनता है। वह सुमति से विकल और शुद्ध बुद्धि से विहीन नाममात्र का जैन है।

२५. हत्वैकाक्षानदयहृदयैः पोषणे पञ्चखानां,
मिश्रो धर्मः कथमपि भवेद् भावशुद्धि ह्यपेक्ष्य ।
तद्द्रव्यार्चात्रिदशसरितास्नानदेवालयादौ,
तद्धर्मः स्यान्न[2] इह मननाद् भावशुद्धेः समत्वात् ॥

---

१. त्वकृतविषये इति एककार्यगोचरे। 'त्व' इति एकः।
२. नः—अस्माकम्।

दयाहीन हृदय वाले व्यक्ति एक इन्द्रिय वाले प्राणियों को मार कर पांच इन्द्रिय वाले जीवों का पोषण करते हैं। वे भावशुद्धि की अपेक्षा से धर्म और हिंसा की अपेक्षा से पाप मानते हैं, मिश्र धर्म मानते हैं। मन्दिरों में की जाने वाली द्रव्य-पूजा, गंगा-स्नान, मंदिर-निर्माण आदि प्रवृत्तियों में भावशुद्धि की समानता है। उस अपेक्षा से धर्म और हिंसा की अपेक्षा से पाप मानना चाहिए। परंतु हम ऐसा नहीं मानते।

२६. क्ष्वेडास्वादैः कथमिव भवेज्जीवनोत्सर्पणत्वं,
वह्न्युत्पातैः कथमिव भवेत् पुण्डरीकप्रसूतिः।
सूर्यास्तत्वात् कथमिव भवेद्वासराभिप्रसारो,
हिंसाद्यैस्तैः कथमिवभवेज्जैनधर्मप्रचारः॥

विष के आस्वादन से जीवन का उपबृंहण कैसे हो सकता है? अग्नि के उत्पात से कमल की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? सूर्य के अस्तंगत हो जाने पर दिन का प्रसार कैसे हो सकता है? इसी प्रकार उन हिंसात्मक प्रवृत्तियों से जिनेश्वर देव का धर्म-प्रचार कैसे हो सकता है?

२७. मिश्रश्रद्धाकथनविधिना प्रत्युतातीवदीन-
निर्नाथानामवनमिषतः कारयेत्तद्विनाशम्।
मौनादेशाद्यदिह यदि वा तत्र पुण्योपदेशाद्,
व्यापाद्यन्ते त्व[1]विषयि[2]मुखास्ते वराका विपाकाः॥

मिश्र धर्म की मान्यता का कथन वास्तव में अत्यन्त दीन और अनाथ प्राणियों की रक्षा के मिष से उनका विनाश ही करता है। (मिश्र धर्म की फलश्रुति के विषय में पूछने पर) मुनि मौन रहकर उसका समर्थन करते हैं अथवा पुण्य बताते हैं। क्या ऐसा करने पर उन बेचारे एकेन्द्रिय आदि प्राणियों की हिंसा नहीं की जाती?

२८. हिंसाद्युत्कान् हितमुपदिशेत्तन्निरर्थे च मौनं,
मौने व्यर्थे व्रजति विजनेऽसौ क्रमः शास्त्रसिद्धः।
एवं त्रैधा समुचिततया स्वात्मसंरक्षकाः स्युः,
शक्ये साध्ये खलु प्रथमतः किञ्च मौनेन साघे॥

---

१. त्वम्—एक (त्वमेकमितरच्च तत्—अभि० ६।१०४)।
२. विषयिन्—इन्द्रिय (विषयीन्द्रियम्—अभि० ६।१९)।

हिंसा आदि में प्रवृत्त व्यक्ति को उसके हित के लिए उपदेश दिया जाए। उपदेश निरर्थक होने पर मौन रहे और मौन अधिक समय तक न रह सके, मौन व्यर्थ जान पडे, तो वहां से उठकर चला जाए। यह शास्त्र-सिद्ध क्रम है। ये शास्त्रोक्त तीन प्रकार के समुचित उपाय आत्मरक्षक हैं। यदि पहले उपाय से कार्य सिद्ध हो जाता है तो दूसरे साधन मौन से क्या प्रयोजन? (निषेधात्मक उपदेश को छोड मौन क्यों रहा जाए?)

२९. धर्माह्वाद्विप्लवकुतुकिभिः प्रत्ययं स्पर्धमानै-
रग्रेऽग्रे तन्निघृणितमहाडम्बरारम्भवृद्धिम्।
दृष्ट्वाप्यन्धानुकरणकरान् प्रोज्झ्य धर्मोन्नतिं च,
के व्याकुर्युर्विदितरहसो न्यायपक्षोपलम्भाः॥

धर्म के नाम पर विप्लव, कौतुक एवं स्पर्धा से उत्पन्न दयाहीन आडम्बर एवं आरंभ की जो वृद्धि हो रही है, उसका अंधानुकरण करने वाले व्यक्तियों के अतिरिक्त कौन न्याय पक्षावलम्बी और तत्त्ववेत्ता मनुष्य उसको धर्मोन्नति कहेगा?

३०. ईदृक्छ्रद्धाभ्युपगमनतो दानताया दयाया,
मूलोच्छेदो यदमरपुरो मुख्यमार्गात्मकायाः।
दानध्वंसः प्रमयविरतेः स्थापितायां दयायां,
नष्टा शूका तदिव वधजे स्थापिते दानधर्मे॥

आर्य! इस प्रकार की श्रद्धा के अभ्युपगम से तो लोकोत्तर दया और दान का मूलोच्छेद हो जाएगा। हमारे द्वारा स्थापित दया में हिंसा का अवरोध हो तो (माना हुआ) दानधर्म समाप्त होता है और यदि दानधर्म की स्थापना की जाए तो एकेन्द्रिय आदि प्राणियों की हिंसा होने के कारण दया का अवसान सुनिश्चित है। (अतः दान और दया—दोनों का नाश हो जाएगा।)

३१. पञ्चाक्षाणां समुपचितये नूनमेकेन्द्रियाद्या,
हन्यन्ते श्रीगुरुवर! तथा मान्यतोद्घोषणाभिः।
तस्मात्स्पष्टं जगति महतामेव साहायकाः स्म,
तत्तुच्छानां तनुतनुमतां घोरशत्रुस्वरूपाः॥

गुरुवर! मिश्रधर्म की मान्यता और घोषणा से पञ्चेन्द्रिय जीवों के पोषण के लिए एकेन्द्रिय आदि जीवों का हनन होता है। इससे यह स्पष्ट है कि जगत् में हम केवल बड़े जीवों के सहायक हैं और छोटे जीवों के घोर शत्रु।

३२. अस्मत्तस्तत् सुकृतकथने तत्र तूष्णीकभावे,
सत्ये वेतस्तत उदयतः कर्मणां ते वराकाः।
एकाक्षाद्या दलनदहनछेदनादिप्रकारै-
र्हन्यन्ते हा ! निबलशरणा धर्मलाभार्थिमूढैः ॥

वैसी प्रवृत्ति में हमारे द्वारा पुण्य कहने पर या मौन रहने पर धर्मलाभार्थी सामान्य लोगों के द्वारा पूर्वकृत पापों के उदय से बेचारे निर्बल शरणार्थी एकेन्द्रिय जीवों का दलन, दहन, छेदन आदि विविध प्रकार से हनन होता है।

३३. पञ्चाक्षाणां विततत्तरसा त्राणमुद्दिश्य बाह्यं,
तत् त्वाक्षाणां[1] प्रशठमनुजैः कारितोद्वासनेभ्यः।
मिश्राश्रद्धा यदभिमनिता लोकतोऽपि प्रतीपा,
यस्माद्दीना अवनविषयाः किंवन्दतीति विश्वे ॥

एकेन्द्रिय प्राणियों का भोलेभाले लोगों से वध करवा कर पंचेन्द्रिय प्राणियों के बाह्य त्राण के लिए अत्यन्त पराक्रम किया जाता है। यह अपने द्वारा अभिमत मिश्रधर्म की श्रद्धा लोक-व्यवहार से भी विपरीत है, क्योंकि यह लोक विश्रुत लोकोक्ति है—'जो हीन-दीन हैं वे रक्षा के पात्र हैं।'

३४. पुष्णन्त्येके महिममहतो मारयित्वा वराका-
नेषा वार्त्ता घृणितघृणिता कीदृशी रौद्ररूपा।
तत्र स्पष्टं समभिदधतो मिश्रधर्मं च पुण्यं,
तद् रङ्कानां किमिह रिपवो नोत्थिताः स्मो वयं किम् ॥

बडे और शक्तिशाली जीवों का पोषण करने के लिए छोटे जीवों का वध करना, यह अत्यंत घृणित और रौद्र प्रवृत्ति है। हम ऐसी प्रवृत्ति में स्पष्ट रूप से मिश्रधर्म की प्ररूपणा करते हैं, पुण्य का कथन करते हैं तो क्या हम उन बेचारे छोटे जीवों के शत्रु नहीं बन रहे हैं ?

३५. उत्पन्ना ये गतभवकृतैः पापपुञ्जैः प्रगाढै-
र्यत्रैकाक्षा दलितदलिताः क्षीणपुण्योपबर्हाः।
तद्दुस्थानामशुभनिचयोदीर्णतोऽमा नरौघै-
र्जिह्वाशस्त्रैररय इव किं स्मो न मौनाऽस्त्रतो वा ॥

पूर्वभव के प्रगाढ पाप कर्मों के कारण तथा पुण्य की क्षीणता के कारण वे बेचारे अत्यंत दीन-हीन जाति के एकेन्द्रिय जीव बने। उन निम्न-श्रेणी के जीवों के अशुभोदय के साथ ही साथ अन्य मनुष्यों की भांति क्या हम भी मौन एवं वाणी के शस्त्र से उनके शत्रु जैसे नहीं बन गए ?

१. त्व+अक्ष—एक इन्द्रिय (वाले जीव)।

३६. पृष्टे ब्रूमो वयमिह सदा मौनिनः किन्तु तादृक्-
सङ्केताद्यैरनिशमसुमन्मारणार्थं प्रवृत्ताः ।
कृष्ट्वाऽधस्तात् पृथगिह भवामस्तथोरूव्रताद्यैः,
किं नोचिन्त्यं मनसि च मनोहृत्य बुद्धया भवद्भिः ॥

जब कोई पूछता है तो हम कहते हैं कि हम ऐसी प्रवृत्ति में मौन रहते हैं। परन्तु वैसे प्रवृत्ति-प्रोत्साहक संकेतों के द्वारा हम निरंतर प्राणियों के हनन में प्रवृत्त रहते हैं तो क्या यह बर्तनों की बडेर से नीचे के बर्तन को खींचकर दूर हो जाने जैसी प्रवृत्ति नहीं है ? क्या यह महाव्रतों से पृथक् होना नहीं है ? आपके लिए क्या यह विशेष बुद्धि से गहरा चिन्तन करने जैसा विषय नहीं है ?

३७. मिश्रश्रेयो लपनलुलिता या च जिह्वाऽस्मदीया,
नृत्यन्ती किं भवति न शिता तीव्रनिस्त्रिंशधारा ।
शक्ये तस्याः स्थगनमपि हा ! तैलियन्त्रोपमाना,
तस्मात् त्याज्याऽनघकरुणया मान्यतैषा जघन्या ॥

हमारी जो जिह्वा यह कहने के लिए चपल है कि मिश्रधर्म श्रेयस्कर है, क्या वह एकेन्द्रिय आदि जीवों के नाश के लिए लपलपाती तीखी तलवार नहीं है ? उपदेश से हिंसा का अवरोध शक्य होते हुए भी मौन रहना, क्या यह कोल्हू के समान नहीं है ? इसलिए इस जघन्य मान्यता को छोडकर निरवद्य करुणा को स्वीकार करना चाहिए।

३८. हिंसाभ्यः स्यात्कथमपि यदा पुण्यधर्मोपपत्ति-
स्तत्त्राष्टादशकदुरितेभ्योऽप्यवश्यं भवेत् सा ।
एनोवृत्या यदि च सुकृतं पापपुञ्जः कुतस्त्यो,
धर्मेभ्यो वा कलुषजननं भावि किं व्यत्ययोऽयम् ॥

हिंसा से भी यदि पुण्य और धर्म की उत्पत्ति मानी जाए तो अठारह पापों से भी उनकी उत्पत्ति अवश्य माननी होगी। पापाचरण से यदि पुण्य या धर्म होगा तो फिर पाप किससे होगा ? अथवा धर्माचरण से पाप और पापाचरण से धर्म होना मानना पडेगा।

३९. वस्तुष्वन्येष्वपि शबलता सङ्गता यद्विरुद्धा,
सद्वस्तूनां प्रकृतिरसतो ध्वंसिनी सा विशेषात् ।
यत् कुल्माषाभिषुत[1]पतिता बिन्दुमात्रा यथैव,
क्षीरं क्षीवं क्षपयतितरां क्षीणकायाप्यनल्पम् ॥

१. कुल्माषाभिषुतम्—कांजी (कुल्माषाभिषुतावन्तिसोम—अभि० ३।७९)।

यह एक शाश्वत विधान है कि कोई भी सद् वस्तु अपनी विरोधी असद् वस्तु से मिश्रित होते ही अपने सहज सद्रूप को छोड़ असद्रूप में परिणत हो जाती है। जैसे दूध से भरे पात्र में कांजी की एक बूंद गिरते ही सारा दूध फट जाता है, नष्ट हो जाता है।

४०. एवं स्पष्टं कथमिह मिथोत्यन्तजाग्रद्विरोधि,
पुण्यं चांऽहो मिलति युगपत् स्फूर्जदेकत्रकृत्ये।
यस्मिंश्च्छङ्का यदि च भवतां स्यात्तदानीं त्वराभिः,
सिद्धान्तानां समुचिततया कार्यमालोकनीयम् ॥

इससे यह स्पष्ट है कि परस्पर अत्यंत विरोधी पुण्य और पाप एक ही कार्य में साथ-साथ कैसे हो सकते हैं ? गुरुवर ! यदि आपको इसमें शंका हो तो आप सम्यक् प्रकार से आगमों का शीघ्र अवलोकन करें।

४१. अर्हन् देवो गुरुनियमभृत्सद्गुरुः संयमाढ्यः,
केवल्युक्तो वधविरहितः शाश्वतः सैव धर्मः।
एतद्रत्नत्रयमनुपमं सर्वलोकेष्वऽनर्घ्यं,
त्रिष्वेतेषु प्रकृतिगुणतो नो मनाग् मिश्रता स्यात् ॥

अर्हत्—तीर्थंकर देव हैं, जो महाव्रतों के पालक और संयम से परिपूर्ण हैं वे गुरु हैं और केवलज्ञानी द्वारा प्ररूपित अहिंसा ही शाश्वत धर्म है। यह रत्नत्रयी संपूर्ण लोक में अनुपम और अनर्घ्य है। इन तीनों के जो-जो गुणगण हैं उनमें तनिक भी मिश्रण नहीं होता।

४२. घाताऽघातद्विविधफलकृन् नो यथान्नं विषाक्तं,
तद्वन्मोहाद्युपगतवृषो[1] ह्यर्थकारी न नूनम्।
न ह्येवं स्यात् कथमपि गुरो ! मोहरागानुकम्पा,
पुण्यापुण्योभयफलकरीत्थं विबोध्यं च सर्वम् ॥

जैसे विषाक्त भोजन मारने वाला और उबारने वाला (पुष्टि देने वाला)—दोनों नहीं हो सकता, वैसे ही मोक्ष से अनुगत धर्म भी दो प्रयोजनों—उत्थान और पतन को सिद्ध करने वाला नहीं होता। गुरुवर ! इस प्रकार मोह और राग से संवलित अनुकंपा भी पुण्य और पाप—दोनों फलवाली नहीं हो सकती—यह जान लेना चाहिए।

---

१. वृषः—धर्म, पुण्य (धर्मः पुण्यं वृषः श्रेयः— अभि० ६।१४)।

४३. शुद्धैर्योगैर्भवति सुतरां पुण्यबन्धोऽप्रबन्धोऽ-
शुद्धैर्योगैर्नियमिततया पापबन्धोऽविरोधः ।
किन्त्वेतादृक् सुविशदनयात् कोऽस्ति योगस्तृतीयो,
यत्तद् द्वैतं ननु च युगपद् यो नयेन्मुच्यते च ॥

प्रशस्त योगों से निश्चित ही पुण्य-बंध होता है और अप्रशस्त योगों से पाप-बंध भी निश्चित होता है। न्यायदृष्टि से सोचने पर ऐसा तीसरा कोई भी योग नहीं है जो एक साथ पुण्य और पाप की योजना कर सके।

४४. श्रीमन्तस्तत् स्वसमुपगतं ये हठं प्रोज्झ्य जैनीं,
सत्यां श्रद्धां समुपददतां पोतकल्पां भवाब्धौ ।
राद्धान्तानां विमलवचने रक्षणीया प्रतीति-
रस्मिन् काले नहि तदपरं साधनं साध्यसिद्धयै ॥

इसलिए आप श्री अपने गृहीत हठ को छोडकर जिनेश्वर देव की सच्ची श्रद्धा को स्वीकार करें, जो भवसागर से पार लगाने में जहाज के समान है। सिद्धान्तों के विमल वचनों पर प्रतीति रखना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि इस कलिकाल में साध्य की सिद्धि के लिए उससे अतिरिक्त कोई दूसरा साधन नहीं है।

४५. आज्ञाबाह्ये जिनभगवतां नास्ति धर्मस्य लेश,
आज्ञायां नो तदिव दुरितोद्भावनं वा कथञ्चित् ।
तत्त्वाम्भोधेरमृतममलं सारभूतं त्विदं हि,
यः सर्वत्राऽस्खलितगतिमान् सार्वभौमो नियोगः ॥

जिनेश्वर देव की आज्ञा के बाहर धर्म का लेश भी नहीं है। इसी प्रकार आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करने में लेशमात्र भी पाप नहीं है। यही जैन तत्त्व-सागर का सारभूत अमृत है। यही सर्वत्र अस्खलित गति वाला है और यही सार्वभौम नियम है।

४६. फुल्लाब्जान्तर्निपुणनयनै रत्नसङ्ग्राहिवच्च,
भूयो भूयो निजहितपुरस्कारपूर्वं समीक्ष्य ।
साङ्गोपाङ्गप्रवचनचये ध्यानमाधाय दिव्यं,
प्राज्यः प्रोज्झ्यश्चिरपरिचितो रोगवत् पक्षपातः ॥

'गुरुदेव ! आप विकसित कमल की भांति अपने अन्तर् नयनों को उघाड कर, रत्नपरीक्षक की भांति समीक्षा करें और अपने हित को सामने रखकर, अंग-उपांग आदि आगमों पर दिव्यदृष्टि से ध्यान दें तथा चिर-परिचित जो प्रचुर पक्षपात है उसको उसी प्रकार छोड दें जैसे रोग को छोड दिया जाता है।'

४७. शुद्धा श्रद्धाऽपि न निजकरे स्वागता सन्मतिश्च,
शुद्धाचारोऽपि न यदि तदा क्वाऽच्छचारित्र्यसम्पत् ।
रत्नत्रय्या अतिविरहिता एवमेव स्म इद्धा,
तत्तीर्णाशा भवजलनिधेः प्रायशो रिक्तरिक्ता ॥

'गुरुवर्य ! न तो हमारे हाथ में शुद्ध श्रद्धा ही आई, न सद्ज्ञान और न शुद्ध आचार ही हमें मिला। जब ये तीनों नहीं हैं तो फिर सद् चारित्र की सम्पदा कैसे हो सकती है ? हम रत्नत्रयी से सर्वथा वंचित हैं तो फिर भव-सागर से पार जाने की आशा ही शून्यवत् है।'

४८. गेहावहाद्विलसितमयाद् यत् पृथक्सम्प्रवृत्ता-
स्तन्नो नूनं सदयहृदयैरेककल्याणकामाः ।
आकांक्षाऽन्या मनसि न मनाक् सर्ववेदा विदन्ति,
कल्याणं नो यदि किमपि नो किं ततो व्यर्थकष्टैः ॥

दयार्द्र हृदय वाले हमने अपने संपन्न गृहवास को एकमात्र आत्म-कल्याण की भावना से छोडा है। अन्य कोई आकांक्षा हमारे मन में नहीं थी, यह सर्वज्ञ भगवान् जानते हैं। यदि यहां कल्याण की भावना पूरी नहीं होती है तो फिर श्रामण्य के कष्टों को व्यर्थ ही क्यों सहा जाए ?

४९. आकल्पाङ्गीकरणकरणैर्वञ्च्यते किं निजोऽन्यः,
साध्वाचारैः सुविपुलतया विप्रकृष्टा वयं हा !
अद्यैवेमं समयविधिना संयमं धारयामो,
ह्यद्यैवेमां वयमभिनवां पोतवृत्तिं वहामः ॥

साध्वाचार से हम अत्यंत दूर चले गए हैं। हमने केवल साधु का वेश मात्र धारण कर रखा है। क्या हम इस प्रकार स्वयं को और दूसरों को धोखा नहीं दे रहे हैं ? गुरुदेव ! आज ही हम शास्त्रानुसार संयम को स्वीकार करें और आज ही हम नवीन पोतवृत्ति को धारण करें—स्वयं तैरते हुए दूसरों के तैरने में सहयोगी बनें।

५०. कल्याणैकातिशयमहती वर्त्तते नोऽभिलाषा,
विज्ञप्यन्ते पुनरपि पुनः पूज्यपादास्ततो हि ।
मन्यन्तां तत् स्वहृदयहिमाद्रिं च दुर्भेद्यमानं,
नम्रीकुर्युर्निभृतमधुना कापि नान्या स्पृहा नः ॥

आर्य ! एकमात्र आत्म-कल्याण की हमारी महान् अभिलाषा है । इसलिए हम पूज्यपाद से बार-बार निवेदन करते हैं कि आप हिमालय पर्वत की भांति दुर्भेद्य अपने हृदय को पूर्ण रूप से नम्र करें । हमारी बात मानें ।। इसके अतिरिक्त हमारी अन्य कोई स्पृहा नहीं है ।

५१. नेमिश्रेयोरुचिगजभवन्मेघमेतार्यवच्च,
त्रैधायोगैस्त्रिविधकरणैः शास्त्रसारावगाहैः ।
न स्याच्छ्रीमन् मम गुरुवर ! प्राणिघाते निमित्तं,
तन्नो नाथो गुरुरपिभवांस्तारकः पारको वा ॥

तीर्थंकर नेमिनाथ, धर्मरुचि अनगार, हाथी के भव में मुनि मेघकुमार और मेतार्य मुनि तीन करण, तीन योग से हिंसा में निमित्त नहीं बने । यही सिद्धान्तों का सारभूत तत्त्व है । गुरुवर ! यदि आप भी हिंसा में निमित्त न बनें तो आप ही हमारे नाथ हैं, गुरु हैं और आप ही तारने वाले हैं, पार ले जाने वाले हैं ।

५२. नो नो स्थेयं चपलचपलं जीवनं चञ्चलाभं,
को जानीयाद् गमनसमयं प्राणिनां प्राणतोऽपि ।
द्याव्येकस्मिन् समतनुभृतां निश्चितं यत्प्रयाण-
मीदृग् योगो न खलु सुलभो गृह्यतां सत्यमार्गः ॥

देव ! यह जीवन अत्यंत चपल और विद्युत् की भांति चंचल है । यह स्थायी रहने वाला नहीं है । प्राणियों के मृत्यु-समय को कौन जानता है ? एक दिन इस जीव का निश्चित ही यहां से प्रयाण हो जाएगा । गुरुदेव ! ऐसा योग (मनुष्यजन्म, चारित्र आदि) मिलना दुष्कर है, इसलिए सत्य मार्ग को आप स्वीकार करें ।

५३. सत्यश्रद्धामिलनमधिकं दुर्लभं देहभाजां,
नो कल्याणं कथमपि भवेद् जैनधर्मादृते हि ।
अस्माद् दुष्ठुग्रह इव महान् मुच्यतां स्वाग्रहोऽद्य,
मोच्योऽयं सज्जिनवरमतं सेव्यतां सेवनीयम् ॥

प्राणियों को सत्य श्रद्धा की उपलब्धि अत्यंत दुर्लभ है। जिनेश्वर देव के धर्म के बिना कल्याण नहीं हो सकता। गुरुदेव ! आग्रह दुष्टग्रह की भांति त्याज्य है। आप इसे छोड़ें और जो आचरणीय है उस वीतराग मत का आचरण करें।

५४. सौत्रीं वार्त्तां गुरुवर ! मुदा मन्यतां मन्यतां नः,
को निर्बन्धो भवति महतां त्वादृशां सत्यसन्धौ।
स्पष्टं स्पष्टं कथनमनघं मानसं मानयुक्तं,
ध्यानं ध्येयं सुधृतिमतिभिः श्रीमताऽस्यां मदुक्तौ॥

गुरुवर्य ! आप हमारी इस आगमोक्त बात को मानें, विमर्श करें। आप जैसे आचार्यों के लिए सत्य-संधान में कैसा आग्रह ! मैंने अपने मन की पवित्र भावना को स्पष्ट रूप से आपके समक्ष रखा है। आप मेरी इस बात पर धैर्य और मननपूर्वक ध्यान दें।

५५. किन्त्वेतस्मिंस्तनुरपि तदा नाऽपतत् तत्प्रभावो,
मौद्गे शैले किमभितनुते पुष्करावर्त्तमेघः।
आस्तां दूरे तदनुसमता प्रत्युत क्रोधवह्निः,
प्रादुर्भूतो भृकुटिभयदो दुर्निवार्यो विकार्यः॥

किन्तु मुनि भिक्षु की बात का आचार्य पर तनिक भी असर नहीं हुआ। पुष्करावर्त मेघ का मुद्गशैल पर क्या प्रभाव हो सकता है? मुनि भिक्षु की प्रार्थना से आचार्यश्री में समता का प्रादुर्भाव होना चाहिए था, परन्तु उनकी क्रोधाग्नि भडक उठी और भृकुटी भयंकर रूप से तन गई। विकृति का निवारण दुःसाध्य होता है।

५६. कोपाक्रान्तो रघुरघुगुरुर्भाषते भिक्षुशिष्यं,
मद्वाक्यानां दृढतरधिया प्रत्ययो रक्षणीयः।
प्रत्याचष्टे कथमखिलवित्सत्कृतान्तातिगानां,
तेषां श्रद्धा भवति भविनां रक्षणीया शुभाय॥

आचार्य रघुनाथजी क्रोधाविष्ट होकर अपने शिष्य भिक्षु से बोले—'मेरे वचनों पर दृढता के साथ विश्वास रखना चाहिए।' मुनि भिक्षु बोले—'आर्य ! सर्वज्ञ के सिद्धान्तों का अतिक्रमण करने वालों के वचनों पर श्रद्धा रखने से वह प्राणियों के आत्मकल्याण के लिए कैसे सार्थक हो सकती है?'

५७. नो विश्वासः पतति नभसो नोद्भवेन्नागलोकाद्,
विश्वस्ताः स्युस्त्विति मयि गिरा व्यर्थवक्तव्यमात्रात् ।
तज्जन्म स्यात् समयवचनासारिसत्यप्रवृत्त्या,
नो चेत् केषां कथमिव सतां सम्भवेत् प्रत्ययः सः ॥

'आर्यवर्य ! विश्वास कोई आकाश से नहीं टपकता और न वह पाताल से ही उद्भूत होता है । 'तुम सब मेरे वचनों पर विश्वास रखो'—इस व्यर्थ के कथनमात्र से विश्वास पैदा नहीं होता । विश्वास का जन्म होता है—सूत्रानुसारी सत्यप्रवृत्ति के द्वारा । अन्यथा वह विश्वास किसी भव्य व्यक्ति को कैसे हो सकता है ?'

५८. आकर्ण्यैवं पुनरपि भृशं द्रव्यसूरिश्चुकोप,
तादृग्दृश्यं नयनविषयीकृत्य भिक्षुः शुशोच ।
स्यान्नाऽद्येयं हृदभिलषिता कार्यसिद्धिस्त्वराभि-
र्दूरीकर्तुं कथमपि हठात् कालवाहो विधेयः ॥

यह सुनकर द्रव्याचार्य और अधिक कुपित हो गए । उस दृश्य को देखकर मुनि भिक्षु ने सोचा—इस प्रकार शीघ्रता करने से तो मेरा अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा । गुरु को आग्रह से दूर करने के लिए मुझे समय का अतिवाहन करना ही होगा ।

५९. प्रस्तावे तं विनयविधिना प्रार्थयामासिवान् स,
एतत्प्रावृट्समयवसतिं सार्द्धमाधातुमिच्छा ।
चर्चां कृत्वा वयमिह मिथो निर्णयामो नितान्तं,
सत्यासत्यं किमिति समयान् साधु संवीक्ष्य वीक्ष्य ॥

तब मुनि भिक्षु ने आचार्य रघुनाथजी से विनम्र प्रार्थना की—'गुरुदेव ! यह चातुर्मास मैं आपके ही साथ व्यतीत करना चाहता हूं । इस चातुर्मास में हम आगमों का सूक्ष्म निरीक्षण कर परस्पर चर्चा के द्वारा सत्य-असत्य का निर्णय कर लेंगे ।'

६०. यत् सिद्धान्तैर्नियमिततया सम्मतं सत्यसत्यं,
तत्तद् धृत्वा तदितरमरं मोचयिष्याम एव ।
सत्याच्छुद्धाद् भवति तरणं स्तोकमात्रादवश्यं,
मथ्याचारैश्चिरपरिचितैरप्यधःपातिभिः किम् ॥

जो सिद्धान्तों के द्वारा नियामक रूप से सम्मत है, वही सत्य है। उसको हम स्वीकार कर, उससे भिन्न असत्य को शीघ्र ही छोड देंगे। अल्पमात्रा वाला शुद्ध सत्य भी भवसागर से पार लगाने वाला होता है, चिरपरिचित बहुसंख्यक मिथ्या आचारों से अधःपतन ही होता है। उनसे हमारा क्या प्रयोजन ?

६१. एतत्श्रुत्वा प्रवदतितरां द्रव्यसूरिस्तदानी-
मस्मान् मार्गान् मम मुनिवरान् भेदयेस्त्वं ततः किम् ।
प्रत्यूचे तं कृषकतुलितान् रक्षयन्तु स्वशिष्यान्,
पार्श्वे चर्चां किमपि न मनाग् वेत्तुमीशा भवेयुः ॥

यह सुनकर द्रव्याचार्य बोले—'क्या तुम मेरे साथ चातुर्मास कर मेरे मुनिवरों में भेद डालकर मेरे से फंटाना चाहते हो ?' भिक्षु बोले—'गुरुवर्य! इस स्थिति में आप ऐसे मंदबुद्धि वाले शिष्यों को ही अपने साथ रखें जो हमारी चर्चा को स्वल्पमात्र भी समझ न सकें।'

६२. एवं बोद्धुं बहुविधतया यत्नवान् भिक्षुरासीद्,
द्रव्याचार्यस्तदपि न मनाक् स्वीकृतं कर्मयोगात् ।
तस्मात्प्रास्थात्तदनुमतितो मेडतानामपूर्यां,
चातुर्मासं विरचितुमसावष्टमं सत्यवक्ता ॥

इस प्रकार मुनि भिक्षु अनेक विधियों से गुरु को समझाने में प्रयत्नशील रहे। किन्तु आचार्य ने भिक्षु की प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया। यह कर्मयोग की ही बात थी। गुरु की अनुमति प्राप्त कर सत्यवक्ता मुनि भिक्षु आठवां चातुर्मास मेडता नगर में बिताने के लिए वहां से प्रस्थित हो गए।

६३. पूर्णे तस्मिन् पुनरपि निजाचार्यपार्श्वे क्रमेण,
श्रीमद्भिक्षुर्बगडिनगरे संसृतः शान्तिसिन्धुः ।
द्रव्याचार्यं वदति विदितोऽद्यापि वाङ् मन्यतां मे-
ऽशुद्धाचारं हरतु सहठं सेव्यतां शुद्धवृत्तम् ॥

मेडता का चातुर्मास संपन्न कर शान्तिसिन्धु, विश्रुत मुनि भिक्षु पुनः अपने आचार्य रघुनाथजी के पास बगडी नगर में आ पहुंचे। उन्होंने कहा—'गुरुदेव ! अब भी आप मेरी बात मानें और अशुद्ध आचार-पालन के दुराग्रह को छोडकर शुद्ध आचार का पालन करें।

६४. सूरिः प्राख्यत् समयसमये निर्मिमे यच्च यच्च,
निष्प्रत्यूहं निखिलमपि तत्तद् यथार्थं मनुस्व ।
निर्माहि त्वं तदनुकरणं तिष्ठ मे शासनेषु,
स्वस्थामास्थां मयि कुरुतरां शाश्वतानन्ददात्रीम् ॥

रघुनाथजी बोले—'शिष्य ! समय-समय पर मैं जो कुछ करता हूं, उसे तुम निर्बाध रूप से यथार्थ मानो, उसी का अनुसरण करो तथा मेरे अनुशासन में रहो और शाश्वत आनन्द को देने वाली स्वस्थ श्रद्धा को मेरे प्रति नियोजित करो ।'

६५. प्रत्याचष्टे समयसमयोल्लङ्घनैः सेव्यमानं,
कुत्स्याचारं सदयनयविप्लावकं जल्पनं च ।
स्वीकुर्यात् कः कथमिव निरीक्षापरीक्षासु दक्ष-
स्तादृक्षान्धास्थितिभिरधुनालं महादुःखदाभिः ॥

मुनि भिक्षु ने उत्तर देते हुए कहा—समय-समय पर सिद्धान्तों का उल्लंघन कर आसेवित अनाचार को तथा सद् विचारों के विप्लावक कथनों को निरीक्षण और परीक्षण करने में दक्ष कौन व्यक्ति किस प्रकार स्वीकार करेगा ? महान् दुःखदायी उस अन्धानुकरण की वृत्तियों से क्या प्रयोजन ?

६६. नानायत्नैर्विविधविधिभिर्बोधितो बुद्धवर्यै-
र्नो बुद्धोऽसौ गुरुरभिधया नो मतं तेन किञ्चित् ।
सत्तोन्मादैः सुनयिविनयं प्रत्युतोद्भीषणार्थं,
संवृत्तश्च स्वरुचिशिथिलाचारसंस्थापनार्थम् ॥

बुद्धिमान् मुनि भिक्षु ने विविध प्रयत्नों तथा अनेक विधियों से आचार्य को समझाना चाहा, पर वे नहीं माने और उन्होंने कुछ भी स्वीकार नहीं किया । प्रत्युत सत्ता के उन्माद से उस सुविनीत शिष्य भिक्षु को डराने लगे और अपनी रुचि के अनुसार शिथिलाचार की संस्थापना करने लगे ।

६७. तादृग्वृत्त्या मनसि विदितं भिक्षुवर्यैस्तदानीं,
नायं बोद्धा कथमपि गुरुर्लौकिकाऽऽसक्तिसक्तः ।
अद्याहं निस्तरणमनघं स्वात्मनस्तत् करोमि,
मोक्षाकांक्षी निजहितरतः कोन्यपृष्ठे ब्रुडेच्च ॥

उनकी वैसी प्रवृत्ति को देखकर मुनि भिक्षु ने मन ही मन सोचा, गुरु लौकिक आसक्ति में रक्त हैं, इसलिए वे किसी भी प्रकार से समझाए नहीं जा सकेंगे। इसलिए अब मुझे अपने आत्मोद्धार के लिए सुपथ स्वीकार कर लेना चाहिए। मोक्षाभिलाषी पुरुष अपने हित को साधता है। वह किसी दूसरे के पीछे डूबता नहीं।

६८. तादृग्गच्छैः किमिह विलसद्वेश्मवासानुरूपै-
र्नामान्तर्यं क्षितिपधनिकौपम्य गच्छाधिपैः किम्।
किं यत्सामाजिकनृपनयाभासतद्धर्मनीत्या,
मिथ्याचारैः किमुत जनतावञ्चनाजालकल्पैः॥

भिक्षु ने सोचा, वैसे गच्छों से क्या जो गृहस्थाश्रम के अनुरूप हों, वैसे गच्छपतियों (आचार्यों) से क्या जो नामान्तर से राजा एवं धनिक की उपमा धारण करने वाले हों, वैसी धर्मनीति से क्या जो सामाजिक और राजनीति के सदृश हो, तथा उस मिथ्या आचार से क्या जो जनता को फंसाने के लिए जाल सदृश हो ?

६९. किं तादृक्षाधिकृतगुरुणा यः स्वयं वीतरागां-
स्तन्मर्यादाः समयसुहिता लङ्घयेत् कालकूटात्।
न स्वच्छन्दो गुरुरपि भवेद् गर्वितो गौरवेण,
तस्याप्यास्ते शिरसि समयः प्राग्गुरुर्वा ससीमः॥

वैसे गुरु से भी क्या जो वीतराग तथा उनके द्वारा निर्दिष्ट आगमिक मर्यादाओं को कालकूट विष समझ कर उनका उल्लंघन करे। गुरु भी अपने अहंकार से ग्रस्त होकर स्वच्छंद न बन जाएं, मनमानी न करने लगें, क्योंकि उनके शिर पर भी सिद्धान्तों और पूर्व गुरुओं की मर्यादाएं हैं।

७०. सन्तः प्रायः शिथिलशिथिलाचारविस्तारवीरा,
अग्रेऽग्रे स्वस्वसुखसुविधासौख्यशीलत्वलीनाः।
स्वस्वापेक्षागमविधिपरावर्त्तने व्यग्रचित्ताः,
साहाय्यस्यावितथसुपथे काऽभिलाषास्ति तेभ्यः॥

उस समय आचार्य के साथ जो सन्त थे वे प्राव: शिथिल और शिथिल आचार को विस्तार देने वाले ही थे। वे आगे से आगे अपनी-अपनी सुख-सुविधा और साता में लीन थे। इतना ही नहीं, वे अपनी-अपनी अपेक्षा से आगम-विधियों के परिवर्तन में व्यग्रचित्त थे। ऐसे मुनियों से सन्मार्ग में सहायता पाने की अभिलाषा ही क्या की जा सकती है ?

७१. सत्सामूह्याज्जगति जनताकर्षणोत्सर्पणादि,
तस्याभावे तदसदिव तन्निस्तरामो वयं तु ।
स्तोकाः सन्तोप्यहह तरितुं नेश्वरा निःस्पृहाः किं,
स्वात्मोद्धारः प्रमुखविषयः साध्यतेऽस्माभिराशु ॥

यह सच है कि यदि शुद्ध साधुओं का समूह हो तो उससे जगत् में लोगों का आकर्षण हो सकता है और अनुयायियों की संख्या भी बढ़ सकती है। उसके अभाव में वैसा नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में हम तो अपना निस्तार करें। क्या थोडे भी निःस्पृह व्यक्ति भवसागर को तैरने में समर्थ नहीं होते? आत्मा का उद्धार करना हमारा प्रमुख विषय है। अब शीघ्र ही हमें उसे साध लेना चाहिए।

७२. प्रस्तावेऽस्मिन् सहजसुभगोऽगाद् वसन्तो वसन्तं,
तं शैथिल्याचरणचलिताचारचारित्रवत्सु ।
दृष्ट्वा कामाकुलसुहृदसावित्यनिष्टप्रवाद-
प्रक्षालाय प्रवरसमयं प्राप्त इत्युज्जहास ॥

जब भिक्षु स्वामी आत्मोद्धार की भावना से ओतप्रोत हो रहे थे, उस समय सहज सुखद वसन्त ऋतु का आगमन हुआ और उसने शिथिलाचार के कारण चारित्रशून्य साधुओं के साथ निवास करने वाले भिक्षु को देखकर सोचा—'संसार में मेरा यह अपवाद है कि वसन्त ऋतु कामातुर व्यक्तियों के लिए मित्रवत् है।' अब उस कलंक को धोने का सुअवसर प्राप्त हो गया है। मैं भिक्षु को सद्प्रेरणा देकर उस अपवाद को मिटा दूं।

७३. कामान्धाऽनां तदभिलषिताऽऽमोदसम्मोददैः किं,
पुण्याद् भ्रष्टः स्वयमपि परेषामपि भ्रंशकोऽहम् ।
अद्यैतं सत्पथपथिकतामाश्रयन्तं वितीर्य,
प्रोत्साहं स्यां सुकृतफलवानित्यसौ तत्सहायी ॥

वसंत ने सोचा—'कामांध व्यक्तियों को अभिलषित आमोद-प्रमोद की सामग्री प्रदान करने से क्या? मैं स्वयं धर्म से भ्रष्ट हूं तथा दूसरों को भी पथच्युत करता हूं। तो आज मैं सत्पथ का आश्रय लेने के लिए उत्सुक मुनि भिक्षु को प्रोत्साहन देकर पुण्योपार्जन करूं।' ऐसा सोचकर वह वसंत ऋतु उनका सहयोगी बन गया।

७४. यः प्रत्यर्थी शमदमगुणानां सदा विश्वविश्वे-
ऽवीक्षापन्नो यमनियमहृद् व्याप्तविश्वोप्यविश्वः[1] ।
अत्यन्तोर्जस्वलरतिपतेर्मुख्यसेनाधिनाथ,
इष्यः[2] सोऽस्य प्रकृतिषु परावृच्च नासीर[3]वीरः ॥

वसन्त ऋतु शम, दम आदि गुणों का शत्रु रहा है तथा पूरे संसार में बिना किसी हिचक से यम, नियम आदि को नष्ट करता रहा है, पूरे विश्व में व्याप्त होकर भी अतृप्त है तथा वह अत्यंत ओजस्वी कामदेव का मुख्य सेनापति है। वह वसन्त अपनी सभी प्रकृतियों का रूपान्तरण कर मुनि भिक्षु का अग्रगामी वीर बन गया।

७५. फुल्लाम्रादौ शुकपिकसरत्सारिकाहंसकेकि-
रोलम्बादिप्रकृतिसरसोद्गुञ्जनैर्गुञ्जयन्ती ।
वासन्तश्रीः प्रमुदितमनाः स्वामिशुद्धाशयानां,
सोत्कण्ठा स्वागतिरतिरता प्रेरयन्तीव भाति ॥

उस समय विकसित आम्रवृक्षों आदि पर स्थित तोते, कोयल, मैना, हंस, मयूर, भ्रमर आदि के स्वाभाविक तथा सरस गुञ्जारवों से गुञ्जित वासन्तश्री अत्यन्त शोभित हो रही थी। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वह अत्यधिक प्रमुदित होकर, स्वामीजी के शुद्ध विचारों से उत्साहित तथा स्वागत में रत होकर उन्हें प्रगति के लिए प्रेरणा दे रही हो।

७६. स्वाम्भःसेकस्तदपि मुकुलं मेदिनीमण्डलास्यं,
फुल्लोत्फुल्लं हरितभरितं कल्पयामि प्रकृत्या ।
एकोपि त्वं वितनु सुतरां श्रायसं[4] मद्वदेव,
व्याहर्तुं तं सुरभि[5]रभितः सम्भ्रमैर्बम्भ्रमच्च ॥

पानी के सिंचन के अभाव में भी मैं संपूर्ण वसुन्धरा को स्वाभाविक रूप से पुष्पित, फलित और हरी-भरी कर देता हूं वैसे ही तुम अकेले प्राणीमात्र के लिए कल्याणकारी बन जाओ—ऐसा भिक्षु स्वामी को कहने के लिए वह वसंत ऋतु ससंभ्रम चारों ओर घूमने लगा।

---

१. अविश्वः—अतृप्त ।
२. इष्यः—वसन्त ऋतु (वसन्त इष्यः सुरभिः—अभि० २।७०)
३. नासीरं—आगे चलने वाली सेना (नासीरं त्वग्रयानं स्यात्—अभि० ३।४६४)।
४. श्रायसं—कल्याणकर ।
५. सुरभिः—वसन्त ऋतु ।

७७. यो जय्यः कैरपि न तृणवन् मन्यमानस्त्रिलोकीं,
तं गर्विष्ठं कुसुमकलिकामात्रतश्चूर्णयामि ।
आर्हन्त्यार्थं तदिवजिनवाङ्मात्रतः कुप्रवादा,
जेतव्यास्ते कुसुमसमयस्त्वेवमूचे मुनीन्द्रम् ॥

जो किसी से भी जीता नहीं जा सकता, जो त्रिलोकी को तृण के समान तुच्छ मानता है, वैसे अहंकारी को भी मैं कुसुम कलिका मात्र से चूर्ण-चूर्ण कर देता हूं। वैसे ही आप भी आर्हत् धर्म के लिए जिनवाणी मात्र से कुप्रवादों को जीतें—ऐसा वसन्त ऋतु ने मुनि भिक्षु से निवेदन किया।

७८. माकन्दानां परिमलमिलन्मञ्जरीमालिकानां[1],
पेयं पेयं सुरसमनिशं विश्वसम्प्रीणनार्हाः ।
तन्नुन्नाः किं कलकलरवान् कोकिलाः कान्तकण्ठा,
एतं प्रोत्साहयितुमृषिपं व्याहरन्ते किमद्य ॥

आम्रों के परिमल से अभिव्याप्त मंजरियों के मधुर मादक रस को सदा पी-पीकर समस्त विश्व को तृप्त करने वाले उस वसंत से ही मानो प्रेरित होकर कान्तकंठवाली कोकिलाएं कल-कल शब्द के मिष से इस मुनिवर्य को प्रोत्साहित करने के लिए ही क्या आज बोल रही हैं ?

७९. धीराधीरा पवनलहरी सौरभाढ्या सुमालिः,
कङ्केल्याद्याः पिककुलकलाः पुष्पिताः पुष्पवाट्यः ।
वासन्त्याद्याः स्थलजललतामालतीमल्लिका च,
दोलाखेला सरसिजसरः कूर्दनं मेऽस्ति सम्पद् ॥

वसंत ऋतु ने कहा—धीरे-धीरे बहने वाला यह पवन, सुगंधित पुष्पावलि, कंकेली आदि वृक्ष, कोयल की कुहू-कुहू, पुष्पित वाटिकाएं, स्थल और जल में होने वाली वासन्ती आदि लताएं, मालती और मल्लिका की प्रचुरता, झूलों का झूलना, पद्माकरों से परिपूर्ण सरोवर में क्रीडा—यह सारी मेरी संपदा है।

८०. तद्वत् सुदृङ्मननचरणं निर्मलोद्देश्य पूर्वं,
दानं शीलं ससुमततपो बोधनं भव्यराशेः ।
सत्स्वाध्यायाचरणकरणाराधनं साधनं स्व-
मष्टौ योगा जिनवरमतोद्भावनं ते विभूतिः ॥

---

१. मालिका—मादक पेय (आप्टे)

उसी प्रकार मुनिवर्य ! सम्यग्ज्ञान-दर्शन और चारित्र, निर्मल उद्देश्य से किया जाने वाला दान, शील का अनुष्ठान, सुभावना से तपा गया तप, भव्य प्राणियों को प्रतिबोध देना, सत्स्वाध्याय करना, चरण-करणों की आराधना करना, स्वयं को साधना एवं आठ योगों से जिनमत की प्रभावना करना—ये सब आपकी संपदाएं हैं ।

८१. संवर्द्धस्वाऽप्रतिहतगतेर्विघ्नबाधां विपोथ्य,
निर्भीकः सन् पथि निपतितापन्महाशैलदुर्गान् ।
शुद्धापेक्षः स्वपरतरणोत्तारणोद्देश्यमात्रात्,
सत्योद्घोषं विदधदभितोऽहं यथा त्वं तथा स्याः ॥

मुनिवर ! आप अप्रतिहत गति से आगे से आगे बढ़ते रहें । आप सभी विघ्न-बाधाओं को दूर कर, निर्भीक होकर, मार्ग में आने वाली महान् पर्वत की भांति दुर्गम आपदाओं को समाप्त कर चलते चलें । आप स्वयं भवसागर को तैरने और दूसरों को तैराने के शुद्ध उद्देश्य से सत्य की उद्घोषणा करते हुए चारों ओर घूमें, जैसे मैं घूमता हूं ।

८२. किं तन्नुन्नो वदति सनयः सौत्रवार्तां मनुष्व,
नो चेन्नो त्वं ममगुरुरहं नैव शिष्यस्त्वदीयः ।
उक्तेऽप्येवं कथमपि न तैः स्वाग्रहासक्तचित्तैः,
सन्तोषार्हं किमपि गदितं सूत्तरं नैव किञ्चित् ॥

अनुमान होता है कि क्या उसी बसन्त ऋतु से प्रेरित होकर मुनि भिक्षु ने आचार्य रघुनाथजी से युक्ति पुरस्सर कहा—आप आगम की बात को मानें । यदि आप नहीं मानते हैं तो न आप मेरे गुरु हैं और न मैं आपका शिष्य । इतना कहने पर भी अपने आग्रह से प्रतिबद्ध आचार्य रघु ने सन्तोषप्रद कोई उत्तर नहीं दिया ।

८३. तस्माद् भिक्षुर्मधु[1]सित[2]दले कर्मवाटयां नवम्यां,
नव्याब्दादौ प्रशमरसवान् धर्मनीतिप्रतीष्ठः ।
शान्त्या कान्त्याऽतरलतरसा त्रोटयित्वा हि सर्वान्,
सम्भोगांस्तैः सह सपदि स स्थानकान्निःससार ॥

इसीलिए नये वर्ष के प्रारंभ में, चैत्र शुक्ला नवमी के दिन प्रशान्तरस में ओतप्रोत, धर्मनीतिनिष्ठ भिक्षु ने शांति, गंभीरता और दृढ साहसिकता के साथ आचार्य रघुनाथजी के साथ बने हुए सभी संभोगों (संबंधों) को तोडकर उस स्थानक से बाहर निकल गए ।

१. मधुः—चैत्र मास (चैत्रो मधुश्चैत्रिकश्च—अभि० २।६७)
२. सितः—शुक्ल (अभि० ६।२८)

८४. द्रव्याचार्याननमपि तदा श्यामतास्वादलेहि,
म्लानं म्लानं कमलमिव सत् पुण्डरीकं हिमान्या ।
हा हा ! जातं किमिति मनसाऽतर्कितं मे समक्ष-
मित्थं सोभूच्च्युतपथ इवालोचनाशोचनाभ्याम् ॥

उस समय द्रव्याचार्य का मुंह श्याम हो गया। वह मुरझाए हुए कमल की भांति तथा हिमपात से आहत पुंडरीक जैसा दीखने लगा। उन्होंने मन ही मन सोचा—'मेरे सामने ही यह क्या हो गया?' इस प्रकार वे चिन्तन और विमर्श करते हुए दिग्मूढ हो गए।

८५. इत्थं भिक्षुः स्वगुरुभिरमाहारपानीययोश्च,
वैसम्भोग्यात् स्वशिरसि महाशङ्कटाद्रीनुदस्थात् ।
यत् तत्काले गणिरघुरभूत् प्रौढसामर्थ्यशाली,
लोके लोका अपि तदनुगाः पुष्कलाः पक्षरूढाः ॥

इस प्रकार मुनि भिक्षु ने अपने गुरु के साथ आहार-पानी आदि के समस्त संभोगों (संबंधों) को तोडकर महान् संकट के पर्वत को अपने शिर पर उठा लिया। क्योंकि उस समय आचार्य रघुनाथजी पूर्ण सामर्थ्ययुक्त शक्तिशाली आचार्य थे और उनके पक्षधर श्रावक भी अत्यधिक संख्या में थे।

८६. श्रीमद्भिक्षौ भगवति पृथक् सम्प्रवृत्ते ह्यनेन,
प्रारब्धस्तै रघुरघुवरैर्घोररूपो विरोधः ।
प्रत्यावृत्त्या कथमपि पुनर्भीतितः स्थानकेऽसौ,
प्रत्यागच्छेदिति निजमनोभावनागूढलक्ष्यैः ॥

आचार्य रघुनाथजी ने सोचा कि कष्टों से भयभीत होकर मुनि भिक्षु पुनः विचार कर स्थानक में आ सकते हैं। अपने मन के इस गूढ लक्ष्य से प्रेरित होकर श्रीमद् भिक्षु के पृथक् हो जाने पर उन्होंने उनके साथ घोर विरोध प्रारंभ कर दिया।

८७. एतं भिक्षुं सपदि विवशीकर्तुमेतेन मङ्क्षु,
गेहे गेहे वगडिनगरे स्फोरितः सेवकश्च ।
तद् द्वारा तैः स्फुटतरमियं घोषणा घोषितैवं,
स्थानं केनाप्यहह गृहिणा भिक्षवेऽस्मै न देयम् ॥

८८. यो वा कोपि श्रुतविदित ना दास्यते स्थानमस्मा-
याज्ञाभङ्गात् स खलु मनुजः सर्वसंघेन दण्डयः ।
मन्निर्देशाद् बहिरविनयी निर्गतः सम्प्रदाया-
देषोऽनर्हो समसुकृतिभिर्माननीयो न किञ्चित् ॥ (युग्मम्)

भिक्षु को सहसा विवश करने के लिए आचार्य रघु की आज्ञा से श्रावक संघ ने एक सेवक के द्वारा बगडी नगर के घर-घर में यह स्पष्ट घोषणा करवाई कि भिक्षु को ठहरने के लिए कोई भी गृहस्थ स्थान न दे।

यदि कोई गृहस्थ इस घोषणा को सुनने और जानने के बाद भी भिक्षु को स्थान देगा तो वह आज्ञाभंग का दोषी होगा और वह संघ द्वारा दंडनीय होगा। यह मुनि भिक्षु मेरी आज्ञा से बाहिर है, अविनयी है और संघ से बहिर्भूत है। यह अयोग्य है। यह धार्मिक श्रावकों द्वारा किसी भी प्रकार से माननीय नहीं हैं।

८९. नाभूदस्माद् घृणितघृणिताद् रौद्ररूपाद् विरोधाद्,
भीतोऽभीरुः परमपथगो भिक्षुरक्षुण्णतेजाः।
किं पारीन्द्रो मृगशशमुखारण्यजातैर्विदृब्धैः,
कष्टैः क्लिष्टो भवति सहजौजस्विवर्यैकवर्यः॥

मोक्षपथ के पथिक भिक्षु अभय और अक्षुण्ण तेजयुक्त थे। वे इस घृणित और रौद्र विरोध से तनिक भी भयभीत नहीं हुए। क्या स्वभाव से ही महान् पराक्रमी सिंह, मृग, शशक आदि अरण्यपशुओं द्वारा संपादित कष्टों से कभी घबराता है?

९०. पुंसिंहोऽसावविचलतया निश्चिते स्वीयमार्गे,
तिष्ठन् धीरो जलनिधिहृदा लोचते लोचनार्हः।
ऐह्यापत्त्या यदि पुनरहं स्थानके सङ्गतः स्यां,
पश्चात्तस्मान्मदभिलषितो निर्गमो दुर्लभोऽयम्॥

पुरुषसिंह मुनि भिक्षु अपने स्वीकृत और निश्चित मार्ग पर अविचल थे। वे सागर की भांति धीर-गंभीर थे। उन्होंने सोचा—यदि मैं इन आपत्तियों से घबराकर पुनः स्थानक में चला जाता हूं तो फिर मेरे लिए उससे इच्छानुसार निकल पाना अत्यंत दुष्कर हो जाएगा।

९१. संकल्प्यैवं मनसि मतिमान् भाविकष्टापकृष्टां,
चिन्तां सूक्ष्मामपि न विदधत् सिंहवृत्त्या निवृत्त्यै।
तस्माद् द्रंगात् प्रशमरसभृत् संयमार्थीवगेहा-
न्निष्क्रान्तोऽनागतभयमुचां मुख्यमुख्यः सभिक्षुः॥

इस प्रकार मतिमान् भिक्षु संकल्प कर, भविष्य की सूक्ष्मतम चिन्ता भी न करते हुए सिंहवृत्ति से निवृत्ति के लिए उस नगर से वैसे ही निकल पडे जैसे प्रशमरस से परिपूर्ण संयमार्थी पुरुष घर से निकल पडता है। उस समय अभय व्यक्तियों में अग्रणी मुनि भिक्षु अनागत भय से सर्वथा अस्पृष्ट थे।

९२. यावद्भिक्षुर्विहरणविधेर्गोपुराभ्यर्णदेशं,
यातस्तावज्जवनपवनैः सम्प्रवृत्तान्धवात्या ।
मन्ये काञ्चिद् गुरुविरचितां दातुमच्छां प्रतिष्ठा-
मत्रैवैतं कमपि समयं स्थातुमुत्प्रेरयन्ती ॥

जब भिक्षु विहरण करते हुए नगर द्वार (गोपुर) के पास पहुंचे तब तेज आंधी चल पडी, मानो कि वह आंधी मुनि भिक्षु को गुरु द्वारा किसी अच्छी प्रतिष्ठा दिलाने के लिए उन्हें कुछ समय तक वहीं रुकने की प्रेरणा दे रही हो।

९३. वात्यायां नो गमनमुचितं सत्सतामित्यवेक्ष्य,
द्वारात् तूर्णं परमकरुणाक्लिन्नशुद्धान्तरात्मा ।
स प्रत्यागात् पुरवरबहिर्जेतसिंहाभिधस्य,
कासाराल्यां जनकनिलयच्छत्रिकास्वेव तस्थौ ॥

'तेज आंधी में विहार करना मुनियों का कल्प नहीं है'—यह सोचकर परम कारुणिक और पवित्रात्मा मुनि भिक्षु शीघ्र ही लौट आए और श्मशान भूमि में तालाब की पाल पर ग्रामाधिपति ठाकुर जेतसिंहजी की छत्रियों में ठहर गए।

९४. आकर्ण्यैतद् रघुरघुगुरुः पुष्कलैः सन्घलोकै-
स्तत्रायातो वदति बलतो मंक्षु भिक्षुं विलक्षः ।
मा गा मा गा इह मम गणं मां च मुक्त्वाऽयिभिक्षो !,
निर्माहि त्वं श्लथितहृदयं वृद्धवाक्यं मनुस्व ॥

आचार्य रघुनाथजी ने यह सुना और वे संघ के अनेक लोगों को साथ ले छत्रियों पर आए और आश्चर्य व्यक्त करते हुए जोर से बोले—ओ भिक्षु! तुम मत जाओ, मत जाओ। मेरे गण को और मुझको छोडकर मत जाओ। तुम अपने हृदय को नम्र करो, शिथिल करो और मुझ बूढे की बात को मानो।

९५. एष क्लिष्टो विषमविषमो दुःषमारप्रकारः,
संवेत्सि त्वं नहि किमधुना कीदृशो गात्रबन्धः ।
कोऽव्यादस्मिन् समयसमितां साधुतां सौष्ठवेन,
प्रत्यायाहि प्रमुदितमनाः स्वाग्रहं प्रोज्झ्य दूरम् ॥

यह पांचवां काल अत्यंत विषम और कष्टप्रद है। शरीर का संहनन भी कितना शिथिल है—क्या तुम यह सब नहीं जानते? कौन साधक ऐसे क्लिष्ट काल में साधुता का शुद्ध पालन कर सकता है? तुम अपने आग्रह को दूर कर, प्रसन्न मन से अपने स्थान पर लौट आओ।

९६. प्रत्यादिष्टं समयसमयाद् भिक्षुणा भिक्षुवृत्त्या,
नूनं जाने स्फुटतरमयं साम्प्रतं पञ्चमारः ।
किन्त्वार्हन्त्यो ध्रुव इव सनादेकरूपो[1] हि धर्म-
स्तस्मिन् कालात् कथमपि कदा नो परावर्त्तनत्वम् ॥

यह सुनकर मुनि भिक्षु ने साधुवृत्ति से उत्तर देते हुए कहा—'मैं आगमों के आधार पर यह स्पष्ट रूप से जानता हूं कि यह पांचवां अर है। किन्तु आर्हत धर्म ध्रुव नक्षत्र की भांति सदा एक रूप रहा है, शाश्वत रहा है। उस काल से लेकर आज पर्यन्त इसमें किसी प्रकार का कभी भी परिवर्तन नहीं हुआ।'

९७. एवं मूलोत्तरगुणगणैः श्रेयसः शाम्भवस्य,
नो क्षन्तव्या भवति च परावृत्तिरेषा विशेषात् ।
मूलं श्रेयो विलसतितरां पञ्चकोरुव्रताऽऽद्यं,
द्वैतीयीकं विमलिततपो ह्युत्तरं सप्रभेदम् ॥

मुनि के मूलगुण और उत्तरगुण कल्याण के विधाता हैं। पांच महाव्रत मूल गुण हैं और भेद-प्रभेद वाला तप उत्तरगुण है। विशेष रूप से इनमें परिवर्तन करना या इनसे लौट आना किसी भी प्रकार से क्षम्य नहीं है।

९८. हिंसाद्यैः किं भवति सुकृतं श्रेयसो वा प्रचारो,
ऽहिंसाद्यैः किं वृजिनजननं कालवैलोम्यतश्च ।
आज्ञाबाह्ये जिनभगवतां जैनधर्मप्रसूति-
राज्ञान्तः किं स्फुरति दुरितं कर्हिचित् कुत्रचिच्च ॥

क्या काल-वैषम्य के कारण हिंसा आदि पापों से धर्म या धर्म-प्रचार तथा अहिंसा आदि धर्मों से अधर्म हो सकता है? क्या अर्हत् आज्ञा के बाहर धर्म और आज्ञा में अधर्म या पाप कभी किसी प्रकार से संभव है?

९९. ये निःसत्त्वा भवगसुविधास्वादसल्लीनदीना,
दोषान् स्वीयान् समयमिषतो गोप्तुकामा मुधैव ।
शुद्धाचारैर्यमनियमसंपालनायां कदर्या,
एह्यानन्दप्रमुखपथिकास्ते हि कालानुगाः स्युः ॥

जो सत्त्वहीन हैं, प्राप्त होने वाली सुख-सुविधाओं को भोगने में तल्लीन हैं, जो समय के बहाने अपने दोषों को व्यर्थ ही छुपाना चाहते हैं, जो शुद्ध आचरण से यम, नियम के पालन में कायर हैं, ऐहिक आनन्द के मार्ग के पथिक हैं, वैसे मनुष्य ही जमाने के अनुसार चलते हैं।

१. सनात्—सदा (अभि० ६।१६७)।

१००. तुर्यारे प्राक् सविधिशपथस्वीकृतिः पालनाऽऽसीत्,
तद्वदस्मिन्नपि सकुशलं दुःषमारेऽपि शक्या ।
कालव्याजाद् व्रत शिथिलतापोषणा नैव कार्या,
स्वानाचीर्णाङ्गसुखसुविधादुर्बलत्वादि हेयम् ॥

चौथे आरे में जैसे विधिपूर्वक नियम लिया जाता और उसी विधि से उसका पालन किया जाता, उसी प्रकार आज इस पांचवें आरे में भी नियमों का पालन शक्य है। काल का बहाना लेकर व्रतों के पालन में शिथिलता का पोषण नहीं करना चाहिए। तथा अपने द्वारा आचीर्ण दोषों, शारीरिक सुख-सुविधाओं तथा मानसिक दुर्बलताओं को छोड देना चाहिए।

१०१. निन्द्यं हेयं चरणशिथिलत्वं यथारे चतुर्थे
ऽनेहस्यस्मिन्नपि तदिव तद्विप्रियं वर्जनीयम् ।
स्वासामर्थ्यादभिलषणतः किं परावर्त्ततेऽद्य,
खण्डं खण्डं कथमिवभवेत्पञ्चकोरुव्रतानाम् ॥

जैसे चौथे आरे में चारित्र की शिथिलता हेय और निंद्य मान जाती थी, वैसे ही आज वर्तमान में भी वह निन्दनीय और वर्जनीय है। क्या आज उसके पालन की अपनी असमर्थता तथा इच्छा से उसमें परिवर्तन किया जा सकता है? पांच महाव्रतों का क्या आज खंड-खंड में पालन किया जा सकता है?

१०२. तुर्यारेऽपि त्रिचतुरशनत्यागतो भूयमान-
मासीच्चार्वष्टममिह तपोऽद्यापि किं तत्तथा न ।
ज्ञेयं ज्ञेयं चणककणिकामात्रमास्वाद्यकोऽपि,
तत् किं कर्तुं प्रभवति नरः पञ्चमारादिदानीम् ॥

चौथे आरे में जैसे तीन दिन तक तीन या चार आहार का त्याग करने से ही तेले की तपस्या होती थी और आज भी क्या वह वैसे ही नहीं होती है? क्या आज इस पांचवें आरे में कोई व्यक्ति चने का एक दाना खाकर तेले की तपस्या कर सकता है? आप गहराई से सोचें।

१०३. नो चेत्तत्तद्विदितबहुधादोषसंसेवनाभिः,
श्रामण्यं स्यात् किमिव वदतामागमोक्त्यात्र सत्यम् ।
तस्माद् धृत्वा शिरसि सुतरामार्हतीं शिष्टिमिष्टां,
प्राणोत्सर्गादपि सुमुनितामारिरात्सुर्मुदाऽद्य ॥

यदि तेला ऐसे नहीं हो सकता है तो फिर जानबूझकर बार-बार दोषों का सेवन करते रहने से श्रामण्य कैसे संभव हो सकता है ? आर्य ! आगमोक्त सत्य से हमें यह बताएं। मैं अर्हतों की अनुशिष्टि को शिरोधार्य कर, प्रसन्नतापूर्वक प्राणोत्सर्ग करके भी शुद्ध मुनित्व की आराधना करने का आज भी इच्छुक हूं।

१०४. नैराश्याम्भोधरखरघटोद्घाटिनीं भारतीं तां,
श्रुत्वा भिक्षोः खलु गुरुवरः प्राह तं तीव्रवाण्या।
निर्वोढुं त्वं न हि न हि तथा पञ्चमारे समर्थः,
मन्यस्वैतां हितगिरमिमां ह्यन्यथा तेऽनुतापः ॥

मुनि भिक्षु की वाणी रघुनाथजी के निराशापूर्ण बादलों की निष्ठुर घटा को छिन्न-भिन्न करने वाली थी। वे उसे सुनकर प्रचण्ड वाणी में बोले—'भीखन ! इस पांचवें आरे में वैसा तुम कर नहीं सकोगे। तुम मेरी इस हितकारी वाणी को सुनो, अन्यथा तुम्हें अनुताप करना होगा।'

१०५. आकर्ण्यैवं सपदि सुतरां सोऽपि तं प्रोत्ततार,
तुच्छां वाचं किमिव भवतामभ्युपैम्यप्रमाणाम्।
सत् सिद्धान्तान् जिनविरचितान् वाचयित्वा प्रकाम-
मन्तं कृत्वा निरवसमहं नास्ति शङ्काद्य किञ्चित् ॥

यह सुनकर मुनि भिक्षु तत्काल उत्तर देते हुए बोले—'आर्य ! आपकी इस तथ्यहीन और अप्रामाणिक बात को कैसे स्वीकार करूं ? मैंने जिनेश्वरदेव द्वारा रचित सत्‌सिद्धान्तों का गहरा अध्ययन कर निर्णय किया है, अब मैं निश्चित हूं। मेरे में अब कोई शंका नहीं है।'

१०६. तीर्थं तस्यान्तिमजिनपतेः पञ्चमाङ्गप्रमाणाद्,
गम्येतत्तद् ध्रुवतरपथा पञ्चमारावसानम्।
तस्मादाज्ञां जिनभगवतामुत्तमाङ्गे निधाय,
प्रव्रज्याया अविकलतया पालनार्थं समुत्कः ॥

'आर्य ! पांचवें अंग-आगम भगवती के प्रमाण से यह माना गया है कि अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का शासन निश्चित रूप से पांचवें आरे के अन्त तक चलेगा। इसलिए भगवान् की आज्ञा को शिरोधार्य कर प्रव्रज्या का अविकल पालन करने के लिए मैं उत्सुक हूं।'

१०७. एतद् श्रुत्वा त्रुटितविवश[1]प्रान्ततन्तुप्रताना-
ऽऽचार्यस्यार्त्तेरचलदधिका मोहतश्चाश्रुधारा ।
श्यामर्षे प्रागुदयसहितो भानुराख्यत्तदर्षि-
र्गच्छेशः सन् किमिव भवताल्लोकलक्ष्यः प्लुताक्षः ॥

यह सुनकर रघुनाथजी की दुराशा के प्रान्त-तार टूट गए और तब दुःख और मोह के कारण उनकी आंखों से अश्रुधारा बह चली। उस समय श्यामदासजी महाराज के संप्रदाय के मुनि उदयभानजी वहीं उपस्थित थे। उन्होंने रघुनाथजी से कहा—'आप गच्छाधिपति हैं। आप ऐसा क्यों कर रहे हैं ? लोगों के देखते हुए आप क्यों आंखें गीली कर रहे हैं ?'

१०८. सोऽवक् कस्याप्ययति सुमुने ! कोपि चैकोपि तत्र,
चिन्तात्यन्ता भवति सुहृदो बुद्धिविद्याविभूतेः ।
यन्त्यऽस्मत्तस्त्वनुपमतमाः पञ्चपञ्चैकदाऽमी,
धैर्याधारं स्फटति हृदयं मेऽद्य तादृग्वियोगैः ॥

आचार्य रघुनाथजी बोले—'मुने ! जिस किसी गच्छ का एक साधु भी गच्छ से चला जाता है तो उस गच्छ के सुहृद् और बुद्धि-विद्या से समृद्ध आचार्य को अत्यंत चिन्ता होती है। किन्तु यहां से पांच-पांच अनुपम मुनि एक साथ चले जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में धैर्यधारी मेरा हृदय इस वियोग से आज चूर-चूर न हो, यह कैसे संभव है ?'

१०९. आसीत्प्रेयान् गणपतिरघोः सर्वशिष्यावतंसः,
श्रीमद्भिक्षुः प्रखरमतिमान् कोविदानां कलाढ्यः ।
सन्घे तादृक्भवनमधिकं गौरवं गौरवं सत्,
सौभाग्यं श्रीगणपरिवृढस्यापि विश्वप्रशस्यम् ॥

मुनि भिक्षु गच्छगत मुनियों में शिरोमणी, प्रखर बुद्धि संपन्न तथा विद्वानों में लब्धप्रतिष्ठ थे। वे आचार्य रघुनाथजी के परमप्रिय शिष्य थे। संघ में ऐसे व्यक्ति का होना संघ का अत्यधिक गौरव और साथ ही साथ गण के आचार्य का भी जन-जन द्वारा प्रशंसनीय सौभाग्य है।

११०. किन्त्वेतस्य प्रतिवचनतश्छिन्नभिन्नाभिलाषो,
नैरानन्द्यानुभवनपरोऽयं विषण्णो निषण्णः ।
मोहादस्माद् गुरुवरगतात्प्राकृताद् द्रावणीया-
दात्मान्तेभ्यस्तदपि च मनाग् नो व्यचालित् स भिक्षुः ॥

---

१. विवशः—अनिष्ट बुद्धिवाला (विवशोऽनिष्टदुष्टधीः—अभि० ३।१०२)

भिक्षु के प्रत्युत्तर से आचार्य रघुनाथजी की अभिलाषा छिन्न-भिन्न हो गई और वे निराशा का अनुभव करते हुए अत्यन्त खिन्न होकर बैठ गए। अपने गुरु के प्रति मुनि भिक्षु का जो द्रवित करने वाला स्वाभाविक मोह था, उससे भी वे मुनि-पथ से विचलित नहीं हुए।

१११. तेनालोच्यस्खलितमनसा यद्दिनेऽत्याजि सद्म,
तस्मिन् घस्रे मम च जननी पूर्णवात्सल्यपूर्णा।
अस्रासारान् मयि परवशा वाहयामास बाढं,
निष्क्रान्तोऽहं तदपि च तदा निःस्पृहो निष्क्रियार्थी॥

भिक्षु ने अपने स्थिर मन से सोचा, जिस दिन मैंने प्रव्रज्या के लिए घर छोडा था, उस दिन मेरी वात्सल्यमयी मां ने मेरे प्रति अत्यंत मोह के कारण बहुत आंसू बहाए थे। पर मैं निस्पृह होकर एकमात्र मोक्ष-प्राप्ति की अभिलाषा से घर से निकल गया था।

११२. तत् किं मूल्यं गुणहतगुरोर्वाष्पवेगापवेण्या,
पातिन्या यज्जननमरणाम्भोधिचक्रेऽतिचक्रे।
एतद् दृष्ट्वा यदि पुनरिहोद्रेकतः सम्मिलामि,
तन्मेऽमुत्र प्रपतति महारोदनं तोदनं च॥

११३. एवं ध्यात्वा द्रवितकरणोत्पिञ्जलं[1] प्राञ्जलं[2] तन्,
निर्बन्धं तं निरहृरदयं[3] भिक्षुरूर्ध्वज्ञविज्ञः।
द्वेषात्तूर्णं चलति न पुमान् किन्तु रागप्रसङ्गात्,
विक्रान्तोपि त्वरितमभितः क्षोभमभ्येति मूर्च्छेत्॥ (युग्मम्)

तो फिर इन गुणशून्य गुरु की वेग से बहने वाली अश्रुधारा का मूल्य ही क्या है? यह तो जन्म-मरण रूप गहरे समुद्र में डुबोने वाली है। इसको देखकर यदि मैं भावावेश में उनमें पुनः शामिल हो जाऊं तो न जाने मुझे परलोक में कितना रोना पडेगा, कितने कष्ट सहने पडेंगे?

ऐसा सोचकर अत्यंत व्याकुलता और सरलता से किए गए रघुनाथजी के उस हृदय-द्रावक आग्रह से भी मोक्षपथ के ज्ञाता और विवेकवान् भिक्षु विचलित नहीं हुए। द्वेषपूर्ण वातावरण से व्यक्ति शीघ्र विचलित नहीं होता किन्तु राग के प्रसंग से पराक्रमी व्यक्ति भी शीघ्र ही अत्यंत क्षुब्ध हो जाता है, मूढ हो जाता है।

---

१. उत्पिञ्जलः—अत्यंत व्याकुल।
२. प्राञ्जलः—ऋजु।
३. निरहृरदयः—हृदयद्रावक।

११४. किन्त्वेतस्माद् गुरुवरकृतान्निश्चलो भिक्षुरस्थान्,
नो साफल्यं समुपगतवान् सम्प्रदायाधिनाथः ।
तस्माद् रुष्टोऽरुणितनयनो भीषणो भीषणास्यो,
द्रव्याचार्यो विनिहितसमो व्याजहाराशु रूक्षम् ॥

किन्तु आचार्य रघुनाथजी के हृदयद्रावक उपक्रम से मुनि भिक्षु विचलित नहीं हुए । वे अपने संकल्प में निश्चल रहे, अडिग रहे । असफलता से आहत होकर आचार्य रघुनाथजी अत्यन्त रुष्ट हो गए । उनकी आंखें लाल हो गईं । उनका चेहरा बहुत डरावना हो गया । वे निरपेक्ष होकर बोले—

११५. रे रे भिक्षो ! सुकृपण ! कियद्यास्यसि त्वं च दूर-
मग्राग्रे त्वं तव पुनरहं पृष्ठपृष्ठेऽस्मि नूनम् ।
नृणां पूरं त्वदनुनितरां यत्र तत्र प्रयोक्ष्ये,
दास्ये पादौ तव लगयितुं नैव कुत्रापि किंचित् ॥

'ओ भिक्षु ! तुम कितने अनुदार हो ! तुम कितने दूर जाओगे । देखो, आगे-आगे तुम और पीछे-पीछे मैं लगा ही रहूंगा । तुम जहां भ जाओगे, मैं तुम्हारे पीछे सदा लोगों को लगाए रखूंगा । तुम्हारे पैर कहीं भ स्थिर हो सकें, वैसे नहीं होने दूंगा ।'

११६. तां तद्वाणीं श्रवणविषयीकृत्य दीपाङ्गजेन,
स व्याख्यातः कथमपि तदा साध्वसान्नो बिभेमि ।
शान्त्या सोढा समपरिषहान् शुद्धसाधुत्वकामः,
काचिच्चिन्ता नहि मम कियज्जीवनीयं जगत्याम् ॥

दीपांगज मुनि भिक्षु आचार्य की उस वाणी को सुनकर बोले—'तब तो मैं किसी भी प्रकार के आतंक से भयभीत नहीं होऊंगा । मैं शुद्ध साधुत्व के पालन का अभिलाषुक हूं । जो भी कष्ट आयेंगे मैं उन्हें शान्तभाव से सहन करूंगा । मुझे कोई चिन्ता नहीं है । मुझे संसार में अब जीना ही कितना है !'

११७. यावन्त्येतत् त्रिभुवनतले कृत्स्नकार्याण्युरूणि,
तावन्त्यात्माऽपरकृतमहाक्लेशसाध्यान्यवश्यम् ।
दीव्योद्देश्यैस्तदहमधुना सासहिर्वाविहिस्तान्,
क्लृप्ता केनाऽसुखसहमृतेऽलौकिकानन्दनन्दिः[1] ॥

१. नन्दिः—हर्ष, वृद्धि ।

इस विश्व में जितने भी बडे-बडे कार्य हुए हैं, वे सारे कार्य चाहे स्वकृत हों या परकृत, महान् कष्ट सहने से संपन्न हुए हैं। मैं अब अपने दिव्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन कष्टों को सहन करूंगा और उसी पथ का वहन करूंगा। कष्टों को सहे बिना किसने अलौकिक आनन्द को प्राप्त किया है ?

११८. दाढर्यं दृष्ट्वा नवसुचरिताकांक्षिणस्तस्य भिक्षोः,
सञ्जातोऽथ स्वयमपितदा धीरधीरः समीरः ॥
तस्माद् द्रङ्गान् निवृतिनगरं गन्तुमुत्कण्ठितो वा[1],
तत्कालं सोऽप्रतिममहसा शान्तवृत्त्या व्यहार्षीत् ॥

पुनः सद्चारित्र को स्वीकार करने के इच्छुक मुनि भिक्षु की दृढता को देखकर वह आंधी भी तब स्वयं धीमी हो गई। यह देखकर अप्रतिम तेजस्वी मुनि भिक्षु ने तत्काल उस बगडी नगर से शांतभाव से विहार कर दिया, मानो कि वे मोक्ष नगर में जाने के लिए उत्कंठित हो रहे हों।

११९. द्रव्याचार्योऽप्यथ निजजनान् भ्रामयंस्तस्य पृष्ठे,
द्वेष्टुं पेष्टुं तदुचितमतं बम्भ्रमीति स्वयञ्च।
सत्यं कर्तुं स्ववितथहठं यत्यमानेन गुर्वी,
चर्चाऽऽरब्धा वरलुनगरे भिक्षुभिस्तेन भूयः ॥

आचार्य रघुनाथजी ने अपने द्वेष के पोषण के लिए तथा भिक्षु के सत्यमत को पीस डालने के लिए अपने भक्तों को उनके पीछे लगा दिया और स्वयं भी उनके पीछे-पीछे घूमने लगे। अपने झूठे आग्रह को सत्य प्रमाणित करने के प्रयत्न में उन्होंने वरलू नगर में भिक्षु के साथ चर्चा करने का महान् उपक्रम किया।

१२०. आख्यद् भिक्षु शृणु शृणुतमां मद्वचः सावधानं,
पश्येदानीं कठिनकठिनं पञ्चमारं यदस्मिन्।
नो शक्येरन्नवितुमनघां साधुतां केऽपि पूर्णां,
सामर्थ्यं संहननमपि तत् क्वास्ति तत्पालनार्हम् ॥

चर्चा के प्रसंग में आचार्य रघुनाथजी ने भिक्षु से कहा—'अरे ! सुनो, मेरे वचन को सावधानीपूर्वक सुनो। देखो, यह महान् कठिन पांचवां आरा है। इस काल में कोई भी पूर्णरूप से मुनित्व का पालन करने में समर्थ नहीं है। मुनित्व की पूर्ण पालना के लिए कहां है वह सामर्थ्य और कहां है वह शारीरिक संहनन ?

१. वा इवार्थे।

१२१. वृत्ताधीशैस्तदनुसुसमाधायि सद्बोधगर्भ-
माचारांगे चरमजिनपैः पूर्वमेवैवमुक्तम् ।
ये पार्श्वस्था स्खलितशिथिलास्ते तथा वक्ष्यमाणा,
नो शक्येरंश्चलितुमधुना संयमे शुद्धरीत्या ॥

सच्चारित्री मुनि भिक्षु आचार्य की बात का तात्त्विक समाधान देते हुए बोले—'चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने आचारांग सूत्र में यह स्पष्ट कहा है कि जो पार्श्वस्थ, मार्गच्युत तथा शिथिलाचारी होंगे, वे ही ऐसा कहेंगे कि इस कलिकाल में शुद्ध रीति से संयम का पालन अशक्य है।'

१२२. प्राप्तकष्टं गहनगहनं न्यायवत्तद्वचोभि-
र्व्याचार्यः प्रतिकथयितुं प्राभवन्नैव तत्र ।
फालभ्रष्टो मृगपतिरिव व्यग्रचित्तस्तदानीं,
भिन्नां शैलीं पुनरपि तदालम्ब्य भिक्षुं बभाषे ॥

मुनि भिक्षु के न्यायोचित वचनों को सुनकर आचार्य रघुनाथजी अत्यंत खिन्न हो गए और प्रत्युत्तर देने में समर्थ नहीं हो सके। जैसे दांव चूकने पर सिंह व्यग्र हो जाता है वैसे ही आचार्य व्यग्र होकर भिन्न वाग्शैली में पुनः भिक्षु से बोले—

१२३. शुद्धं ध्यानं युगलघटिकां संयमं पालयेत् तत्,
तस्य प्रादुर्भवति सुतरां केवलज्ञानमत्र ।
प्रोचे भिक्षुर्यदि च घटिकाभ्यां भवेत् केवलज्ञं,
तद् द्वे नाड्यौ श्वसनमपि संरुद्ध्य तिष्ठामि तद्वत् ॥

'इस कलिकाल में यदि कोई शुद्ध ध्यान से दो घड़ी विशुद्ध संयम की पालना कर लेता है तो उसे केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।' रघुनाथजी का यह कथन सुनकर भिक्षु बोले—'यदि दो घटिकाओं के शुद्ध संयम से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है तो मैं दो घड़ी तक नाडीतंत्र और श्वसनतंत्र का निरोध कर स्थिर रह सकता हूं।'

१२४. पृच्छाम्यत्र प्रभवप्रमुखैर्वीरपट्टाधिनाथै-
स्तावन्तं किं समयमपि सत्साधुता पालिता नो ।
यत्ते सर्वे सकलसुमतैर्वञ्चिताः सन्त एव,
स्वर्गाभोगं सुभगसुभगं भूषयन्तो बभूवुः ॥

'मैं आपसे पूछना चाहता हूं कि क्या महावीर-शासन के अधिकारी प्रभव आदि प्रमुख आचार्यों ने दो घड़ी का भी शुद्ध संयम नहीं पाला जिससे कि वे सभी केवलज्ञान की उपलब्धि से वंचित रहकर, स्वर्ग सुखों को ही प्राप्त कर सके ! (विशिष्ट स्वर्गों को ही भूषित कर सके।)

१२५. वीरस्यासंश्चतुरुपनवप्राक्सहस्रा हि सन्तः,
सार्वाः[1] सप्तादिशतयतयस्तेषु जाताः परन्तु ।
शेषाश्च्छद्मस्थितिगतिगताः किञ्च ते नाडिके द्वे,
शुद्धां दीक्षां भवदभिमताद् वाहयाञ्चक्रिरे नो ॥

'भगवान् महावीर के चौदह हजार मुनि शिष्य थे । उनमें से केवल सात सौ मुनि ही केवलज्ञान प्राप्त कर सके, शेष मुनि छद्मस्थ की स्थिति में ही रहे । तो क्या आपके मतानुसार उन मुनियों ने दो घडी का भी शुद्ध संयम नहीं पाला ?'

१२६. छद्मस्थोऽस्थात् परमदलवद् द्वादशाब्दं च वीरो,
युष्मद् युक्त्या द्वितयघटिकां नोढवान् सोपि तत् किम् ।
एवं साक्षात् परिषदि तयोः सम्प्रवृत्तातिचर्चा,
किन्त्वाचार्योप्यनुचितहठी बोधितो नैव बुद्धः ॥

'भगवान् महावीर स्वयं बारह वर्ष (तथा तेरह पक्ष) तक छद्मस्थ अवस्था में ही रहे । तो क्या, आपकी युक्ति के अनुसार उन्होंने दो घडी तक भी शुद्ध संयम का पालन नहीं किया ?' इस प्रकार बडलू नगर में आचार्य रघुनाथजी और मुनि भिक्षु में विशाल परिषद् के बीच चर्चा चली । किन्तु अनुचित आग्रह के धनी आचार्य समझाने पर भी नहीं समझ पाए ।

१२७. श्रद्धाचारप्रमुखविषये स प्रणाय्यो[2]ऽप्रणाय्य[3],
आत्माचार्यैरवगमयितुं या कृता भूरिचर्चा ।
यत् कर्त्तव्यं भवति सुविनेयस्य सर्वं कृतं तत्,
तस्योल्लेखं किमिव विदधे लेखनीगोचरोच्चम् ॥

सभी के द्वारा अभिमत निष्काम मुनि भिक्षु ने श्रद्धा और आचार के विषय में अपने आचार्य को उद्बोध देने के लिए विस्तृत चर्चा की और एक सुविनित शिष्य को जो करना चाहिए वह सब किया परन्तु मैं उसका उल्लेख कैसे करूं, क्योंकि वह मेरी लेखनी के सामर्थ्य से बाहर है ।

१२८. आसीद् भिन्नो जयमलमुनिस्तत्पितृव्यो गुरुर्यः,
सोप्याचार्यः सहजसरलः सोऽमिलत् क्वापि साधु ।
तं सम्बोद्धुं सविधि वदते विश्वविश्वोपकारी,
श्रीमद्भिक्षुर्भुवनभविनां भव्यभाग्याब्जभानुः ॥

१. सार्वाः—सर्वज्ञाः ।
२. प्रणाय्यः—निष्काम, विरक्त ।
३. अप्रणाय्यः—अभिमत ।

१२९. क्वार्हद्वाणी क्व विमलदया क्वास्ति निष्पापधर्मः,
क्वैकान्तीदृङ् चरणकरणे क्वासिधाराव्रतानि ।
क्व क्षान्त्यादिप्रवरदशनिर्ग्रन्थधर्मः समर्मः,
संवीक्ष्यं क्व प्रवचनलसन्मातरोऽष्टौ विशुद्धाः ।।

१३०. साध्वाचारे वयमनिविडा नष्टतत्त्वा नितान्तं,
पश्यन्तोप्याचरणकरणे संवृताक्षा विपक्षाः ।
स्वच्छन्दत्वं स्फुरति सुतरां शिक्षिता कोऽनुमन्ता,
सूत्रादेशादुपरतिमिता भ्रष्टलक्ष्या विलोक्यम् ।।
(त्रिभिर्विशेषकम्)

उस समय मुनि भिक्षु के चाचा गुरु मुनि जयमलजी एक भिन्न टोले—मुनि संघ के आचार्य थे । वे सहज और सरल थे । वे भिक्षु से मिले। तब समस्त विश्व के उपकारी, संसारस्थ भव्य प्राणियों के भाग्य रूपी कमल को विकसित करने वाले सूर्य सम श्रीमद् भिक्षु जयमल मुनि को प्रतिबोध देने के लिए विधिपूर्वक बोले—

मुनिवर्य ! आज धर्मसंघ में कहां है अर्हद् वाणी ? कहां है निरवद्य दया ? कहां है निरवद्य धर्म ? कहां है चरण-करण की साधना की एकतानता ? कहां है असिधारा के समान कठिन महाव्रतों की परिपालना ? कहां है मार्मिक क्षान्ति आदि दस प्रकार का मुनिधर्म ? कहां है प्रवचन में शोभित आठ प्रवचनमाताओं की विशुद्धि ?'

'साध्वाचार में भी हम शिथिल हो गए हैं, तत्त्वच्युत हो गए हैं । हम आचार-क्रिया को जानते हुए भी नितांत आंखें मूंदकर विपरीत आचरण कर रहे हैं । स्वच्छंदता निरंतर बढ रही है । कोई कहने वाला और मानने वाला नहीं है । मुनि सूत्रों के आदेशों के प्रति उदासीन-से हो रहे हैं । हम अपने लक्ष्य से च्युत हो गए । आप यह भी ध्यानपूर्वक सोचें ।'

१३१. षट्कायानां त्रिकरणयुजाऽऽरम्भसंरम्भनादौ,
हिंसातत्त्वाज्जिनवचनतो बाह्यवृत्या च सा स्यात् ।
तत्रादेशोपदिशनतया किं भवेत्पुण्यधर्मो,
मिश्रश्रेयोऽपि च किमु तथा चिन्तनीयं भवद्भिः ।।

तीन करण और तीन योग से षट्कायिक जीवों के आरंभ-समारंभ में हिंसा होती है । इसे तत्त्वदृष्टि से अथवा जिनेश्वरदेव के वचनों से अथवा बाह्यवृत्ति देखें तो भी वह हिंसा ही रहेगी । क्या उस हिंसायुक्त प्रवृत्ति का आदेश या उपदेश देने में पुण्य धर्म या मिश्रधर्म हो सकता है ? आप इस पर विचार करें ।

१३२. कार्यस्रष्टुर्यदि च कलुषं कारकस्यानुमन्तु-
मूंकाम्नायेङ्गितरचयितुस्तच्च नूनं कृतान्तैः[1]।
स्तैन्यं कर्तुर्नरपतिनयान्निग्रहः पारितोषं,
दद्याल्लोप्त्रग्रहणविदधत् तत्समुत्साहिनः किम् ॥

हिंसायुक्त प्रवृत्ति करने वाले को यदि पाप लगता है तो उस प्रवृत्ति को कराने वाले को, उसका अनुमोदन करने वाले को तथा मौन रहकर आज्ञा या संकेत करने वाले को भी निश्चित ही पाप लगेगा। यह सिद्धान्त का कथन है। राज्य-व्यवस्था के अनुसार चोरी करने वाले चोर का निग्रह किया जाता है। क्या चोरी के माल को लेने वाले तथा चोरी को प्रोत्साहन देने वाले को पारितोषिक मिलेगा? (क्या वे दोनों दंड के भागी नहीं होंगे?)

१३३. चौरस्याऽघं यदि ननु तदा तच्च चौरापकस्य,
तत्सत्ज्ञातुस्तदभिलषितोल्लेखलेखार्पकस्य।
प्रोत्साहैः स्वोपधिवितरितुर्दत्तवस्त्वादिपाप-
काराऽरोद्धुस्तदपि च तथा सर्वसावद्यकृत्सु ॥

यदि चोरी करने वाले चोर को पाप लगता है तो चोरी कराने वाले को, उसका अनुमोदन करने वाले को, उसके द्वारा अभिलषित उल्लेख-पत्र को अर्पित करने वाले को, प्रोत्साहन के लिए अपने उपकरण सौंपने वाले को, अपनी दी हुई वस्तु से चोरी का पाप करते हुए का निषेध न करने वाले को—इन सबको पाप का भागी होना पडता है। इसी प्रकार सभी सावद्य प्रवृत्तियों में ऐसा ही होता है।

१३४. श्रीप्रश्नव्याकरणसमयेऽष्टादशस्तेयकारा-
श्चौरेणाऽमा वसनरसनादानमानादिकैश्च।
तद्वद् हिंसाप्रभृतिबहुलाऽष्टादशांहः प्रकर्त्रा,
वस्तारो ये तदिव भवितं शास्त्रतः शक्नुवन्ति ।

प्रश्नव्याकरण आगम में अठारह प्रकार के चोरों का उल्लेख है। उसमें कहा है कि चोरों के साथ निवास करने वाले, खान-पान करने वाले, उनके साथ आदान-प्रदान करने वाले तथा उनको सत्कार-सम्मान देने वाले भी चोर हैं। इसी प्रकार हिंसा आदि अठारह प्रकार के पापों का आचरण करने वाले, उनके साथ रहने वाले आदि भी शास्त्रीय दृष्टि से उसी पापाचरण के करने वाले होते हैं, जैसे कि चोर के साथ निवास आदि करने वाले भी चोर होते हैं।

१, कृतान्तः—सिद्धान्त (राद्धसिद्धकृतेभ्योऽन्तः—अभि० २।१५६)।

१३५. संहर्त्ता चोपहरणकरः क्रायको विक्रयी वा,
संस्कर्त्ता वा खलु विशसिता योनुमन्ताऽऽदकश्च ।
एते चाष्टौ ननु च मनुना घातका कीर्तितास्तत्,
किं चित्रं श्रीजिनवरमते तादृशे सद्विधाने ॥

मनुस्मृति ५।५१ में आठ प्रकार के घातक बतलाए हैं—

१. प्राणी को मारने वाला ।
२. मांस लाने वाला या परोसने वाला ।
३. मांस खरीदने वाला ।
४. मांस बेचनें वाला ।
५. मांस पकाने वाला ।
६. मरे हुए प्राणी के टुकड़े-टुकड़े करने वाला ।
७. प्राणीवध की अनुमति देने वाला ।
८. मांस खाने वाला ।

यदि लौकिक शास्त्र में भी ऐसा विधान है तो फिर जिनेश्वर के मत में ऐसा सद्विधान हो तो क्या आश्चर्य !

१३६. वीक्ष्याचारी कथमपि वदेद् हिंस्रकान् मारयेति,
जल्पाद्धिसा लगति करणे प्राथमे स्पष्टमेव ।
रागोद्देश्याद्यदि गदति मा मारयैवं हि वाक्या-
द्धिसैव स्यात्तदपि करणे तत्त्वदृष्टया तृतीये ॥

यदि कोई मुनि हिंसक को देखकर कहे कि इसे मारो, तो इस प्रकार कहने से वह मुनि प्रथम करण से हिंसा का भागी होता है और यदि रागपूर्ण उद्देश्य से कहे कि इसे मत मारो तो वह तीसरे करण से हिंसा का ही भागी होता है । यह तत्त्वदृष्टि का निरूपण है ।

१३७. संसारेऽसंयतितनुमतां जीवनेच्छा हि रागो,
मारेच्छा द्विट् शरणतरणेच्छा जिनोक्तश्च धर्मः ।
एषा श्रद्धा रुचिररुचिरा सर्वथाऽवद्यमुक्ता,
धैर्याद्धार्या मुनिप ! भवता निश्चितं तारणार्हा ॥

विश्व में असंयती जीवों के जीवन की इच्छा करना रागभाव है और उनके मरने की इच्छा करना द्वेषभाव है । संसार-समुद्र से उनके तैरने की इच्छा करना जिनेश्वरदेव का धर्म है । यही रुचिकर श्रद्धा है, यही पाप से सर्वथा मुक्त है और यही निश्चित रूप से पार लगाने वाली है । आर्यवर ! आप इस श्रद्धा को धैर्यपूर्वक स्वीकार करें ।

१३८. षट्कायानामशनवसनैर्हिंसकं पोषयेद् यः,
षट्कायानां भवति स रिपुर्घातसाहाय्यकत्वात् ।
आरम्भाप्तं गृहितनुमतां जीवनं नित्यमेव,
यस्तद्वाञ्छेत् स च तदिदमारम्भमैच्छत्तदानीम् ॥

कोई व्यक्ति षट्कायिक जीवों का वध कर, हिंसक को खिला-पिलाकर पोषण करता है तो वह उन जीवों का शत्रु होता है, क्योंकि वह उन जीवों की हत्या का निमित्त है, सहायक है। गृहस्थों का जीवन तो सदा आरंभ-हिंसा से अभिव्याप्त होता ही है। जो गृहस्थ के जीवन की वांछा करता है वह वास्तव में आरंभ—हिंसा की ही वांछा करता है।

१३९. वस्तुं गन्तुं ननु न वशिनां कल्पते यत्र तत्र,
व्याख्यानाऽद्यं रचितुमपि नो कल्पते तत्र तत्र ।
गम्यं नाऽनायतनमृषिभिस्तत्र दोषप्रपोषो,
बोधव्यं तद् बहु विवरणं ह्योघनिर्युक्तिकाद्यैः ॥

मुनियों के लिए जो-जो स्थान निवास करने तथा जाने योग्य नहीं हैं, वहां व्याख्यान के लिए जाना भी नहीं कल्पता। मुनियों के लिए अनायतन में जाना ही महादोष का हेतु है। अनायतन का विशद वर्णन ओघनिर्युक्ति से जान लेना चाहिए।

१४०. येषां दण्डस्तदनुसरणं स प्रमादः समेषा-
मान्विक्षिक्या तदुपचरणं तत्समुच्छृङ्खलत्वम् ।
तेषां लेश्या परिणतिमुखाः शुद्धितोऽवाङ्मुखा हि,
सिद्धान्ताज्ञा व्यवहृतिपरा सर्वथा राधनीया ॥

जिस कार्य के लिए दंड का विधान है, उसका अनुसरण करना सबके लिए प्रमाद है। तर्क से उसका आसेवन करना पूर्णरूप से उच्छृंखलता ही है। उन व्यक्तियों की लेश्या, परिणाम, योग आदि शुद्ध कैसे हो सकते हैं? भगवद् आज्ञा व्यवहारपरक है। उसकी सर्वथा आराधना करनी चाहिए।

१४१. उद्देश्यं स्याच्छुभमुभययोः कर्तृतत्कारयित्रो-
स्तत्रायासो भवति सुमनेर्जैनधर्मोपि तत्र ।
तद् वैषम्यान् न शपथयितुं कल्पते लौकिकत्वात्
तत्रैतेष्वन्यतमसुमनोभिश्च नो तत्प्रसिद्धिः ॥

करने वाले और कराने वाले—दोनों का उद्देश्य शुभ हो तो वहां मुनि का प्रयत्न होता है। वहीं जैन धर्म की अवस्थिति है। यदि उद्देश्य की विषमता हो तो उस कार्य की आज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि वह लौकिक कार्य होता है। यदि इन दोनों में से किसी एक का भी उद्देश्य शुभ होता है, तो भी कार्य की सिद्धि नहीं होती, वह प्रशस्य नहीं होता।

१४२. श्रीमन्नेमिः स्थलजलखगप्राण्युपात्तादिकेषु,
दृश्यैः कार्यैः कथमपि मनाग् नाचिचेष्टत् तदानीम्।
तेषां तत्र स्वगमनमुखैर्भाविनीं वीक्ष्य हिंसां,
स प्रत्यागान् निरघकरुणः कारणं स्वं च मत्त्वा॥

भगवान् नेमिनाथ के विवाह के उपलक्ष्य में स्थलचर, जलचर और खेचर प्राणियों को एकत्रित किया गया था। परंतु नेमिनाथ ने दृश्य कार्यों—पशुओं को पकडने, निग्रह करने, मारने आदि के विषय में किंचित् भी आदेश-उपदेश या समर्थन नहीं किया था, किन्तु विवाह के अभिमुख जाने के अपने प्रयोजन (बारात के भोज) के लिए उनकी होने वाली हिंसा को देखकर, करुणाशील नेमि ने स्वयं को उस हिंसा का कारण मानकर, वे वहां से मुड गए।

१४३. एकस्येदं क्षणिकसुखदं मण्डनं मे गृहस्या-
ऽनेकेषां हाऽवशतनुमतां मूलतो गेहनाशः।
तत्राऽहं स्वागमनमननात् कारणं दानवीय-
मेवं ध्यात्वा सदयहृदयः प्रत्यगात् सङ्गतोऽपि॥

उन्होंने सोचा—विवाह करने से मेरे एक का क्षणिक आनन्ददायी घर तो बसेगा, किन्तु अनेक परवश और मूक प्राणियों का समूल नाश हो जाएगा। यदि मैं विवाह करने के लिए जाने की अनुमति देता हूं तो मैं इन प्राणियों की मृत्यु का दानवीय कारण बनता हूं। ऐसा सोचकर वे परम भगवान् नेमिनाथ वैवाहिक झंझट से ही विलग हो गए।

१४४. यद्येवं तद्विहरणवशाद् द्रष्टुमागन्तुकाद्यै-
रारम्भादौ न कथमभवत् स प्रभुर्बीजभूतः।
नैवं तद्वत् तदनुपरतेः सैव मानं च यद् वा,
तत्राऽसङ्गात् तदनभिमुखान्निष्क्रियाद् हेतुमात्रात्॥

यदि पूर्वोक्त बात मानी जाए तो हमें यह भी सोचना होगा कि जब भगवान् विहरण करते हुए गांवों-नगरों में आते हैं तब उनके दर्शनार्थ आने वाली जनता के द्वारा हिंसा आदि होती है। उस हिंसा आदि के बीजभूत क्यों नहीं होंगे भगवान् ? भगवान् को भी वापिस लौट जाना चाहिए। नहीं, ऐसा नहीं होता। भगवान् का आगंतुक नर-नारियों के साथ कोई लगाव नहीं और न ही उनकी ओर उनकी अभिमुखता ही है। वे तो इस प्रक्रिया में केवल दूर निमित्त हैं, सीधे निमित्त नहीं हैं।

१४५. रक्षानाम्ना त्वहह ! कियती रक्ष्यजन्तोः परेषां,
हिंसा तस्याऽप्यविरतिभवैनः प्रबंधत्वतश्च ।
तस्माद्धिंसाशयविरमणं तत्त्वतः सा ह्यहिंसा,
नो चेत् सर्वाऽनवनवशतः सर्वथाऽहिंसकः क्व ॥

रक्षा (दया) के नाम से बचाए जाने वाले प्राणियों के लिए दूसरे कितने प्राणियों की हिंसा की जाती है तथा रक्ष्य प्राणियों की अविरति के पाप को बढ़ाने में भी हम ही सहायक बनते हैं। इसलिए हिंसा के आशय से विरत होना ही वास्तविक अहिंसा है। यदि ऐसा न माना जाए तो सभी जीवों के रक्षण के सामर्थ्य के अभाव में सर्वथा अहिंसक कौन हो सकता है ?

१४६. सम्यग्ज्ञानादिककरणतो मोक्षसाध्यप्रसिद्धि-
र्नारम्भाद्यैः कथमपि भवेत्पुण्यधर्मप्रसूतिः ।
साध्याभं स्यात् खलु फलदृशा साधनं साधकानां,
साध्यं तद्वद् भवति सुतरां साधनाभं सदैव ॥

वास्तव में सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र ही मोक्ष—साध्य की सिद्धि में कारणभूत होते हैं। आरम्भ आदि के द्वारा पुण्यधर्म की प्रसूति नहीं हो सकती। फल की दृष्टि से साधकों का साध्य के अनुरूप साधन और साधन के अनुरूप ही साध्य होना चाहिए।

१४७. पारम्पर्यं सदृशमपि तद् ह्यन्यथातिप्रसङ्गः,
साधे हेतावपि जिगमिषा पापिनी किं प्रवृत्त्या ।
शास्त्रै रुद्धे कथमपि कदा काप्यपेक्षा न कार्या,
तत्र स्वैर्यं पतनमभितश्चार्हदाशातनापि ॥

पारंपर्य की अपेक्षा से भी साध्य और साधन एक दूसरे के सदृश होने चाहिए। विपरीत होने पर अति-प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। सावद्य हेतु का प्रयोग चाहना ही पाप है तो फिर सावद्य प्रवृत्ति की तो बात ही क्या? शास्त्रों के विरुद्ध कभी भी, किसी तथ्य की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उससे स्वयं का चारों ओर से पतन होता है तथा अर्हद् की आशातना भी होती है। (दीक्षा का पारंपर्य कारण है विवाह और संतानोत्पत्ति। यह किसी भी अवस्था में निरवद्य नहीं मानी जा सकती। पारंपर्य कारणों—निमित्त कारणों की लंबी शृंखला चलती है। मूल कारण एक होता है और दीक्षा में वह कारण है—चारित्र मोहनीय का क्षयोपशमभाव।)

१४८. आत्मानन्दाध्यवसिति[1]मृते सर्वभावा हि मोह-
स्तत्पूर्वा या कृतिरपि सदाऽऽदीनवोद्भाविनी[2] सा।
या दोषाविष्करणकरणी सा नितान्तं कदापि,
नो स्वीकार्या कथमपि जनैः किं पुनः संयतानाम्॥

सर्वज्ञ की आज्ञा के बाहिर प्रवृत्त होने वाले सभी अध्यवसाय मोहमय हैं। उन अध्यवसायों के आधार पर की जाने वाली प्रवृत्ति भी दोषपूर्ण है, सावद्य है। जो दोषपूर्ण है, सावद्य है, उसको (निरवद्य मानकर) स्वीकार कभी नहीं करना चाहिए, फिर संयमी व्यक्तियों के लिए तो वे सर्वथा त्याज्य ही हैं।

१४९. रागो ह्यर्थादविरतिवतां सातमात्रानुयोगे-
ऽनाचीर्णस्तत्कथमिव तदा रक्षणे पुण्यधर्मः।
सावद्यानां स्तवनमवनं तत् त्रिकालांहसां हि,
भागीकर्तुं प्रभवतितरां शेमुषीभिश्च शोच्यम्॥

असंयत जीवों के शारीरिक सुख-साता के प्रश्न को अनाचार एवं राग माना है तो फिर उनके रक्षण में पुण्यधर्म कैसे होगा? सावद्य कार्यों की प्रशंसा और उनका आसेवन उनसे संबंधित त्रिकालवर्ती पाप का ही भागी बनाने वाला होता है। आर्य! यह बुद्धि से सोचने-विचारने जैसा हो।

१५०. एणान् हिंस्रं सुपथि यदि सम्पृच्छमाणं च जानन्,
जानामीति प्रतिवचनतो मारयेद् वा न वाऽपि।
घातस्पृष्टस्तदपि वदिता नूनमाप्तोक्तिमानै-
रेवं बोध्या निखिलविषया निर्विशेषात् सुविज्ञैः॥

---

१. आत्मानन्दाध्यवसितिः—सर्वज्ञ आज्ञा।
२. आदीनवः—दोष, पाप (दोषे त्वादीनवास्रवौ—अभि० ६।११)।

व्यक्ति ने मार्ग में जाते मृगों को देखा। शिकारी ने पूछा—मृग किस ओर गए हैं ? वह जानता हुआ भी यह न कहे—मैं जानता हूं। वह शिकारी आगे चलकर उन मृगों को मारे या न मारे, किन्तु 'जानता हूं' ऐसा कहने वाला उनकी घात के पाप का भागी हो जाता है। यह बात आप्तोक्ति से प्रमाणित है। इसी प्रकार सभी विषय, बिना किसी अपवाद के, सुविज्ञों को समझ लेने चाहिए।

१५१. एकस्यर्षेर्य इह वधकोऽन्तकानां स हन्ता,
पूर्वं सोऽभूत् त्रिविधविधिना सर्वसत्त्वाभिरक्षी।
आसीत् सोऽद्याऽविरतिसहितः कृत्स्नजीवाभिघाती,
तादृक्षस्य प्रविरचयिता साधुसंहारकोऽतः॥

एक मुनि की हत्या करने वाला अनन्त जीवों की हत्या करने वाला होता है, क्योंकि मुनि तीन करण और तीन योग से सभी प्राणियों के घात से विरत होता है। और मारे जाने के पश्चात् वह अविरत का सेवन करने वाला तथा समस्त जीवों का घातक हो जाता है। अतः साधु को मारने वाला परंपरकारण के आधार पर अनन्त जीवों का संहर्ता हो जाता है।

१५२. सावद्यस्त्यागः कथमपि न तत्प्रोत्तरं सूत्रकृद्भ्य-
स्तत्रोल्लेखो जिनभगवतां ये प्रशंसन्ति दानम्।
ते हीच्छन्ति स्फुटतरवधं प्राणिनां तन्निषेधाद्,
वृत्तिच्छेदं त्वविबुधनराः कुर्वते वर्त्तमाने॥

कहते हैं कि दान सावद्य होता ही नहीं तो फिर सूत्रकृतांग सूत्र में जिनेश्वरदेव का ऐसा उल्लेख क्यों है कि जो दान की प्रशंसा करते हैं, वे स्पष्ट रूप से प्राणियों के घात की वांछा करते हैं और जो दान देते समय वर्तमान में उस दान का निषेध करते हैं तो वे अबुधजन याचकों की वृत्ति—आजीविका का विच्छेद करते हैं। (क्या इस कथन की ध्वनि सावद्य दान की नहीं है ?)

१५३. तस्माच्छास्त्राभ्यसनकुशलाः साम्प्रतं पृच्छकानां,
नो भाषन्ते द्विविधमपि तच्चास्ति नास्तीति पुण्यम्।
निर्वाणं ते विधुतरजसः प्राप्नुवन्तीतिमानात्,
सावद्यं तत् तदिव करुणा बोधनीया विवेकैः॥

इसलिए, जो शास्त्रों के कुशल अध्येता हैं वे असंयती को दिए जाने वाले दान के समय ऐसा पूछने पर कि इसमें पुण्य है या नहीं— मुनि दोनों बातें नहीं कहते। वे ही मुनि कर्मक्षय कर निर्वाण को प्राप्त होते हैं—ऐसा शास्त्रों का कथन है। असंयती-दान सावद्य है, इसी प्रकार अनुकंपा के विषय में भी विवेकी व्यक्तियों को जान लेना चाहिए।

१५४. यस्मिन् पुण्यं सदऽसदिति सम्भाषितुं कल्पते नो,
यद् वा पापं प्रथमकरणे यत्र कुत्रापि केषाम्।
तल्लिप्सून् किं ज्ञपयितुमृषिर्वा गृही पौषधादौ,
शक्यः स्यात्तत्परिचयपरैर्लेखपत्रेङ्गिताद्यैः॥

जिस कार्य में पुण्य या पाप होता है, ऐसा वर्तमान में प्रथम करण से नहीं कहना है तो इस प्रश्न के समाधान की जिज्ञासा रखने वाले को क्या साधु या पौषध आदि में स्थित श्रावक मुंह से न बोलकर, लिखित पत्र के द्वारा अथवा इंगित से वर्तमान में वैसा ज्ञान करा सकता है?

१५५. आर्त्तध्यानाऽऽद्यऽपहृतिकृते संयताऽसंयतानां,
सानुक्रोशाद्वितरणपरित्राणयोश्चेच्च पुण्यम्।
तन्मद्याद्यैरपि किमु भवेद् भावहेत्वोः समाने,
वाच्यं वाच्यं विपुलमतिभिः पक्षपातं विहाय॥

यदि आर्त्तध्यान आदि के अपनयन के लिए संयतासंयती (श्रावक) को पूर्ण अनुकंपाभाव से दिए जाने वाले दान तथा परित्राण में पुण्य होता है तो क्या मद्य आदि के अभाव में व्यक्ति के होने वाले आर्त्तध्यान के अपनयन में भावना पूर्वक मद्य आदि देने में भी पुण्य होगा? भावना का हेतु दोनों स्थितियों में समान है। आप बुद्धि के धनी हैं। आप पक्षपात से शून्य होकर हमें बताएं।

१५६. पुण्योक्तेश्चेत्तदभिमननं चिन्त्यमित्थं च तद्धि,
पात्रे न्यस्ते वधमुखहरः साधुरेवास्ति पात्रम्।
साधोर्योग्याखिलकथनतः स्वर्णपुण्याद्यनुक्ते-
स्तत्राऽभे दोयदि तनुनमस्कारकादौ क्व भेदः॥

यदि आप कहेंगे कि पात्र को देने से पुण्य है, यह हमारा अभिमत है। यह भी चिन्तनीय है, क्योंकि पात्र तो वह हो जो हिंसा आदि से विरत है और वह साधु ही पात्र हो सकता है, इतर गृहस्थ नहीं। आगमों में साधु के लिए योग्य नौ वस्तुओं को ही पुण्य के रूप में गिनाया है, स्वर्ण आदि को नहीं। यदि कोई यह कहे कि यहां साधु और गृहस्थ का कोई भेद निरूपित नहीं है तो फिर प्रतिप्रश्न होगा कि नौ पुण्यो में एक है नमस्कार पुण्य। यहां भी भेद निरूपित नहीं है। तो क्या हर किसी को नमस्कार करने से पुण्य होगा ?

१५७. घोराऽघं किञ्चिदपि मनसाऽशुद्धदाने मुनिभ्य-
स्तत्वन्येभ्यो वितरणतया स्यात् कथं पुण्यपुञ्जः।
सद्भावैश्चेन्नहि नहि तथा दातुरादातुरित्थं,
देयादेये अविरतितमोवृत्तिवर्द्धापके च ॥

यदि मुनि को जानबूझकर अशुद्ध आहार देने से घोर पाप का बंध होता है तो फिर गृहस्थों को वह दान देने से पुण्य कैसे होगा ? यदि कहा जाए कि सद्भाव से देने के कारण पुण्य होता है तो यह भी संगत नहीं है क्योंकि उससे देने वाले तथा ग्रहण करने वाले—दोनों के पाप और अविरति की ही वृद्धि होगी।

१५८. तादृग्दानग्रहणमपि वा स्पष्टसावद्यमेव,
प्रत्याख्यानात् खलु समतया तस्य सामायिकादौ।
तत्सम्बन्ध्याशयपरिहृतान्नाऽपि शुद्धाश्च भावा,
नो चेत्तत्राप्यधिकमधिकं कारणीयं च कार्यम् ॥

वैसा दान देना और ग्रहण करना—दोनों ही स्पष्ट रूप से सावद्य हैं। सामायिक आदि अनुष्ठानों में उसका सामान्यतया प्रत्याख्यान किया जाता है और उस संबंधी आशय का भी त्याग होता है क्योंकि वैसा दान देना और लेना शुद्ध भाव नहीं हैं। यदि ऐसा नहीं है अर्थात् दोनों शुद्ध ही हैं तो फिर सामायिक आदि में उनको अधिक से अधिक करना चाहिए और दूसरों से करवाना भी चाहिए।

१५९. आर्हन्त्याज्ञाविरहितजगत्कृत्स्नकार्याणि तान्य-
ऽनासक्त्याद्यैरपि विदधतां तेषु तेषां न धर्मः।
तैः सावद्यावनदनवत् किन्तु मन्दाशयत्वात्,
तीव्राऽतीव्राध्यवसितिवशः कर्मबन्धो हि मन्दः ॥

संसार के जितने भी कार्य अर्हत् की आज्ञा से रहित हैं, उनको यदि अनासक्त आदि भावों से संपादित किया जाए फिर भी उन कार्यों में वीतराग देव का धर्म नहीं हो सकता। इसी प्रकार सावद्य अनुकंपा और सावद्य दान में भी धर्म नहीं हो सकता। हां, इतना अन्तर अवश्य हो सकता है कि तीव्र और मन्द अध्यवसायों के आधार पर कर्मबंध तीव्र या मंद हो सकता है।

१६०. योद्धारो ये समररसिका योद्धुमुत्साहयुक्ताः,
प्रोज्झ्य प्राणावनिपरवशागेहमोहानुसक्तीः।
युध्यन्ते ते निहितमनसा धूतकार्यान्तराश्च,
तत्तत्यागे भवति सुकृतं किं धिया लोचनीयम् ॥

युद्ध रसिक योद्धा जो युद्ध में पूर्ण उत्साह से लडते हैं, वे प्राणों का, तथा राज्य, स्त्री एवं घर का मोह छोडकर, दूसरे सभी कार्यों से मन को मोडकर तल्लीनता से युद्ध लडते हैं। तो क्या प्राणों आदि की ममता छोडने से धर्म होता है?—यह विमर्शणीय है।

१६१. रागद्वेषाव्रतसममतामोहमाया[1] विना नो,
यत् सावद्यं भवति न कदाप्यैहिकं कार्यजातम्।
मोहाऽमोहप्रभृतियुगपत् स्यान्नचैकत्र कार्ये,
धर्माऽधर्मौ तत इह कथं ह्येककार्ये भवेताम् ॥

संसार में जितने कार्य हैं वे राग, द्वेष, अव्रत, ममता, मोह, माया आदि के बिना नहीं होते। जो राग आदि से संवलित होते हैं, वे सावद्य ही होते हैं। एक ही कार्य में मोह और अमोह—दोनों नहीं हो सकते। तो फिर एक ही कार्य में धर्म और अधर्म—दोनों कैसे हो सकते हैं?

१६२. दुष्टैर्भावैर्भवति न पृथक् दुष्टकार्यं कदाचि-
च्छुद्धैर्भावैस्त्रिजगति विना शुद्धकार्यं भवेन्न।
आज्ञाबाह्यं जिनभगवतां भावकार्याण्यऽशुद्ध-
माज्ञायुक्तान्यपि तनुमतां भावकार्याणि शुद्धम् ॥

कभी अशुद्ध भावों के बिना अशुद्ध कार्य नहीं होता और शुद्ध भावों के बिना शुद्ध कार्य नहीं होता। अर्हम् की आज्ञा के बाहर जितने भाव और कार्य हैं, वे अशुद्ध होते हैं और वीतराग की आज्ञा युक्त भाव और कार्य, शुद्ध होते हैं।

---

१. द्वितीयाबहुवचनम्।

१६३. वर्णी वर्णाद् भवति न पृथक् वर्णिनो वर्णकश्च,
कार्यं भावाद्विरहि न तथा कार्यतो भावनं च ।
तद् द्वैविध्यं फलमिह कथं विद्यते चैककार्याद्,
भिन्नं भिन्नं भवनकृतयोरायुषोर्बन्धनं किम् ॥

रूपी से रूप और रूप से रूपी कभी पृथक् नहीं हो सकते, वैसे ही भाव—परिणाम से कार्य और कार्य से परिणाम पृथक् नहीं हो सकते । तो फिर एक ही कार्य से दो प्रकार के फल कैसे हो सकते हैं ? एक ही कार्य में परिणाम और प्रवृत्ति से क्या दो प्रकार के आयुष्य का बंध होगा ? (शुभ परिणाम से देव आयुष्य तथा अशुभ परिणाम से नरकायुष्य) ।

१६४. चिच्चाञ्चल्यात् सुकृतिविषयादेति पापे च पापाद्,
धर्मे किन्तु प्रमुखविधिना प्रोच्यते दुष्ठु सुष्ठु ।
नो चेत् सर्वेऽनियतविधयः स्युर्न शक्येत वक्तुं,
कार्यं सार्घं निरघमथवा पौषधापौषधादि ॥

चित्त की चंचलता के कारण परिणाम कभी धर्म से पाप की ओर तथा कभी पाप से धर्म की ओर आते-जाते रहते हैं । किन्तु प्रवृत्ति की प्रमुख विधि के आधार पर ही हम उसको सावद्य या निरवद्य कहते हैं । अन्यथा सारी विधियां अनियत हो जाएंगी । फिर हम किसी प्रवृत्ति को सावद्य या निरवद्य नहीं कह सकेंगे । फिर पौषध आदि अनुष्ठानों को एकान्ततः निरवद्य या अपौषध आदि अनुष्ठानों को सावद्य नहीं कह सकेंगे ।

१६५. यावन्ति श्रीजिनवरवचोबाह्यकार्याणि तानि,
संवर्त्तन्ते कथमपि न सद्भावनापूर्वकाणि ।
तद्वच्छ्रीमज्जिनवरवचोमध्यकार्याणि तानि ।
संवर्त्तन्ते कथमपि न चानिष्टभावादिमानि ॥

वीतराग की आज्ञा के बाह्य जितने भी कार्य हैं वे निरवद्य भावना-पूर्वक हो ही नहीं सकते तथा श्री जिनेश्वरदेव की आज्ञा में जितने कार्य हैं वे सावद्य भावनापूर्वक नहीं हो सकते ।

१६६. इच्छामात्रादपि नियमतो यस्य पापप्रसङ्ग-
स्तस्मै चेष्टा सुकृतफलदा स्यात् कथं क्वापि कापि ।
तत् किं श्रेयस्त्रिभुवनविदां शासनाद् बाह्यकार्य-
मालोच्योऽयं गहनविषयो विक्रमैः सद्विवेकैः ॥

जिसकी इच्छामात्र से ही निश्चित रूप से पाप का बंध होता है तो फिर उसके लिए की जाने वाली प्रवृत्ति से धर्म कब कैसे होगा ? क्या जिनेश्वरदेव की आज्ञा के बाहिर की प्रवृत्ति में धर्म होता है ? आर्य ! आप इस गहन विषय का विवेकपूर्वक गहराई से विमर्श करें।

१६७. यस्मात् साधोर्यदऽनुमतितः साधुताभङ्गभङ्ग-
स्तस्माद् धर्माभ्युदयजननं नो हि केषामपि स्यात् ।
यस्माच्छ्रेयः खलु निलयिनामर्हतां सम्मतं वा,
तस्मात् साधोरपि च सुकृतं निर्विकल्पं सकल्पम् ॥

जिसकी अनुमोदना करने मात्र से साधुता का भंग होता है, वह कार्य किसी के लिए भी धर्म का अभ्युदय करने वाला नहीं हो सकता। गृहस्थ के जिस अनुष्ठान में धर्म है, भगवद् आज्ञा है, वह अनुष्ठान साधुओं के लिए भी निश्चित ही धर्म रूप है तथा कल्प्य है।

१६८. यद् यत्कार्यं समग्रमुनिकृते कल्पते नैव किञ्चित्,
तत्तत्कार्ये स्फुटतरमघं केनचित् सृज्यमाने ।
तत्तत्कृत्यानुगमनपराः सुन्दरा नैव भावा,
नो वैषम्यं प्रभवति कदा भावनाकार्ययोश्च ॥

जो कार्य समस्त मुनियों के लिए अकल्प्य हैं, अविहित हैं, वे कार्य चाहे कोई भी करे, उनसे स्पष्ट रूप से पाप कर्म का बंध होता है। उन कार्यों की अनुमोदना करने वाले परिणाम भी अच्छे नहीं हो सकते, निरवद्य नहीं हो सकते। भावना और कार्य की फलश्रुति विषम नहीं हो सकती।

१६९. यो लुण्टाकोऽपरजनधनं लुण्टयित्वा प्रसह्य,
भूयो भूयः प्रणयति दयां सा दया किं दया स्यात् ।
नो चेत्तेषां तदननुमतेः प्राणिनां प्राणघातात्,
कस्माद् भव्याऽभयभगवती सम्भवेत् सा सभद्रा ॥

जो लुटेरा दूसरे के धन को जबरदस्ती से लूटकर, बार-बार दया का पालन करता है (दीन-दुःखियों को धन बांटता है) तो क्या यह दया दया कहलायेगी ? यदि इसे दया नहीं कहा जा सकता तो फिर प्राणियों की अनुमति के बिना उनकी घात करना पंचेन्द्रिय की दया पालने रूप निरवद्य दया कैसे हो सकती है ?

१७०. तादृक् पुण्ये मुखरितमुखा मौनिनो वा भवन्तो-
ध्यक्षाध्यक्षेऽरितमभितः षण्णिकाया वराकाः ।
भेदच्छेदव्यथनमथनक्लेशतोपद्रवाणि,
ञ्जंगम्यन्ते गलितशरणाः कम्पते हृत् कथं न ॥

सावद्य पुण्य करने का कथन करना, मौन रहना, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से बेचारे अशरणभूत छहकाय के जीवों का भेदन-छेदन करना है, उन्हें व्यथित और मथित करना है, उन्हें क्लेश पहुंचाना है, उनको उपद्रुत करना है। ऐसा करते हुए हृदय प्रकंपित क्यों नहीं होता ?

१७१. स्याद्वादोऽपि ज्ञपयितुमलं वस्तुशुद्धस्वरूपं,
सन्निर्णायी नहि नहि परन्त्वन्तरालावलम्बी ।
सापेक्षत्वं समुचिततया यत्र पाठो द्विधा वा,
स्वस्वेच्छातो भवति यदि तत् तद्धि सिद्धान्तलोपः ॥

(कोई यहां स्याद्वाद का सहारा लेता है तो वह अयुक्त है।) स्याद्वाद का सिद्धान्त वस्तु के शुद्ध स्वरूप का अवबोधक होता है। वह सत् का ही निर्णायक होता है। वह त्रिशंकु की भांति अधर में नहीं लटकाता, पर निर्णय तक पहुंचाता है। जहां एक ही तथ्य के लिए आगमपाठ दो प्रकार के हों, वहां सापेक्षता यथार्थ रूप में घटित हो सकती है, किन्तु अपनी इच्छा के अनुसार अपेक्षाएं लगाना सिद्धान्त का लोप करना ही है।

१७२. भीत्वा लोकैः पतितसमयच्छात्रवज्जायमाना,
जैनं तत्त्वं प्रकटयितुमुत्सृष्टसत्त्वा नितान्तम् ।
स्वेषां श्रीमज्जिनभगवतां रञ्जनं भञ्जयित्वा-
ऽद्य प्रोत्तीर्णा जगति जनतारञ्जने केवलं हा ! ॥

आज के मुनि ह्रास की ओर अग्रसर समय के छात्र की भांति होते हुए इतने सत्त्वहीन हो गए हैं कि वे लोगों से नितांत डरते हुए जैन तत्त्व विचारणा को प्रगट नहीं कर सकते। वे अपने इष्टदेव की भक्ति को छोडकर केवल जनता के रंजन में लगे हुए हैं।

१७३. व्यक्तुं यं सङ्कुचति वदनं किं स सिद्धान्तसारः,
किं मर्त्यः सोऽतिक्रतसमयाल्लज्जते लोकलिप्सुः ।
का सा लिप्सा समुचितपथः पातुका घातुका वा,
कः सम्पातः किमनुमरणं नो यदुत्थानमेव ॥

वह कैसा सिद्धान्तसार, जिसकी अभिव्यक्ति करने में बदन संकुचित होता हो ! वह कैसा मनुष्य, जो लोगों को अपना बनाए रखने के लिए सत्य-सिद्धान्त के निरूपण में भी लज्जा का अनुभव करता है ! वह कैसी लिप्सा, जो पथच्युत करती है और घातक होती है। वह कैसा झंपापात और वह कैसा मरण जो उत्थान का हेतु न बने !

१७४. शुद्धां शैलीमतिशयऋतां शाम्भवीं सन्निरस्य,
दृष्ट्वा वक्त्रं तदिव तिलकं कर्तुकामा इदानीम् ।
भीतिर्नृणां वृजिनवृजिनानां न मुक्तात्मनां च,
सञ्जाताः किं खलु परवशाः स्वर्गसद्मध्वजाभाः ॥

हम वीतराग की अत्यंत शुद्ध और सत्य शैली को छोडकर उसका निरसन कर 'मुंह देखकर तिलक करने की' विधि को अपना रहे हैं। कुटिल कर्मों के बंध और परमात्मा का हमें भय नहीं है। हमें भय है लोगों का कि वे हमसे विलग न हो जाएं ? क्या हम इतने परवश और मंदिर पर फहराने वाली ध्वजा की भांति अस्थिर हो गए हैं ?

१७५. शुद्धाचाराचरणकरणाकीर्णसंकीर्णकीर्णै-
र्वर्णविर्णादिकबहुबहिर्भावसाम्यैः फलं किम् ।
जात्येकत्वात् सुरभिपयसो भावतोऽर्कस्य दुग्ध-
पानाद् जीवेत् किमिह मनुजो दुर्विशालत्वबुद्धिः ॥

केवल बाह्य वेशभूषा तथा अन्य विविध समानताएं होने पर भी उस साधुता का फल क्या होगा जो शुद्ध आचार तथा चरण-करण से संकीर्ण अर्थात् शून्य है ? साधुवेश मात्र से ही साधु नहीं बन जाता। गाय और आक के दूध में जाति और नाम की समानता है। फिर भी क्या आक का दूध पीकर कोई मनुष्य जीवित रह सकता है ? बाह्य समानता को महत्त्व देना दुर्विशालता की बुद्धि मात्र कही जा सकती है।

१७६. खण्डेलासूगुडखलसमीकारवद् साम्यमिच्छेत्
यत् प्रभ्रष्टैः सह खलु सतां स्यात्कथं युक्तियुक्तम् ।
यैश्च स्वीयापणमणिगणोल्लुण्टनालुण्टनत्व-
मौदार्यैः किं बहुहितहरैस्तादृशैर्नामरूपैः ॥

खांड और धूल तथा गुड और खली के समन्वय की भांति शुद्ध आचार का पालन करने वाले साधुओं के साथ भ्रष्टाचारी मुनियों का साम्य कैसे युक्तियुक्त हो सकता है ? इसे उदारता माना जाए तो यह वैसी ही उदारता है जैसे यदि कोई जवेरी अपनी दूकान के मणियों को लुटा कर अपनी उदारता दिखाता है। इसी प्रकार अनेकों के हित का हरण करने वाली केवल नामरूपधारी साधुओं के समन्वय की उदारता से क्या ?

१७७. गत्याऽऽगत्या न च बहुनृणां स्याद् वरो मान्यताभि-
रत्यासत्त्या तदऽपरतया नाऽशुभः स्याच्च कोपि ।
एकोपि स्यात् खलु वरतरस्तत्त्वतस्तथ्यताभि-
रेकश्चन्द्रः सकलभुवनं द्योतयेत् किं घनैर्भैः[1] ॥

लोगों के अत्यधिक गमनागमन से ही कोई संघ अच्छा नहीं होता और गमनागमन न होने से कोई बुरा नहीं हो जाता। तत्त्वदृष्टि से सत्य-युक्त एक भी श्रेष्ठ होता है और सत्यशून्य अनेक भी अच्छे नहीं होते। आकाश में चमकने वाला अकेला चांद ही समस्त भूमंडल को द्योतित कर देता है, असंख्य तारों से क्या !

१७८. अर्हच्छुद्धस्वगुरुसुपथे वर्त्तते तावदेव,
गण्यो मान्यः सुकृतिकृतिभिः सेवनीयो गुरुश्च ।
स्वच्छन्दत्वात्स्वयमपि गुरोरर्हतां त्यक्तमार्गः,
सोऽभिष्टुत्यः कृतगुरुरपि स्वात्मकाल्याणिकैः किम् ॥

(आचार्य जयमलजी ने कहा—भिक्षो ! गुरु तो गुरु ही रहेंगे। उनके प्रति अश्रद्धा उचित नहीं है।) तब भिक्षु बोले—धार्मिक एवं विवेकी पुरुषों द्वारा गुरु तब तक ही गणनीय हैं, माननीय और सेवनीय हैं जब तक वे अर्हत् मार्ग पर तथा सद्गुरुओं के पथ पर चलते हों। परंतु जो गुरु स्वच्छंदता से अर्हत् और सुगुरु के पथ का त्याग कर देते हैं, वे पूर्व में गुरु रूप में स्वीकृत होने पर भी, क्या आत्मकल्याण के लिप्सु मुनियों द्वारा पूजनीय हो सकते है ?

१७९. नो मन्येरन् सुभगसमयान् वीतरागप्रणीतान्,
नो मन्येरन् क्रमगुरुवरस्वीकृतान् सद्विचारान् ।
नो मन्येरन् स्वकृतनियमानप्यहो ये हि तेषां,
के विश्वासं विदधति पुनर्मन्वते केऽभिलापान् ॥

---

१. भम्—तारा (नक्षत्रं·······भमुडु ग्रहः—अभि० २।२१)

आर्य ! जो गुरु वीतराग द्वारा प्ररूपित आगमिक नियमों को नहीं मानते, जो आचार्य परंपरा में होने वाले आचार्यों के सद्‌विचारों को नहीं मानते और जो न अपने स्वीकृत नियमों का ही सम्यक् पालन करते हैं तो कौन ऐसे गुरुओं पर विश्वास रखेगा और कौन उनकी वाणी को मानेगा ?

१८०. शैथिल्याप्तं न किमवहरन्‌च्छेलकार्यं च सन्तः,
प्रोज्झाञ्चक्रे किमु न विदितैः सद्‌भिरिंगालमर्दी ।
एवं तादृग् मिलति विविधोदाहृतिर्यत्र तत्रा-
ऽस्माकं किं तच्छिथिलचरणाचार्यहारे विचारः ॥

आर्य ! आप सोचें, शिथिलता को प्राप्त शेलक राजऋषि को उनके शिष्यों ने छोड किया। इसी प्रकार इंगालमर्दन आचार्य को उनके सुशिष्यों ने छोड दिया। इस प्रकार के अनेक उदाहरण आगमों में यत्र-तत्र मिलते हैं। तो फिर हमें शिथिल आचार्य को छोडने में कैसा विचार और कैसी आपत्ति ?

१८१. दोषः स्वल्पोऽपि च सुमुनिना लोकवृत्त्याऽऽदृतोऽयं,
निःसन्देहं सुदृढमचिरान्नाशयेत् सर्वकार्यम् ।
राजीमात्रात् स्फुटति न किमम्भोधिकल्पस्तडाग ?
एकाद् वाक्यात् सुकमलविभाचार्यको नाऽब्रुडत् किम् ?॥

लोकवृत्ति से मुनि द्वारा स्वीकृत छोटा-सा दोष भी निश्चित रूप से सुदृढ़ कार्य का भी शीघ्र ही सर्वनाश कर डालता है। समुद्रतुल्य विशाल तालाब भी क्या एक छोटी-सी दरार से टूट नहीं जाता ? अर्हत् वाणी से विपरीत एक छोटी-सी प्ररूपणा ने क्या कमलप्रभ आचार्य को संसार सागर में नहीं डुबो डाला ?

१८२. दृष्टोपोद्यांस्तदितरबहून् यत्समुद्‌घाटयन्तो,
नैरंकुश्यादुपकृतिमिषात् स्वीयगेहं दहानाः ।
वर्त्तन्ते ते तदपरपदीयं निशीथं सवृत्ति,
नो मन्येरँस्तदिह किमु वा छेदसूत्रादिभाष्यम् ॥

आगमों में बतलाए गए अपवादों को देखकर, उनसे भिन्न नाना-प्रकार के अपवाद, अपनी निरंकुशबुद्धि और उपकार के बहाने, बना लेते हैं। क्या वे अपने घर को जला कर होली नहीं मना रहे हैं ? ऐसा करने वाले सवृत्ति निशीथसूत्र तथा छेदसूत्रों के भाष्य को क्यों नहीं स्वीकार करते ?

१८३. एकाकारः सुकृतविलयो दुःषमान्ते च भावी,
सीमाभंगो भयदकलहोऽखाद्यपेयोपचारः।
मांसाहारः स्वमृतकनृणां भाविनी दुर्व्यवस्था,
तत् किं कार्यं निखिलमधुनैवाऽऽदृतं श्रेयसे वा ॥

इस दुःषमा (कलियुग) के अन्त में सभी एकाकार हो जायेंगे। धर्म का विलय, मर्यादा का भंग, भयानक कलह, अखाद्य-अपेय का प्रचार, मांसाहार तथा अपने स्वबंधुओं के कलेवर के मांस का भक्षण तथा दुर्व्यवस्था होगी। यह अन्त में होने वाला है, ऐसा सोचकर कोई उन कार्यों को आज पहले ही अपना लेता है तो क्या यह श्रेयस् के लिए होगा ?

१८४. उन्मूल्यन्ते यमनियमाश्छिद्यते शास्त्रवार्त्ता,
प्रोत्थाप्यन्ते शुभसमितयोऽनीतयः स्थाप्यमानाः।
सन्मान्यन्ते पिशुनचटवो धिक्क्रियन्ते सदर्था,
दुःसंसर्गस्तरुणतरुणो हीयते सत्प्रसंगः ॥

आर्य ! आज यम और नियमों का उन्मूलन हो रहा है। शास्त्र की बातों का उच्छेद किया जा रहा है। शुभ समितियों का उत्थापन और अनीतियों का संस्थापन हो रहा है। पिशुन और चाटुकार व्यक्ति सम्मानित हो रहे हैं और सज्जन पुरुषों का तिरस्कार हो रहा है। दुर्जनों का संसर्ग तरुण हो रहा है—बढ रहा है और सत्प्रसंग क्षीण हो रहा है।

१८५. यत्रार्हद्वाक्पठनमननश्रावणोद्वाचनानि,
तत्र व्यर्थानुचितविकथापापपाठापपाठः।
ध्यानस्वाध्याययमसमयः क्वास्ति च स्वात्मचिन्ता,
भिन्नैर्भिन्नैर्बहुपरिचयासक्तिसम्पर्कदोषैः ॥

आर्य ! जहां पहले अर्हत् वाणी का पठन, मनन, श्रवण और वाचन होता था, वहां आज व्यर्थ और अनुचित विकथा का पापात्मक पाठ होता है। मुनियों को ध्यान, स्वाध्याय, यम-नियम तथा आत्मचिन्तन के लिए कहां समय है ! क्योंकि वे भिन्न-भिन्न प्रकार के परिचय, आसक्ति एवं सम्पर्क दोषों में ही लगे रहते हैं।

१८६. सा क्व श्रद्धाऽभयभगवती क्वास्ति वक्तव्यता सा,
क्वाचारः सोऽशिथिलितपरो निस्पृहत्वं च तत् क्व।
संयोगेभ्यो निजपरनृणां विप्रमुक्तिः क्व सा च,
क्वैक्यं शुद्धं सुचरितपुरः संयमाराधनं तत् ॥

हे आर्य ! कहां है वह ज्ञानपूर्विका निर्भीक श्रद्धा ! कहां है वह अर्हत् वाणी युक्त वक्तव्यता ! कहां है वह शिथिलता से अस्पृष्ट आचार ! कहां है वह निस्पृहता ! कहां है स्व-पर संयोग से मुक्ति ! कहां है आचार-मूलक ऐक्य ! और कहां है संयम की आराधना !

१८७. पश्यन्तोऽधपतनमभितो यद्विलोमोपपश्या,
उद्धर्त्तारः कथमिव वयं शासनेभ्यो भवामः ।
आवश्यक्यं तनुतनुतमं तन्यतां प्रोच्यतेऽन्यः,
किन्त्वस्माकं विपुलविपुलं व्याजतो वर्द्धमानम् ॥

हे आर्य ! जहां चारों ओर से अधःपतन होते हुए भी अधःपतन को ही उत्थान समझा जाए तो ऐसे विपरीतदर्शी व्यक्तियों के शासन से हमें उद्धार की क्या आशा ! हे आर्य ! औरों को भोगोपभोग सामग्री की आवश्यकता घटाने का उपदेश देते हुए भी हम अपनी आवश्यकताओं को दिन-प्रतिदिन किसी न किसी बहाने से बढाते रहते हैं, क्या यह संगत है ?

१८८. एवं सत्याः सकलविषया बोधितास्तेन तस्मै,
तस्य स्वान्तेप्यविकलतया सन्निविष्टा विशिष्टम् ।
सिद्धान्तानां समुचिततया सत्यतामैक्ष्य भिक्षो-
रन्तर्वृत्त्या स्वमनसि महासत्प्रभावान्वितोऽभूत् ॥

इस प्रकार मुनि भिक्षु ने आचार्य जयमलजी को सभी विषय यथार्थ रूप में बताए । जयमलजी के हृदय में विषयों की सचाई अविकल रूप से जम गई । भिक्षु स्वामी की सैद्धान्तिक गहराई को देखकर आचार्य जयमलजी अन्तर्वृत्ति से मन ही मन अत्यधिक प्रभावित हुए ।

१८९. तत्साहाय्यं प्रसृमरधिया दातुमुत्कण्ठितः सन्,
निर्गन्तुं स प्रसित इव तत्पृष्ठ एवाऽजनिष्ट ।
तद्वृत्तान्ताद् रघुगुरुवरो दीर्घदुःखोपगस्तद्,
व्युद्ग्राहार्थं वितथवितथाऽऽनायतः प्रायतिष्ट ॥

जयमलजी भिक्षु स्वामी को सहयोग देने के लिए उदारतापूर्ण बुद्धि से उत्कंठित होते हुए उनके पीछे संघ से मुक्त होने के लिए तैयार हो गए । यह वृत्तान्त सुनकर आचार्य रघुनाथजी अत्यंत दुःखी हुए और वे जयमलजी को बहकाने के लिए झूठे जाल बिछाने लगे ।

१९०. एभिः साकं यदि रभसितः सम्मिलिष्यन् भवांस्तद्,
धर्त्ताविश्यं सुचिररुचिरं स्वप्रभुत्वैर्महत्वम् ।
यौष्माकीणः सहमुनिगणस्तस्य भिक्षोश्च भावी,
कृत्स्नं कार्यं सहजसहजं सन्निविष्टं हि तस्य ।।

रघुनाथजी ने जयमलजी से कहा—यदि आप जल्दबाजी से इनके साथ मिल जायेंगे तो ये अपने प्रभुत्व से आपके महत्त्व को नष्ट कर देंगे। आपके साथ वाले मुनि भिक्षु के बन जायेंगे और इस प्रकार भीखण का सारा कार्य सहज रूप से संसिद्ध हो जाएगा।

१९१. व्यक्तित्वं नो कथमपि च ते स्थास्यति विष्टपेऽस्मिन्,
यावज्जीवं परवशगतः काकनाशं प्रणंष्टा ।
पृष्टे लग्नाः प्रमुदितमनस्त्यक्तगेहा विनेया,
रोदिष्यन्त्याश्रयविरहिता नष्टनीडाण्डजा वा ।।

जयमलजी ! ऐसा करने से आपका अस्तितत्व संसार में नहीं रह पाएगा। आपको यावज्जीवन भीखण की पराधीनता में रहकर दुःखपूर्ण जीवन जीना होगा। अपने घर-परिवार को प्रसन्न मन से छोडकर आपके पीछे आए हुए ये शिष्य आश्रयविहीन होकर वैसे ही अश्रुपात करेंगे, दुःख पाएंगे जैसे पक्षी के शिशु शावक घोसले के नष्ट होने पर दुःख पाते हैं।

१९२. नेयं नेयं वरवरतरांस्ते विनेयान् परांश्च,
हेयं हेयं स्वयमयमहो बोभविष्यद् विशिष्टः ।
श्रेष्ठीपुत्रोद्वहनसमयेऽतीवनिर्बन्धबन्धात्,
प्रीत्याऽऽनीताद् यवनयतिसद्द्वैतपट्टाद् यथैव ।।

भीखनजी आपके अच्छे-अच्छे शिष्यों को अपना बना लेंगे और सामान्य शिष्यों को छोडकर आपके विशिष्ट साधुओं के बलबूते पर स्वयं विशिष्ट बन जायेंगे और आप देखते ही रह जायेंगे, जैसे श्रेष्ठीपुत्र के विवाह पर अत्यंत आग्रह पूर्वक तथा प्रेमपूर्वक लाए गए फकीर के शाही दुपट्टे से सेठ के पुत्र की शोभा तो बढ़ी पर फकीर यों ही ताकता रह गया।

१९३. एवं तत्तद्वचनरचनाचातुरीचञ्चुरत्वै-
श्चिन्ताचान्तो जयमलमुनिस्तत्सहायेऽन्यथाऽभूत् ।
ज्ञाते सत्येप्यहह वहनं दुर्लभं देहभाजां,
तस्मिन् कार्ये रघुगणपतिः कृत्यकृत्यो बभूव ।।

आचार्य रघुनाथजी की वाक्पटुता ने जयमल मुनि को चिन्ताक्रान्त बना डाला। अब वे मुनि भिक्षु को सहयोग देने में अन्यमनस्क हो गए। ठीक कहा है कि सत्य को जान लेने पर भी मनुष्य के लिए उसका वहन करना दुर्लभ हो जाता है। आचार्य जयमलजी के विचारों को मोडने के अपने लक्ष्य में आचार्य रघुनाथजी सफल हो गए।

१९४. स्वाऽसामर्थ्यप्रकटनपरः प्राह भिक्षुं जयादि-
राकण्ठाग्रं कलित इव सम्बुध्यमानोऽपि साक्षात् ।
नीरं तीरं निजनयनतो लोकमानोऽपि नागः,
किं निर्गन्तुं प्रभवति महापंकमग्नो विशेषात् ॥

जयमलजी ने अपनी असमर्थता प्रगट करते हुए मुनि भिक्षु से कहा—मैं सत्य को साक्षात् जानता हुआ भी परिस्थितियों के पंक में आकंठ निमग्न हूं। हाथी अपनी आंखों से पानी को भी देख रहा है और तट को भी देख रहा है। परंतु गहरे पंक में निमग्न होने के कारण 'नो नीरं नो तीरं' की उक्ति को चरितार्थ करता हुआ क्या वह बाहर निकल सकता है? क्या वह पानी को ही पा सकता है, या तीर को ही पा सकता है? (मेरी भी यही दशा है।)

१९५. धन्यः श्रीमानतिशयमनःशक्तिसम्पन्नशूर,
आगन्त्रीं यत्त्यजति तृणवत् सर्वसंघीयलक्ष्मीम् ।
आत्मार्थार्थिप्रमुखपदभाग् धीरताधारिधुर्य,
एवं दिष्ट्या विदलिततमः साधुतापालनोत्कः ॥

श्रीमन्! आप अतिशय मनोबली और शूर हैं। आप धन्य हैं कि आप आने वाली संघलक्ष्मी को तृण की भांति ठुकरा रहे हैं। आप आत्मार्थी व्यक्तियों में अग्रणी, धैर्य धारण करने वालों में प्रमुख हैं। आप पापों का दलन कर साधुता को पालने में उत्कंठित हो रहे हैं।

१९६. आशीर्वादार्पणमुखरितस्तद्विचारान् प्रकामं,
भूयो भूय स्तवनविषये सम्मदादाऽऽनयामि ।
शीघ्रं शीघ्रं नयतु नयनात् सच्चरित्रं पवित्रं,
पालं पालं भवतु भुवने जैनमार्गप्रकाशी ॥

आशीर्वाद देने के लिए मुखरित होते हुए जयमलजी बोले—'आर्य भिक्षु! मैं आपके विचारों की भूरि-भूरि प्रशंसा करता हूं और यही कामना करता हूं कि आप शीघ्र ही पावन सच्चरित्र को स्वीकार करें और उसका पालन करते हुए संसार में जैन धर्म को प्रकाशित करें।'

१९७. रघ्वाचार्यः सततममुनाऽसत्प्रकारैः प्रकामं,
बाधाःसंस्थापयितुमभितो यत्र तत्र प्रसक्तः ।
किन्त्वेषोप्यद्भुततरभटो मोक्षसाम्राज्यकामी,
तत्तत्कष्टैः सुरगिरिसमो नो मनाक् क्षोभमाप ॥

आचार्य रघुनाथजी विविध असत् प्रयत्नों से भिक्षु के मार्ग में बाधाएं उपस्थित करने में प्रयत्नशील रहे। किन्तु भिक्षु एक अद्भुत योद्धा थे। वे मोक्ष साम्राज्य को हस्तगत करने के इच्छुक थे। वे प्राप्त कष्टों से तनिक भी क्षुब्ध नहीं हुए और अपने स्वीकृत पथ पर मेरु पर्वत के समान अडिग रहे।

१९८. यथार्थोऽयं महाऽऽलोकः, सर्गेण विततो ध्रुवम् ।
फलं च व्यक्तिवैशिष्याद्, भवितृ प्रतिभानिभम् ॥

मैंने इस सर्ग में यथार्थ का महान् आलोक फैलाने का प्रयत्न किया है। इसका फल व्यक्ति विशेष तथा अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार ही मिलेगा।

श्रीनाभेयजिनेन्द्रकारमकरोद्धर्मप्रतिष्ठां पुनर्,
यः सत्यग्रहणाग्रही सहनयैराचार्यभिक्षुर्महान् ।
तत्सिद्धान्तरतेन चारुरचिते श्रीनत्थमल्लर्षिणा,
काव्ये श्रीमुनिभैक्षवेऽत्र नवमः सर्गो विशालोऽभवत् ॥

श्रीनत्थमल्लर्षिणा विरचिते श्रीभिक्षुमहाकाव्ये भिक्षोः रघुचार्यैः सह तत्त्वचर्चा, जयमलाचार्यैः सह विचारविनिमयस्तेषां सहयोगाश्वासनमित्येतत् प्रतिपादको नवमः सर्गः ।

दसवां सर्ग

प्रतिपाद्य : आचार्य रघुनाथजी के संघ से पृथक् होकर मुनि भिक्षु का १३ सन्तों के साथ केलवा (मेवाड) में आना, कुछ सन्तों के साथ अंधेरी ओरी में चातुर्मास करना तथा नई दीक्षा ग्रहण करना आदि।

श्लोक : ६०

छन्द : शार्दूलविक्रीडित

वर्ण्यम् :

मुनि भिक्षु बगडी नगर में वि० सं० १८१७ चैत्र शुक्ला ९ को स्थानकवासी संघ से पृथक् हो गए। उनकी क्रान्ति में साथ देने वाले विभिन्न गच्छों के १३ मुनि थे। इनमें मुनि थिरपालजी आदि पांच मुनि आचार्य रघुनाथजी के गच्छ के, छह मुनि जयमलजी के गच्छ के तथा दो मुनि अन्य गच्छ के थे। मुनि भिक्षु आदि पांच संत अंधेरी ओरी (केलवा) में चातुर्मास हेतु स्थित हुए और शेष मुनियों को भिन्न-भिन्न नगरों में चातुर्मास हेतु भेज दिया। सभी ने वि० सं० १८१७ आषाढी पूर्णिमा को नई दीक्षा ग्रहण की। यह क्रान्ति का प्रथम दिन था। केलवा में उनका प्रथम चातुर्मास हुआ। उस समय उनके साथ ये चार मुनि थे—मुनि टोकरजी, मुनि हरनाथजी, मनि भारिमलजी, मुनि वीरभाणजी।

दशमः सर्गः

१. श्रीमद्भिक्षुमुनीश्वरस्य मतिमानऽन्यायपक्षापहृत्,
क्रोधारण्यमहोग्रवह्निमुदिरो मोमुद्यमानः सदा ।
अन्तेवासिविनेयवारविनयी न्यायैकनिष्ठापर,
आसीच्छिष्यवरः प्रकाशमिहिरः[1] श्रीभारिमालो महान् ॥

उन भिक्षु महामुनीश्वर के मतिमान्, अन्यान्य पक्ष को दूर करने वाले, क्रोधारण्य की महान् उग्रवह्नि को शांत करने के लिए मेघतुल्य, सदा प्रसन्नचेता, अन्तेवासी शिष्य-समूह में अत्यधिक विनयवान्, न्यायनिष्ठ एवं प्रकाश करने के लिए सूर्य सदृश महान् भारीमालजी शिष्यों में प्रधान शिष्य थे ।

२. शिष्योऽभूद्दशवार्षिकः सजनको भिक्षोस्तथा सद्विधे-
रस्थाद् वर्षचतुष्टयं रघुगणे तेनैव सार्द्धं सदा ।
तं प्राहैकविचक्षणः क्षणविदुर्वीतस्पृहः स्पष्टवाग्,
भो भो शिष्य ! शरण्यसौधसुषमासौषम्यभाक्[2] त्वं शृणु ॥

भारीमालजी दस वर्ष की अवस्था में अपने पिता के साथ स्वामीजी के पास दीक्षित हुए एवं उनके साथ रघुगण में चार वर्ष तक रहे । विचक्षण समयज्ञ एवं निस्पृह स्वामीजी ने उन्हें स्पष्ट कहा—'हे शरण्यरूप सौध की सुषमा के सौन्दर्य शिष्य ! तुम सुनो ।'

३. दीक्षां पालयितुं क्षमो न जनकः कृष्णाभिधस्तावक-
स्तस्मान्नैव निनीषुरेतमधुना कस्ते विचारस्ततः ।
पित्राऽमा किमु वस्तुमिच्छसितरां किं वा मयाऽऽमोदतो,
भावाभिव्यजनं कुरुष्व सुतरां तुभ्यं यथा रोचते ॥

तुम्हारे पिता कृष्णोजी दीक्षा पालने के लिए समर्थ नहीं हैं, अतः मेरी इच्छा इनको साथ में ले जाने की नहीं है । इसमें तुम्हारा क्या विचार है ? क्या तुम पिता के साथ रहना चाहते हो या मेरे साथ ? जैसी तुम्हारी इच्छा हो वह स्पष्ट रूप से बताओ ।

---

१. मिहिरः—सूर्य (मिहिरो विरोचनः—अभि० २।११)
२. सौषम्यभाक्—सौन्दर्यभाक् ।

४. तेनोचे वयसा चतुर्दशसमा मानेन किन्त्वात्मिको-
द्रेकच्छेकविवेकसेकपुलकप्रोल्लासवर्षीयसा[१] ।
कार्यं किं जनकेन तेन विलसत्संसारसम्बन्धिना,
सम्बन्धाः खलु तादृशा इहभवे जाताः कियन्तो नहि ॥

शिष्य भारीमालजी केवल चौदह वर्ष के बालक ही थे, किन्तु विवेक के उत्कर्ष से वे वृद्ध थे। वे बोले—'भगवन् ! सांसारिक पिता से मेरा क्या सम्बन्ध, क्योंकि ऐसे सम्बन्ध इस संसार में कितने नहीं हो गए हैं ?'

५. त्राता सम्प्रति वर्त्तते मम महांस्तातस्त्वमेव प्रभो !,
स्थाताऽहं तव सन्निधौ शुभधिया सत्संयमं पालयन् ।
विश्वासोस्ति तथा त्रियोगकरणैस्ते सत्यसद्वृत्तितो,
योगो दुर्लभदुर्लभस्त्रिभुवने ह्यस्मादृशां त्वादृशाम् ॥

हे प्रभो ! आप ही मेरे त्राता एवं पिता हैं। मैं शुद्ध संयम का पालन करता हुआ आपके ही साथ रहना चाहता हूं, क्योंकि मुझे आपकी सत्प्रवृत्तियों पर त्रिकरणयोग से पूर्ण विश्वास है और मेरे जैसे व्यक्ति को आप जैसे योगी का सुयोग मिलना भी अत्यन्त दुर्लभ है।

६. तं कृष्णं स्फुटमभ्यधात् खलु ततो दीपाङ्गजोऽव्यङ्गत-
स्तादृक् सच्चरणोग्रभारवहने नो शक्तिमांस्त्वं तथा ।
तस्मात्त्वां न नयामि सार्द्धमहकं त्वत्तो न कार्यं मम,
योग्यायोग्यविचारणा हि रुचिरा नो शिष्यलिप्सा वरा ॥

तब स्वामीजी ने सहजरूप से कृष्णोजी से कहा—'कृष्णोजी ! तुम संयम के उग्र भार को वहन करने में समर्थ नहीं हो। अतः तुमको साथ ले जाने की मेरी इच्छा नहीं है और तुम्हारे से मेरा कोई कार्य भी नहीं है। संयमपथ में योग्य और अयोग्य की ही विचारणा श्रेयस्कर होती है, न कि शिष्यलिप्सा।

७. श्रुत्वेदं मुनिभारिमालसविता प्रत्यादिशद् दुर्मना,
नो नीयेत यदा तदा मम सुतो मह्यं ध्रुवं दीयताम् ।
सार्द्धं रक्षयिता मदीयतनयं मज्जीवनाजीवनम्,
दास्ये लातुममुं न कोटिकलया निश्चीयतां चेतसा ॥

१. वर्षीयस्—अत्यन्त वृद्ध (अभि० ३।४)

स्वामीजी के ये वचन सुनकर विमनस्क होते हुए कृष्णोजी बोले—'यदि आप मुझे साथ में रखना नहीं चाहते तो मेरे पुत्र को मुझे सौंप दीजिए। मेरे जीवन के आधारभूत मेरे पुत्र को किसी भी प्रकार से आपको अपने साथ ले जाने नहीं दूंगा, यह आप निश्चित मानें।'

८. प्रोचे भिक्षुरथोत्तरं प्रशमवान् यस्ते स्थितो नन्दन,
आगच्छेन्न निवारयामि बलतो नो संयमः सद्यमः ।
संसृत्याशु ततः स्वयं स्वकसुतं सङ्गृह्य हस्तेन तं,
कृष्णः कार्ण्यकलाकलापकलितः स्थानान्तरं चाश्वयत् ॥

तब स्वामीजी ने शांतचित्त से अपनी अंगुली से इशारा करते हुए कहा—'यह बैठा तुम्हारा पुत्र। यदि वह तुम्हारे साथ आना चाहता हो तो मैं क्यों मना करूं, क्योंकि जबरदस्ती से संयम एवं सद्यमों की आराधना नहीं हो सकती। यह सुनते ही कृष्णोजी शीघ्र ही अपने पुत्र को हाथ से पकडकर साथ में ले, मुंह को बिगाडते हुए, अन्यत्र कहीं चले गये।

९. आत्मार्थी परमार्थसार्थसहितोऽसौ भारिमालस्तत-
स्तातं बोधयितुं विबोधरहितं बुद्धया विशालोऽवदत् ।
कृत्वा मोहमपार्थकं मयि महाखेदाभिभूतो भवान्,
कल्याणोद्यतनन्दनाय किमहो संजायते बाधकः ॥

तब आत्मार्थी, परमार्थ की भावना से ओतप्रोत और उदार बालमुनि भारीमालजी अपने बोधशून्य पिता को प्रतिबोध देते हुए बोले—'आप मेरे पर व्यर्थ मोह कर क्यों अत्यन्त खिन्न हो रहे हैं? आप कल्याण के लिए उद्यत पुत्र की कल्याण भावना में क्यों बाधक बन रहे हैं?'

१०. गृह्णाम्येतमभिग्रहं गुरुगुरुं दीक्षार्पणं पण्डितं,
यावज्जीवमहं त्वदीयकरतो भोक्ष्येन्नपानं नहि ।
सञ्जाते दिवसद्वयेऽन्नसलिलैः शून्ये तथाऽपि व्रतात्,
किञ्चिन्मात्रमितस्ततो न चलितो देवाद्रिवद्दीपनः ॥

'मैं दीक्षा की प्राप्ति कराने वाले इस सशक्त और महान् अभिग्रह को स्वीकार करता हूं कि मैं यावज्जीवन आपके हाथ से आहार-पानी नहीं करूंगा। इस अभिग्रह के पश्चात् अन्न-पानी के बिना दो दिन बीत जाने पर भी बालमुनि अपनी प्रतिज्ञा से किंचित् भी इधर-उधर नहीं हुए, मेरु पर्वत की भांति अडोल रहे।'

११. वप्ताऽऽलोक्य तपोवशान्मुकुलितं वक्त्रं तदीयं ततो,
नीत्वा तं समुपागमन् मुकुलयन् व्यानञ्ज भावान्निजान् ।
त्वत्तोऽसावतिरञ्जितो हि भवता सङ्गृह्यतां सादर-
माहारो लघु कार्यतां प्रणयतः संरक्ष्यतां दीक्ष्यताम् ॥

तब कृष्णोजी तपस्या से अपने पुत्र का मुख मुरझाया हुआ देख, उसको साथ लेकर स्वामीजी के पास आकर बोले—'मुनिप्रवर ! यह बाल-मुनि आपमें अतिरंजित है, अतः आप ही इसको ग्रहण करें, शीघ्र ही इसको आहार करायें, प्रेम से इसका संरक्षण करें और दीक्षित करें ।'

१२. यावन्नाद्रियते भवान्नवगुणं तीव्रैषणं संयमं,
कोदण्डोत्तमदण्डवद्रिपुचमूमालक्ष्य लक्ष्यान्वितम् ।
कारुण्याङ्कुरकन्दवृन्दविलसत्कादम्बिनी[1]केलिभृत्,
तावत्सेतुनिबन्धनं प्रणयतां तूर्णं ममापीप्सितम् ॥

हे भिक्षो ! आप करुणा से परिपूर्ण हैं । आप करुणा के अंकुरों को विकसित करने के लिए मेघमाला के समान हैं । जैसे योद्धा शत्रुसेना पर विजय पाने के लिए धनुष्य को धारण करता है, वैसे ही आप अपने लक्ष्य को प्राप्त कराने वाले, तीव्र एषणा से प्राप्त नए गुणवाले संयम को धारण करें । इससे पूर्व मेरे जीवन की सुरक्षा के लिए आप यथेष्ट सेतुबंध की शीघ्र ही व्यवस्था करें ।

१३. भिक्षुस्तज्जयमल्लगच्छपतयेऽदात् तं तदा शिष्यवत्,
सोऽवक् कीदृशबुद्धिमानयमहो त्रैगेह्यवर्द्धापकः ।
शिष्याप्त्या मुदितोहमेष सुतरां कृष्णोऽपि संस्थानतो,
दैपेयो[2] निजकच्चरापगमनात् त्रीनेवमानन्दकः ॥

तब भिक्षु ने कृष्णोजी को गच्छपति जयमलजी को शिष्य रूप में सौंप दिया । जयमलजी बोले—'अहो ! तीन घरों में वर्धापन करने वाले भीखणजी कितने बुद्धिमान् हैं ! मैं तो शिष्य की प्राप्ति से, कृष्णोजी स्थान-प्राप्ति से और भीखनजी कचरे के समान कृष्णोजी के अपनयन से—हम तीनों प्रसन्न हो गए ।'

१४. बालोयं मुनिमण्डलीषु ललितो लावण्यलीलालयः,
स्वर्णाभः किलकष्टकोटिनिकषोत्तीर्णप्रवीणप्रभः ।
तज्जातोतिशयाच्चरित्रपतिहृत्सच्चुम्बकाकर्षकः,
सोप्येको हि परीक्षको भुवि नृणां तं रत्नवज्जगृहे ॥

---

१. कादम्बिनी—मेघमाला (कादम्बिनी मेघमाला—अभि० २।७९)
२. दैपेयः—मां दीपां का पुत्र मुनि भिक्षु ।

बालमुनि भारीमालजी मुनिमण्डली में ललित, लावण्य लीलाघर के समान थे। वे अनेक कष्टों की कसौटियों से उत्तीर्ण स्वर्ण की आभा को प्राप्त थे। उन्होंने अपने अतिशय विनय आदि गुणों से चारित्रपति मुनि भिक्षु के हृदय को चुम्बक के समान आकर्षित किया। मुनि भिक्षु भी संसार में मनुष्यों की परीक्षा करने में प्रवीण एक उत्तम परीक्षक थे। अतः उन्होंने बालमुनि को रत्न की तरह ग्रहण कर लिया।

१५. ते पञ्चाऽपि पुरातनास्तदपरा अष्टर्षयः सङ्गता,
एवं सम्मिलितास्त्रयोदशसमे सन्तो नवं दीक्षितुम्।
तन्नामानि यथाक्रमं श्रुतिवशादेतानि वेद्यानि च,
पूर्व्यः श्रीस्थिरपालजीः खलु फतेचन्द्रस्तदीयाङ्गजः॥

१६. श्रीभिक्षुमुनिटोकरो हरपुरोनाथस्ततः श्रीमहान्,
भारीमालविभुश्च सप्तम इहाऽसौ वीरभाणोऽभवत्।
लक्ष्मीचन्द्रऋषिस्ततो बखतयुग्रामो गुलाबाह्वयो,
ह्यन्यो भारमलश्च रूपपुरतश्चन्द्रोऽन्तिमः प्रेमजीः॥

१७. पञ्चैतेषु रघोर्जयस्य ननु षड् द्वावन्यगच्छस्य च,
सर्वेमी मिलितास्त्रयोदशवराः सन्तो लसन्तो हृदा।
श्रीभिक्षुं वृषसार्वभौममिव ते मत्वा ससत्त्वास्तदा,
क्षोणीशा इव भक्तितो ह्यनुरताः संसेवमाना ध्रुवम्॥ (त्रिभिर्विशेषकम्)

मुनि भिक्षु के साथ पांच मुनि तो पहले से ही थे और आठ अन्य मुनि उनके साथ सम्मिलित होकर नई दीक्षा स्वीकार करने के लिए तत्पर हुए। उनके क्रमशः नाम ये हैं—

१. मुनि थिरपाल
२. मुनि फतेहचंद
३. मुनि भिक्षु
४. मुनि टोकर
५. मुनि हरनाथ
६. मुनि भारीमाल
७. मुनि वीरभाण
८. मुनि लक्ष्मीचंद
९. मुनि बखतराम
१०. मुनि गुलाब
११. नुनि भारीमाल (द्वितीय)
१२. मुनि रूपचंद
१३. मुनि प्रेमजी।

इन साधुओं में से पांच साधु तो रघुनाथजी के गच्छ के, छह साधु जयमलजी के तथा दो साधु अन्य गच्छ के थे। उल्लसित हृदय वाले ये सभी तेरह साधु मानो स्वामीजी की आज्ञा का वैसे ही आराधन करने लगे जैसे सार्वभौम—चक्रवर्ती की आज्ञा का अन्य राजा आराधन करते हैं।

१८. प्रत्यग्रं[1] व्रतशेवधिं[2] शिवफलं नेतुं प्रचेतुं परं,
तस्योच्चैर्विजयध्वजे विलसिते मन्त्राय चैकत्रिताः ।
ते हर्षेण परस्परं प्रथमतः सैद्धान्तिकीं तात्त्विकीं,
चर्चां चारुतरां विचित्रविषयां चक्रुः पुनर्मेनिरे ।।

मोक्षफलदात्री नवीन व्रतरूप निधि को प्राप्त करने के लिए एवं गृहीत व्रत की पुष्टी के लिए स्वामीजी के उच्च विजयीध्वज के नीचे मन्त्रणा करने के लिए सभी सन्त एकत्रित हुए और अत्यन्त उल्लास से सबसे पहले सैद्धान्तिक व तात्त्विक विषयों की सुन्दर चर्चाएं कीं और स्वामीजी ने जो निर्णय दिया उसको सभी सन्तों ने स्वीकार कर लिया ।

१९. चर्च्याः केपि रहोमयाः सुविषयाः सम्पर्चिताश्चर्चिताः,
केचित् किन्त्ववशिष्टतां परिगता अत्यल्पतः केचन ।
आयाते निकटे महोत्कटघटे वर्षागमे शोभने,
प्रत्येकं स्वभिमन्त्र्य भिक्षुमुनिना मन्त्रोपमं व्याहृतम् ।।

कुछेक रहस्यमय विषयों पर गंभीर चर्चाएं हुईं, कुछ चर्चाएं अवशिष्ट रह गईं और कुछेक विषयों पर थोडी चर्चाएं चलीं । जब उत्कट घटा को धारण करने वाला वर्षाकाल निकट आ गया तब सन्तों को एकत्रित कर स्वामीजी ने मंत्र की भांति सार-संक्षेप में कहा—

२०. उत्तीर्णे च घनाघनागमऋतावस्मिन् पुनः शान्तितः,
शेषांस्तान् विषयान् विचर्चितुमहो यत्नेप्सवो ये वयम् ।
श्रद्धा सम्मिलिता भविष्यति मिथः सम्भोगिनस्तैः समं,
नो चेत्तैर्मिलनं कदापि न कुतो ह्येषोऽस्ति नो निर्णयः ।।

'श्रमणवृन्द ! (यह वर्षावास आ गया है, अतः चतुर्मास के लिए कुछ मुनियों को अन्यत्र जाना पड़ेगा) परन्तु चतुर्मास पूर्ण होने के बाद हम पुनः मिलेंगे और अवशिष्ट विषयों पर शांति से चर्चा करने का प्रयत्न करेंगे तथा जिन-जिन मुनियों के विचार एक होंगे, श्रद्धा एक होगी, उनके साथ ही हमारा संभोज होगा और जिनकी श्रद्धा नहीं मिलेगी इनके साथ हमारा सांभोजिक व्यवहार नहीं रहेगा, यह मेरा अटल निर्णय है ।'

---

१. प्रत्यग्रम्—नवीन (प्रत्यग्रं नूतननूतने—अभि० ६।८४)
२. शेवधिः—निधि (कुनाभिः शेवधिर्निधिः—अभि० २।१०६)

२१. आषाढे सितपूर्णिमासुदिवसे दीक्षा नवीना वरा,
धार्याऽर्हत्प्रभुसाक्षितो निजनिजोद्धाराय वैराग्यतः ।
इत्थं तानभिधाय धीरिमधिया सम्बोध्य सम्बोध्य च,
वर्षावासकृते पृथक् खलु पृथक् सम्प्रेषयामासिवान् ॥

'श्रमणो ! आषाढ शुक्ला पूर्णिमा को अरिहंत प्रभु की साक्षी से तथा पूर्ण वैराग्य से अपने-अपने आत्मकल्याण के लिए नवीन दीक्षा स्वीकार कर लेना'—यह कहकर स्वामीजी ने उन सन्तों को धैर्यपूर्वक संबोधित किया और सबको चतुर्मास के लिए पृथक्-पृथक् भेज दिया ।

२२. सोऽपि स्राक् समुपागमत् स्वयमभिग्रामान् पुरान् संस्पृशन्,
मेवाडाख्यसुमण्डलं मरुधरात् सम्मण्डयामासिवान् ।
षष्ठात् सद्गुणमन्दिरात् गुणपदात् साधुर्यथा सप्तमं,
शान्त्याऽलंकुरुते क्रियासु कुशलः सर्वप्रमादान् जयन् ॥

स्वयं स्वामीजी ने भी मार्ग में आए हुए ग्राम-नगरों का स्पर्श करते हुए मारवाड़ से मेवाड़ देश को वैसे ही अलंकृत किया जैसे क्रिया में कुशल एवं सभी प्रमादों पर विजय पाने वाला मुनि छठे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान को अलंकृत करता है ।

२३. नानानिम्नसमुन्नताऽवट[1]वटाघट्टोद्भटासङ्कटा,
नानानीरदसन्निवासनिपुणा नीवृत्समारक्षिका ।
नानासुन्दरमन्दिरोच्चशिखरैरभ्रंलिहा सध्वजै-
र्नानाकन्दरिकन्दरा बहुदरा सम्प्राप्तवीरादरा ।

२४. नानानिर्झरझर्झराद्भुतरवा नानासरित्सज्जला,
नानाकुञ्जनिकुञ्जकूजितखगानानाद्रुमासत्फला ।
माद्यन्मञ्जिममञ्जरीमुकुलयन्माकन्दमालाकुला,
फुल्लोत्फुल्ललतावितानललिता पुष्पोत्तरा पुष्पिता ॥

२५. क्रीडत्केकि[2]सुकीर[3]कोकिलकलैः कर्णप्रियाऽकुण्ठिता,
ऽनेकैश्चित्रविचित्रदृश्यनिकरैरानन्ददा नेत्रयोः ।
मद्याऽमन्दसुगन्धबन्धुरसुमैर्घ्राणेन्द्रियोत्तर्पणा,
माकन्दादिमरन्दवृन्दरसिकां रस्नां[4] सृजन्ती स्वयम् ॥

१. अवटः—गढा (गर्तश्वभ्रावटागाधदरास्तु विवरे भुवः—अभि० ५।७)
२. केकी—मयूर (केकी तु सर्पभुक्····—अभि० ४।३८५)
३. कीरः—तोता (कीरस्तु शुको रक्ततुण्डः—अभि० ४।४०१)
४. रस्ना—जिह्वा (अभि० ३।२४९)

२६. मन्दामन्दचलत्समीरलहरी स्पर्शेन्द्रियाह्लादिका,
दिव्यादर्शविमर्शसारसुधया पुंसां मनोमोदिनीम् ।
क्वापि क्वापि भयावहा वनचरैः शार्दूलसिंहादिभि-
र्दुर्गैर्दुर्गमना घनाघनघना भ्रष्टाम्बरा चोत्पथा ॥

२७. क्वाप्याखेटकजालिकालिजटिला लुण्टाकलब्धालया,
क्वापि श्रेष्ठविशिष्टयौगिकयुता सन्न्यासिवर्गाश्रिता ।
नानावर्णविराजितोत्तमबृहच्छैलांशशय्यान्विता,
दृष्टा पर्वतमालिका ह्यरवली नाम्ना जगद्विश्रुता ॥

मेवाड में प्रवेश करते ही स्वामीजी ने विश्वविश्रुत अरावली पर्वतमाला को देखा। वह नाना प्रकार की ऊंची-नीची भूमि वाली थी। उसके गढों में बहुत वटवृक्ष थे। वह घाटों से उद्भट एवं संकीर्ण तथा विविध जलस्रोतों से परिपूर्ण थी। वह देश की रक्षा करने वाली तथा ऊंचे-ऊंचे सुन्दर मन्दिरों के सध्वज शिखरों से आकाश को छूने वाली थी। वह विविध पर्वत-कन्दराओं से युक्त तथा अत्यन्त भय उपजाने वाली और वीर पुरुषों द्वारा सम्मानित थी।

वह अनेक निर्झरों के कलकलरव से युक्त, विविध सरिताओं के निर्मल जल वाली, विविध कुञ्ज-निकुञ्जों में पक्षियों के चहचहाट से गुञ्जित तथा विविध द्रुमों एवं फलों वाली थी। वह मादकता को प्राप्त सुन्दर मञ्जरियों के मुकुलों युक्त माकन्दमालाओं से आकुल तथा फूले हुए लतासमूहों से ललित एवं प्रधान पुष्पों से पुष्पित थी।

वहां मयूर, शुक, कोयल आदि पक्षी क्रीडा करते थे। उनके मधुर शब्दों की प्रतिध्वनि से वह पर्वतमाला कर्णप्रिय और अकुंठित थी। वह अनेक चित्र-विचित्र दृश्यों से नेत्रों को आनन्दप्रद, विकस्कर एवं अमन्द सुन्दर सुगन्धित फूलों से घ्राणेन्द्रिय को तर्पण करने वाली और जिह्वा को आम्र आदि के रसों से रसिक बनाने वाली थी।

वह वायु की मंद-मंद लहरों से स्पर्शनेन्द्रिय को आह्लादित करने वाली, दर्शक के मन में उत्तम आदर्शयुक्त विचारों के अमृत को उत्पन्न कर प्रमुदित करने वाली, कहीं-कहीं शार्दूल, सिंह आदि वनचरों से भयानक, कष्ट से गमनयोग्य दुर्गवाली, मेघों से आच्छन्न, अत्यधिक कण्टकाकीर्ण होने के कारण वस्त्रों को फाडने वाली तथा उत्पथ मार्ग वाली थी।

वह घाटी कहीं-कहीं शिकार खेलने वालों एवं जाल बिछाने वालों से जटिल तथा लुण्टाकों को आश्रय देने वाली थी। वह कहीं-कहीं श्रेष्ठ योगियों एवं संन्यासी वर्गों से आश्रित थी। वह नाना वर्ण एवं उत्तम बृहत् शैल चट्टानों की शय्या से युक्त थी।

२८. श्रीहिन्दूकुलसूर्य इत्युपपदैः प्रख्यातिप्राप्तो महा-
राणावीरशिरोमणिः सविजयः सिंहः प्रतापादिमः ।
मेवाडाधिपतिः प्रतापतपनः सन्तापितारिव्रजो,
दृष्ट्वा तां सहसैतिहासिकनरः स्मृत्यागमे शक्यते ॥

उस अरावली पर्वतमाला को देखकर सहसा उस ऐतिहासिक पुरुष, महान् ख्यातिप्राप्त, वीर शिरोमणी, मेवाडाधिपति, महाराणा प्रतापसिंह की स्मृति हो आती है जो 'हिन्दुकुलसूर्य' की उपाधि से युक्त, तेजस्विता के एकमात्र सूर्य तथा शत्रुओं को संतापित करने वाला था ।

२९. यो रक्षेन्निजधर्ममुत्तमतमं तं रक्षयेदीश्वर,
इत्युद्दिश्य विशिष्य चेतनबलं सामन्तसेनाबलम् ।
स्वातन्त्र्योद्भववैभवातिरसिकः स्वात्माभिमानोन्नतो,
म्लेच्छोन्मूलनमूलमन्त्रमहितश्चाजन्मवीरव्रती ॥

३०. धर्माधःपतितैः परानपि तथा कुर्वद्भिरूर्जस्वलैः,
साहिश्रीमदकब्बरादिमचमूचन्द्रैर्लसच्छ्यालकैः ।
मानैरन्यसजातिमानमथकैरातिथ्यताऽनेहसि,
नो भुक्तं न मतं च हिन्दुरविणा तेन स्वधर्मार्थिना ॥ (युग्मम्)

जो अपने उत्तम धर्म की रक्षा करता है, उसकी रक्षा ईश्वर करता है—इस उद्देश्य से अपने सामंतबल, सैन्यबल एवं चेतनबल को दृढ कर, स्वतन्त्रता से उद्भूत संपदा के रसिक, स्वाभिमान से उन्नत तथा म्लेच्छों के उन्मूलन के मूलमंत्र से विख्यात एवं आजन्म वीरव्रत के धारक—

उस हिन्दुकुल के सूर्य प्रतापसिंह ने उस मानसिंह के साथ आतिथ्य के समय में भी न तो उसके साथ भोजन किया और न उसको सन्मान ही दिया । वह मानसिंह स्वयं धर्म से पतित और दूसरों को भी धर्मच्युत करने वाला था । वह ओजस्वी राजा अकबरशाह का मुख्य सेनानी और साला था । वह सजातीय क्षत्रियों के मान को मथित करने वाला था ।

३१. तन्नुन्नः[1] प्रतिलब्धचारुसमयो व्युद्ग्राहितक्षत्रिय-
श्चान्तःक्ष्वेड[2]बहिर्महामधुरया नीत्या स दील्लीश्वरः ।
तं दासीप्रचिकीर्षुरुद्भटभटः कर्तुं कलङ्कान्वितं,
क्रुद्धस्तेन सहातिभीषणरणं प्रारब्धवान् प्रौढिमान्[3] ॥

---

१. नुन्नः—प्रेरित (नुन्ननुत्तास्त···क्षिप्तमीरितम्—अभि० ६।११८)
२. क्ष्वेडः—विष (विषः क्ष्वेडः—अभि० ४।२६१)
३. प्रौढिमान्—उत्साहित (अभियोगोद्यमौ प्रौढिः—अभि० २।२१४)

उस अपमानित मानसिंह द्वारा प्रेरित, सुन्दर अवसर को पाकर अन्त:करण में विष एवं ऊपर महामधुर नीति द्वारा उस उत्साही दिल्लीश्वर ने क्षत्रियों को बहका कर उद्‌भट भट महाराणा प्रतापसिंह को अपना दास बनाने और उसे कलंकित करने के लिए कुपित होकर उसके साथ महान् भीषण युद्ध प्रारंभ कर दिया।

३२. दृष्ट्वा कोशबलैर्बलिष्ठमतुलं शस्त्रास्त्रसंवाहनै-
र्म्लेच्छानामधिनायकं तदपि नो क्षोभं गतो राणकः।
स्मृत्वा भारतरामरावणरणं निर्णीतवान्निर्णयी,
चान्ते सत्यसमुन्नतो हि विजयः सत्यं हि सारं बलम् ॥

म्लेच्छों के अधिपति अकबरशाह को कोशबल, सेनाबल, शस्त्रास्त्रबल एवं वाहनबल से अत्यन्त समृद्ध देखकर महाराणा किञ्चित् भी क्षुब्ध नहीं हुए। उन्होंने महाभारत एवं राम-रावण के युद्ध की स्मृति कर यह निर्णय किया कि अन्त में सत्य की ही महान् विजय होती है और सत्य ही सार है, बल है।

३३. धर्मं ध्वंसयितुं सतीः स्खलयितुं चार्याननार्यायितुं,
जीवं जीवकरेण[1] संव्यथयितुं हिन्द्वाख्यया मानवान्।
सर्वान् सर्वमतानुगश्छलयितुं सञ्जायमानः सदा,
वैधर्म्योद्‌धुरकन्धरं न सहते तं चन्द्रहासो मम ॥

धर्म को ध्वंस करने के लिए, सतियों को मार्गच्युत करने के लिए, आर्यों को अनार्य करने के लिए, हिन्दु नामधारी मानवों को जजियाकर से व्यथित करने के लिए एवं सर्व मतों के अनुयायी बनकर सबको छलने के लिए तत्पर एवं वैधर्म्य से ऊंचे कंधों के धारक ऐसे अकबर को यह मेरा चन्द्रहास (तलवार) कभी सहन नहीं कर सकता।

३४. सोप्योजस्विमनाः स्वधर्मबहलो[2] वीराग्रणीर्विक्रम-
श्चञ्चच्चञ्चलचन्द्रहासचपलो भल्लैर्महोद्‌भासुरः।
कुर्वन् स प्रससार शौर्यसमरे निर्वीरमुर्वीतलं,
किं कर्त्तव्यविमूढतां प्रतिगतो यस्मात् स्वयं शत्रुराट् ॥

---

१. जजियाकर।

२. बहलः—सघन, दृढ (नीरन्ध्रं बहलं दृढम्—अभि० ६।८३)

महान् ओजस्वी और मनस्वी, अपने धर्म में अप्रकम्प, वीरों में अग्रणी, पराक्रमी, चमकते हुए चंचल चन्द्रहास से चपल एवं भालों से सुशोभित राणा शौर्य-समर में पृथ्वी को वीरों से शून्य करता हुआ चारों ओर इस प्रकार फैल गया कि स्वयं अकबर भी किंकर्त्तव्यविमूढ हो उठा।

३५. निष्ठां क्षत्रियदेशसंस्कृतिलसत्स्वातन्त्र्यमन्त्रावने,
तस्यैक्ष्याखिलसैनिकाः खलु पुनः प्रोत्साहमात्मेशितुः।
तद्वत् ते द्विगुणायिताश्चकमिरे योद्धुं च युद्धाङ्गणे,
सामन्ता विकटा भटाः प्रतिभटान् जित्वा गताः कृत्यताम्॥

राणा की अखिल सेना क्षत्रियों की, देश की, संस्कृति की एवं स्वातन्त्र्य के मन्त्र की रक्षा के लिए अपने स्वामी की निष्ठा एवं उत्साह को देखकर राणा की तरह द्विगुणित उत्साह से जाग उठी और वह रणभूमि में कूद पडी। राणा के सामन्त एवं शूरवीर भट उन शत्रुभटों को खदेडकर, जीतकर कृतकृत्य हो गए।

३६. दैवात्तत्कलिकालकेलिकलनाद्राज्ये हृते शत्रुणा,
ह्येतस्यां च तदा नरेन्द्रनिकरैर्विष्वक् समावेष्टितः।
दोर्दण्डैर्दलयन् द्विषो प्रतिहतो दोधूयमानो ध्वजं,
नित्यं केसरिसिंहवत् तत इतो बम्भ्रम्यमाणो बली॥

दैवयोग से एवं कलिकाल की क्रीडा के प्रभाव से जिनका राज्य शत्रुओं द्वारा अपहृत हो जाने पर तथा वहां चारों ओर से राजाओं से घिर जाने पर भी वह वीर अपने भुजदण्डों से शत्रुओं को हत-प्रतिहत करता हुआ एवं अपने विजयध्वज को फहराता हुआ राणा प्रतापसिंह प्रतिदिन केसरी सिंह की भांति वहां निःशंक घूमता रहा।

३७. एतत्पर्वतपङ्क्तिकासु परितः प्रत्यर्थिभूपावृतः,
कोटाकोटिकठोरघोरघटनासङ्घाटसङ्घट्टितः।
वीरा वीरगतिं गताश्च बहुशः सामन्तसन्मण्डली,
देशत्यागमृते न शक्तिरपरा सैन्यं च दैन्यं गतम्॥

इधर तो यह वीर इस पर्वतमाला में शत्रु राजाओं से घिरा हुआ था तथा अनेकानेक भयङ्कर कष्टों को झेल रहा था तो उधर उसके वीर सुभट एवं सामन्त भी वीरगति को प्राप्त हो चुके थे तथा सेना भी साधनों के अभाव में दीन बन चुकी थी। ऐसी स्थिति में देशत्याग के सिवाय और कोई दूसरा चारा नहीं था, दूसरी शक्ति नहीं थी।

३८. उल्लोचो[1]ऽम्बतलं तदाऽनिलचलत्पर्णावलीचामराः,
शय्या घासमयी त्वचोपसिचयः[2] सिंहासनं भूतलम् ।
सेनावीररसोच्छलत्स्वतनुषां रोमावलिः प्रोत्कटा,
साहाय्याश्च वनेचरा शुभसभा चोपत्यकाऽधित्यका[3] ॥

ऐसी अवस्था में राणा के केवल खुला आकाश ही चंदोवा, हवा से हिलने वाली वृक्षपर्णावलि ही चामर, घासमयी शय्या, त्वचारूप ही कपड़े, भूतल ही सिंहासन एवं वीररस से उछलती हुई अपने शरीर की रोमावली ही उत्कट सेना, वनचर ही सहायक तथा उपत्यका और अधित्यका ही शुभ सभा-स्थल था ।

३९. द्रव्यं दिव्यमनस्विता कुशलता सम्पत् सदा सामरी,
श्रेष्ठर्द्धिः परमेश्वरी परकृपा वेलैव शस्त्रास्त्रकम् ।
स्वायत्त्यं हि सुखं समुच्चशिखरं सन्मन्दिरं कन्दरम्,
सामग्री तनुशेषता निविडता सज्जीवनी जीवनी ॥

उनके पास मनोबल ही धन, रणकुशलता ही सम्पत्, परमेश्वर की कृपा ही श्रेष्ठ ऋद्धि, अवसर ही शस्त्रास्त्र, स्वतन्त्रता ही सुख तथा ऊंचे-ऊंचे शिखरों वाली गुफाएं ही प्रासाद, शरीर की अवशेषता ही सामग्री तथा मजबूती ही संजीवनी बूंटी थी ।

४०. राज्ञीभी रचितं ह्यपूपसवशात् त्र्यह्नोपवासाकुल-
बालातोऽपजहार तं च सहसा वन्यौतुना दुर्लभम् ।
तादृग् दुर्घटनास्थलेपि न नतो यल्लोकधर्मादपि,
प्रान्ते न्यायसखो बभूव विजयी न्यायः सहायो महान् ॥

उन पर्वतमालाओं में रानी द्वारा बनाई रोटी को तीन दिन की भूखी बाला के हाथ से वन-बिलाव ने छीन लिया और उसका पुनः मिलना भी दुर्लभ हो गया । ऐसे दुर्घटनास्थल में भी वे अपने लौकिक धर्म से किञ्चित् भी विचलित नहीं हुए । वे अन्त में न्याय-सखा के सहारे विजयी बन गए । क्योंकि न्याय ही महान् सहायभूत होता है ।

---

१. उल्लोचः—चन्दोवा (उल्लोचो वितानं कदकोऽपि च—अभि० ३।३४५)
२. सिचयः—वस्त्र (सिचयो वसनं चीराच्छादो—अभि० ३।३३०)
३. उपत्यका—पर्वत की ऊपरी भूमि } अधित्यकोर्ध्वभूमिः स्यादधोभूमि-
अधित्यका—पर्वत की तलहटी } रुपत्यका (अभि० ४।४०१)

४१. सोप्येवं किल लोकधर्ममवितुं कीदृग् दृढोऽभूत् तत,
एषोऽहं तु महोदयाक्षरमहासाम्राज्यलक्ष्मीच्छुकः ।
यल्लोकोत्तरसुकृतं भवभवे जैनं सनत्सौख्यदं,
तत् त्रातुं न भवामि किं परिषहान् सोढुं समग्राग्रणीः ॥

भिक्षु ने सोचा—वे राणाप्रताप अपने लोकधर्म की रक्षा के लिए कितने दृढ रहे, फिर मैं तो मोक्षरूप साम्राज्य लक्ष्मी का इच्छुक हूं इसलिए भव-भव में शाश्वत सुख देने वाले लोकोत्तर जैनधर्म की रक्षा के लिए क्या परीषहों—कष्टों को सहन करने के लिए मैं अग्रणी न बनूं ?

४२. एतद्विश्वजनीन[1]पीननिरघं[2] श्रीजैनधर्मं मुदा,
गोप्तुं गोप इवावदातसुमनो वाङ्काययोगान्वितः ।
सज्जोहं प्रबुभूषुरेष सुतरामाजन्म जैनं जगत्,
सूर्याचन्द्रमसाविवोत्तमपदा प्रद्योतितुं श्रेयसे ॥

मैं इस विश्व हितकारी, पुष्ट और पवित्र जैनधर्म की शुभ मन-वचन और काया से रक्षा करने के लिए गोप की भांति जीवन पर्यन्त निरंतर सावधान रहूंगा और कल्याण के लिए इस धर्म को सूर्यचन्द्र की तरह प्रद्योतित करने के लिए तत्पर रहूंगा ।

४३. एवं धैर्यमशेषसाधनवरं सन्धाय संवर्ध्य च,
क्षोणीमण्डलमौलिमण्डनमणिं मेवाडमाचक्रमे ।
धर्मोद्धारधुरन्धरो दृढमतिः प्रौल्लासयन् सन्मतं,
लातुं लोलुपतां गतोऽतिललितो दीक्षां वरां नूतनाम् ॥

इस प्रकार मुनि भिक्षु समस्त साधनों में श्रेष्ठ साधन धैर्य का अनुसंधान और संवर्धन कर आगे बढे और भारतभूमि के मौलिमणि तुल्य मेवाड में आए । वे धर्म का उद्धार करने के लिए कटिबद्ध, दृढ विचारों से युक्त और सन्मार्ग को प्रोल्लसित करने वाले थे । वे वहां नूतन दीक्षा ग्रहण करने के लिए अति लालायित हो उठे ।

४४. तत्राऽऽसीद् बहुपर्वतैः परिवृतं देवालयोन्मण्डितै-
र्मद्यन्मानसमानमर्दनमदैः पद्माकरैः विस्तृतम् ।
रम्यारामरमामनोरमरमं वाप्यादिभिर्वल्लभ-
मुद्यानैस्तरुगुच्छगुल्मकुसुमक्रीडानिकुञ्जैः परम् ॥

१. विश्वजनीन—लोकहितकारी ।
२. निरघः—पवित्र, पापरहित ।

मेवाड देश के अन्तर्गत 'केलवा' नाम का नगर था। वह देवालयों से मण्डित, अनेक पर्वतों से परिवृत, मदभरे मानसरोवर के मान को मर्दन करने वाले सरोवरों से व्याप्त, रमणीय बगीचों की शोभा से मनोरम, अनेक दीर्घिकाओं (वापियों) से सुन्दर तथा तरु, गुच्छ, गुल्म, कुसुम तथा क्रीडा-निकुञ्जों वाले उद्यानों से परिपूर्ण था।

४५. चातुर्वर्ण्यसुवर्णवर्णितसदः सौधोपसौधोद्धुरं,
गुण्यागण्यसपण्यपुण्यविपणेः पङ्क्त्या च पर्युल्लसत्।
लीलालालितलोकनीयललनालोकैश्च लीलायितं,
लक्ष्म्या लोकललामलक्ष्यविलुभल्लक्ष्मीश्वरोल्लोलितम्॥

४६. जैनैर्जैनपरैर्मुदा निजनिजानुष्ठाननिष्णातकैः,
सत्साहित्यसुधारसैः प्रकलितं कालिन्दिका[1]कोविदैः।
श्रीमन्मोक्खमसिंहतत्पुरपतिप्राप्तप्रतिष्ठापरं,
योग्यं तत् कपिलाभिधं[2] पुरवरं सोऽलङ्चकार क्रमात्॥ [युग्मम्]

इस नगर में चारों वर्णों के लोगों के घर थे। वहां राजघराने के बडे प्रासाद और अन्यान्य धनिकों के हर्म्य थे। वह बाजार की श्रेणी से शोभित था जहां अगण्य श्रेष्ठ वस्तुएं प्राप्त होती थीं। वह नगर लीलाकलित दर्शनीय ललनाओं तथा लोगों से शोभित तथा लक्ष्मीवान् व्यक्तियों से ललाम और अपने लक्ष्य में तल्लीन रहने वाले श्रीमन्तों से युक्त था।

वहां जैन और अजैन लोग अपने-अपने धार्मिक अनुष्ठानों में निष्णात थे। वह नगर सत्साहित्य सुधारस के रसिक और कलिन्दिका-पंडितों से व्याप्त था। वह नगर ठाकुर मोखमसिंहजी द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त था। मुनि भिक्षु ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए उस केलवा नगर में पधारे।

४७. चातुर्मासकृतेऽथ राजनगरं यातुर्महामेघतो,
मार्गाऽभाववशादिहैव समगाद् भिक्षुः पुनर्यत्नतः।
प्रागेवात्रविरोधिनिर्मितमहाद्वेषप्रचारो यतः,
स्थानं नैव ददाति कोपि मुनये जाता समस्या परा।

---

१. कालिन्दिका—जिसमें आन्वीक्षिकी आदि सब विद्याओं का वर्णन हो, वह (कलिन्दिका सर्वविद्या····—अभि० २।१७२)

२. केलवा नगर।

मुनि भिक्षु राजनगर चातुर्मास करने के लिए प्रस्थित हुए। वर्षा की अधिकता के कारण सारे मार्ग अवरुद्ध हो गए। वे वहां नहीं पहुंच सके। वे केलवा में ही रह गए। विरोधी लोगों ने उनके विरुद्ध सारे गांव में द्वेष का वातावरण पहले से ही निर्मित कर रखा था। उन्हें चातुर्मास के लिए कोई भी स्थान देने के लिए तैयार नहीं हुआ। बडी समस्या पैदा हो गई।

४८. भैरोजीः शुभशोभजीजनयिता तद्दत्तशिष्ट्या द्रुतं,
बाह्ये तन्नगराद्दिनेपि धवले पुंसां भयोत्पादिनी।
श्रीचन्द्रप्रभमन्दिरस्य निकटे चान्धेरिका ह्यौरिका[१],
तत्र स्थाद्विमलाशयो जितभयो मोक्षैकबद्धस्पृहः॥

श्रावक शोभजी के पिता भैरांजी ने आचार्य भिक्षु को एक स्थान की ओर निर्देश दिया। वह स्थान नगर के बाह्य भाग में स्थित श्री चन्द्रप्रभु स्वामी के मन्दिर के निकट था। उसमें एक कोठरी थी, जिसको 'अंधेरी ओरी' कहा जाता था। वह स्थान दिन में भी लोगों को भयावह लगता था। मोक्षाभिमुख और अभय की साधना में रत भिक्षु प्रसन्न मन से वहां स्थित हो गए।

४९. श्रीमद्वीरजिनेश्वरस्य विलसन्निर्वाणराशौ यदा,
कल्पोक्तेर्द्विसहस्रवार्षिकमितो भस्मग्रहः संस्थितः।
तस्माच्छ्रीपरमेश्वरश्रमणसन्निर्ग्रन्थवाचंयम-
पूजा भाविनि भावतोऽत्र समये प्रोदीय[२]वोदीय च॥

कल्पसूत्र के अनुसार भगवान के निर्वाणराशि पर दो हजार वर्ष का भस्मग्रह लगा, इसलिए भविष्य में इस भरतक्षेत्र में भगवान के श्रमण निर्ग्रन्थों की उदय-उदय भाव पूजा होगी, कभी पूजा होगी और कभी नहीं।

५०. निर्वाणाद् द्विशतैकपूर्वनवतिं प्रादिर्वरारूपणा।
तत्पश्चात् भ[९]भ[९]राग[६]भूमि[१]शरदोऽशुद्धा च बाहुल्यतः।
अर्थात् तद्द्वयमेलनान् नभ[०]भ[९]भ[९]क्षोणी[१]समासम्भवो।
लग्नस्तत्र च धूमकेतुरनला[३]नेहो[३]गुणा[३]ब्दैर्मितः॥

भगवान के निर्वाण से २९१ वर्ष पर्यन्त शुद्ध प्ररूपणा रही। इसके बाद १६९९ वर्षों तक बहुलता से अशुद्ध प्ररूपणा रही। इस प्रकार दोनों के संकलन से (१६९९+२९१) १९९० वर्ष हुए। उस समय ३३३ वर्षों का धूमकेतु ग्रह लगा।

१. अंधेरी ओरी।
२. ईङ्च गतौ इति धातोः रूपम्।

५१. भू[१]तापा[३]शुग[५]चन्द्र[१]विक्रमसमामानेनलुङ्कोद्भवः,
साहस्रद्वयहायनान्तसमये भस्मग्रहोऽवातरत् ।
तन्मेलः प्रभुवीरमुक्तिगमनाद् व्योमा[०]श्व[७]वर्णा[४]ब्दकं,
नान्दीवर्द्धनवत्सरः प्रचलितस्तद्बङ्कचूलीयतः ॥

विक्रम संवत् १५३१ में लुंका मेहता प्रकट हुआ। अब इधर २००० वर्ष का भस्मग्रह समाप्त हुआ। इसका मेल इस प्रकार करना चाहिए— बङ्कचूलिका ग्रन्थ के अनुसार वीर निर्वाण के वाद ४७० वर्ष तक नन्दीवर्धन का सम्वत् चला।

५२. पश्चाद् विक्रमहायनः प्रसृतवान् वीरादिनामावनात्,
तस्याकाश[०]कृशानु[३]बाण[५]वसुधा[१]संख्यामिते संवति ।
वर्षाणि द्विसहस्रकाणि समगुस्तेभ्यो दशाब्दाहृते,
तत्र क्रूरिमधूमकेतुरलगत्तच्छैशवात्तस्य च ॥

५३. शक्त्यल्पत्ववशात् तदा प्रकटितोऽमात्यश्च लुङ्काह्वय-
स्तेनाऽकारि निरूपणातिविशदा जैनेन्द्रमार्गानुगा ।
नो भीतो भयदैः प्रगाढशिथिलैर्नानोग्रकष्टप्रदै-
स्तद्द्वाविंशतिसंप्रदाय उदितो प्राणार्पणात्तेन च ॥

(युग्मम्)

उसके बाद विक्रम सम्वत् प्रचलित हुआ। विक्रम संवत् के १५३० वर्ष तक २००० वर्ष का भस्मग्रह पूर्ण हुआ और २००० वर्ष में दस वर्ष शेष रहे तब धूमकेतु लगा। उस समय धूमकेतु शिशु था। उसकी शक्ति अल्प थी, अतः उस समय लुंका का प्रादुर्भाव हुआ और उसने जिनेन्द्रमार्ग के अनुसार शुद्ध प्ररूपणा की तथा नाना प्रकार के भय दिखाने वाले तथा प्रगाढ कष्ट देने वाले शिथिलाचारियों से वह किञ्चित् भी भयभीत नहीं हुआ। लुंका से ही बावीस सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ।

५४. सा शुद्धा समुपस्थिता व्यवहृतेः पट्टद्वयं विश्रुता,
वृद्धे तस्य बले बलात् पुनरसज्जाता प्रवृत्तिर्बहु ।
अश्वा[७]ङ्गे[८]क्षण[२]बाहु[२]वत्सरमिते स्वीयप्रभावादिह,
प्रायः क्षीणबलो दशां च दशमीमैद्धूमकेतुस्ततः ॥

व्यवहारदृष्टि से दो आचार्यों तक वह शुद्ध प्ररूपणा चली। इस ओर उस धूमकेतु का बल बढने से अशुद्ध प्ररूपणा और भी बलवती हो उठी। वीरनिर्वाण के २२८७ वर्षों के बाद धूमकेतु अपने प्रभाव से प्रायः क्षीणबल एवं दशमी दशा को प्राप्त हो गया।

५५. द्वीपो[र्वी] [वसु] [कौमुदीप्रियतमे][1] संवत्सरे वैक्रमे,
आषाढे शुचि[1] पूर्णिमोत्तमदिने शुद्धातिशुद्धाशयैः ।
आदायानुमतिं तदा भगवतां साक्ष्या च सिद्धप्रभोः,
प्रत्याख्याय समस्तपापपटलं दीक्षां ललौ मङ्गलाम् ।

अतः विक्रम सम्वत् १८१७ में आषाढ शुक्ला पूर्णिमा को स्वामीजी ने अत्यन्त निर्मल भावों से, भगवान की आज्ञा एवं सिद्ध भगवान की साक्षी से, समस्त सावद्य योगों का त्याग कर मङ्गलमय भागवती नूतन दीक्षा ग्रहण की ।

५६. आस्तां श्रीस्थिरपालजीर्मुनिफतेचन्द्रश्च वृद्धौ तत-
स्तस्मात्तौ नवसंयमेपि च तथा संरक्षितौ स्वामिना ।
एतत्तद्विशदत्वनिर्ममसुखौदार्यादिसंसूचकं,
नो चेत् स स्वयमेव तत्र भवितुं शक्यः समस्ताद् बृहत् ।।

जिस समय स्वामीजी स्थानकवासी सम्प्रदाय में थे उस समय मुनिश्री स्थिरपालजी एवं फतेहचन्दजी—ये दो सन्त दीक्षा-पर्याय में बडे थे । इसलिए नई दीक्षा के समय में भी उनको ही बडा रखा । यह स्वामीजी की विशद नीति, निर्ममत्व एवं औदार्यादिक का परिचायक था । अन्यथा स्वामीजी स्वयं ही सबसे बडे हो सकते थे ।

५७. टोकर्जीर्हरनाथजीर्मुनिवरौ श्रीभारिमालोपि च,
सार्द्धं संयममुज्ज्वलं ललुरमी चाऽऽजन्मसंस्थायिनः ।
दुःखे चाथ सुखे समानमनसः पूर्णात्मविश्वासिनो,
माणिक्यत्रयसन्निभाः सहृदयाश्चैते त्रयोपि क्षितौ ।।

दुःख-सुख में समान मन वाले, पूर्ण आत्मविश्वास रखने वाले तथा सहृदय मुनिश्री टोकरजी, हरनाथजी एवं श्री भारीमालजी—ये तीनों मुनि तीन रत्न के समान थे तथा ये स्वामीजी के साथ ही दीक्षित हुए एवं आजन्म साथ में ही रहे ।

५८. सद्यः संयमसारभारवहनाद् योऽभूत् स्वयं भासुरो,
हर्षो हर्षितमानसामरगुरोर्वाचां विचारोर्ध्वगः ।
श्रीमद्भिक्षुमुनीश्वरैः शुशुभिरे सर्वेपि वाचंयमा,
आकाशेन समाश्रिता भृतविभा वा[2] रोहिणीतारकाः ।।

१. शुचिः—आषाढ मास (आषाढः शुचिः स्याद्—अभि० २।६८)
२. वा—इवार्थे ।

श्रेष्ठ संयम को ग्रहण करने से स्वामीजी स्वयं देदीप्यमान हो गए। उस समय के हर्ष का वर्णन करना हर्षित मन वाले बृहस्पति के लिए भी वचनातीत था। स्वामीजी द्वारा सन्त भी वैसे ही सुशोभित होने लगे जैसे आकाश में विभास्वर रोहिणी के तारे।

५९. अद्यानन्दमयं दिनं समुदितं ह्यद्यैव भाग्योदयो,
ह्यद्यैवोत्फलितः क्षयोपशमतः कल्याणकल्पद्रुमः।
अद्यैवाभ्युदयो भवार्णवभयान्निस्तीर्णवन्तो वयं,
सन्तस्ते सकला मुहुर्मुहुरहो संलापवन्तो मिथः।

नई दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् समस्त सन्त बार-बार परस्पर में हर्षोल्लास व्यक्त करते हुए कहने लगे—अहो! आज ही आनन्द का सूर्य उदित हुआ है, आज ही भाग्य का उदय हुआ है, आज ही क्षयोपशम का सत्कल्याणमय कल्पवृक्ष फलित हुआ है, आज ही अभ्युदय हुआ है और आज ही इस भवार्णव के भय से हम पार हुए हैं।

६०. मनसि वचसि काये योगयोगावतारो,
वहति वहति नित्यं सत्यशीलप्रवाहः।
प्रतिपदपुरुषार्थश्चित्रचारित्रवृत्तिः
लसति लसति तेषां साधुमुद्राप्रसत्तिः॥

अब मुनि भिक्षु नये संगठन के प्रमुख बन गये। उनमें महान् योगी की भांति मानसिक, वाचिक और कायिक स्थिरता थी। वे सदा सत्य और शील का वहन करते रहे और पग-पग पर पुरुषार्थ से चारित्र को प्रदीप्त करते रहे। उनकी साधु-मुद्रा अत्यन्त प्रसन्न और प्रशस्त थी।

श्रीनाभेयजिनेन्द्रकारमकरोद् धर्मप्रतिष्ठा पुनर्-
यः सत्याग्रहणाग्रही सहनयैराचार्यभिक्षुर्महान्।
तत्सिद्धान्तरतेन चारुरचिते श्रीनत्थमल्लर्षिणा,
काव्ये श्रीमुनिभैक्षवेऽत्र दशमः सर्गोऽभवत् सुन्दरः।

श्रीनत्थमल्लर्षिणा विरचिते श्रीभिक्षुमहाकाव्ये भिक्षोः त्रयोदशमुनिभिः साधं रघुसम्प्रदायात् पृथग्भवनं, केलवाग्रामे नवदीक्षाग्रहणमित्येतत् प्रतिपादको दशमः सर्गः

समाप्तोऽयं प्रथमखण्डः

काव्यकार मुनि नत्थमलजी

जन्म-स्थल—बागोर (मेवाड़)
जन्म—वि० सं० १९५९ वैशाख शुक्ला १३
दीक्षा—वि० सं० १९७२ माघ शुक्ला १४
पाली में तेरापंथ के अष्टमाचार्य
श्री कालूगणी के करकमलों से।
समाधिमरण—वि० सं० २०४३ चैत्र शुक्ला १४
सुजानगढ़ में।

मुनि श्री नत्थमलजी तेरापंथ धर्मसंघ के वरिष्ट संत, संस्कृत-प्राकृत आदि प्राच्य विद्याओं के ज्ञाता, भारतीय दर्शन एवं न्यायशास्त्र के विद्वान्, जैन वाङ्मय और तेरापंथ दर्शन के मर्मज्ञ, आगम तथा अर्हत् वाणी के प्रति समर्पित साधक थे। वे दुबले-पतले शरीर एवं साधारण वेशभूषा में रहने वाले तथा अपने विचारों के प्रति प्रतिबद्ध मुनि थे। व्यवहार कुशलता, विनम्रता और उदारता उनके विरल गुण थे।

आचार्य भिक्षु थे—

* तेरापंथ के अधिष्ठाता
* अर्हत् वाणी के प्रति समर्पित
* विशुद्ध चारित्र के अनुपालक
* लक्ष्य के प्रति अविचल
* अहंकार और ममकार से विप्रकृष्ट
* सत्यजिज्ञासु और सत्यसंधित्सु